स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

॥ भाग्वती नः सुधिया यमन्करत् ॥

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

MAPS-09
अन्तर्राष्ट्रीय विधि

प्रथम खण्ड	:	अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अवधारणा
द्वितीय खण्ड	:	शांति की विधि- I
तृतीय खण्ड	:	शांति की विधि- II
चतुर्थ खण्ड	:	युद्ध के नियम
पंचम खण्ड	:	तटस्थता विधि

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद-211013
www.uprtouallahabad.org.in

1

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अवधारणा

इकाई- 1 5

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ प्रकृति एवं क्षेत्र

इकाई- 2 30

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्त्रोत तथा अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय विधि के बीच संबंध

इकाई- 3 55

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

परिमापक

प्रो0 जी0 के0 चन्दानी	लखनऊ विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस0 एम0 सईद	अवकाश प्राप्त प्रो0 लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक

प्रो0 आर0 एस0 तोमर	काशी विद्यापीठ, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से Mk-vkj-d-ik.M;
कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, 2017
end¼pUndyk ;fuoly ik0fy0] 42@7 tokgj yky ug: jkM] bykgkckn

खण्ड-1 : खण्ड परिचय - अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अवधारणा

साधारण शब्दों में, प्रभुसंपन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों को नियंत्रित करने वाले नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि कहा जाता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि राज्यों के आचरण को नियंत्रित करने के साथ ही व्यक्तियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं व संगठनों के अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा किया जाता है। विश्व शान्ति को स्थापित करने और छोटे-छोटे राज्यों को भी अपना अस्तित्व बनाए रखने तथा उन्हें स्वतंत्र रूप से अपना विकास करने का अवसर उपलब्ध कराने में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की महत्वपूर्ण भूमिका है। यद्यपि वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के महत्व को नकारा नहीं जा सकता लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ, उसकी प्रकृति, उसकी प्रभावशीलता तथा उपयोगिता को लेकर अनेक प्रश्न और विवाद खड़े हो गए हैं। वैसे तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उद्देश्य राज्यों के पारस्परिक संबंधों को संचालित एवं नियंत्रित करना है लेकिन राज्य मनुष्यों से ही बनता है इसलिए राज्य के साथ ही व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बन जाता है। प्रभुसंपन्न होने के कारण, राज्य अपने आन्तरिक तथा बाह्य मामलों में स्वतंत्र होते हैं और प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों के लिए अलग-अलग कानून बनाता है जिन्हें राष्ट्रीयविधि या नागरिक विधि कहा जाता है। राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बीच क्या संबंध है और अन्तर्राष्ट्रीय विधियों को किस प्रकार और किस सीमा तक लागू किया जा सकता है, इन विषयों पर विचारकों में मतैक्य नहीं है। फिर भी कोई भी व्यक्ति या राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अपरिहायर्ता से इंकार नहीं कर सकता।

प्रस्तुत खण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के परिचयात्मक पक्षों पर प्रकाश डाला जाएगा।

इस खण्ड की इकाई 1 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ, उसकी प्रकृति तथा क्षेत्र का विवेचन किया जाएगा और इनके विषय में प्रमुख विधिवेत्ताओं के दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत क्या हैं और ये अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के बीच मूल अन्तर क्या है, इनके पारस्परिक संबंध और इनके पालन किए जाने के कारणों का विवेचन इकाई 2 में किया जाएगा।

इकाई -1 : अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ, प्रकृति तथा क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय विधि की प्रकृति

1.4 अन्तर्राष्ट्रीय विधि व राष्ट्रीय विधि में अन्तर

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय विधि का क्षेत्र

1.6 सारांश

1.7 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1.8 सम्बन्धित प्रश्न

1.0 उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय विधि नियमों का वह समूह है जिसके द्वारा राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों का नियमन किया जाता है। इस कारण विश्व-स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के परिचयात्मक पक्षों की चर्चा की गयी है। इसका अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ प्रकृति तथा क्षेत्र का विवेचन कर सकेंगे।
- अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रीय विधि के बीच विभेद कर सकेंगे।
- अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दुर्बलताओं का परीक्षण कर सकेंगे और
- इस बात को सुनिश्चित कर सकेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि है या नहीं

1.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा प्रभुसम्पन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों को

निर्धारित एवं नियंत्रित किया जाता है। जहाँ एक ओर राष्ट्रीय विधियों का निर्माण स्वयं राज्यों द्वारा किया जाता है और एक राज्य में रहने वाले व्यक्ति उन कानूनों को मानने के लिए बाध्य होते हैं वहीं अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं होती। राष्ट्रीय विधियों को राज्य द्वारा बलपूर्वक लागू किया जाता है और इसका उल्लंघन करने वाले को दण्ड दिया जाता है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन कराने के लिए प्रत्यक्ष रूप से बल का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इनके पीछे नैतिक बल होता है और राज्य स्वेच्छा से इनका पालन करते हैं। राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बीच इन विभेदों के कारण कुछ विचारक अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि ही नहीं मानते। यह भी उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के तीव्र विकास के फलस्वरूप राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बीच का पारंपरिक अन्तर व्यावहारिक रूप से बहुत कम होता दिखाई दे रहा है। उदाहरण के लिए वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल राज्यों के पारस्परिक संबंधों को ही नियंत्रित नहीं करता वरन वह विभिन्न देशों में रहने वाले व्यक्तियों के आचरण को भी प्रभावित करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पास दण्ड देने की शक्ति भले ही न हो किन्तु वह आर्थिक प्रतिबन्धों आदि के द्वारा किसी राज्य पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करने के लिए दबाव डाल सकती है।

उपर्युक्त बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा, उसकी प्रकृति तथा क्षेत्र का विशद रूप से विवेचन किया जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्या है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के बीच क्या अन्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का क्यों पालन किया जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय विधि को दुर्बल विधि क्यों कहा जाता है, ऐसे विविध प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत इकाई में दिया जाएगा।

1.2 अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीय विधि को आरम्भ में राष्ट्रों की विधि कहा जाता था लेकिन राष्ट्रों के मध्य परस्पर सम्बन्धों को नियमित करने वाले नियमों को राष्ट्रों की विधि कहना भ्रामक लगता था। इस कारण सर्वप्रथम बैंथम ने सन्

1789 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि शब्द का प्रयोग किया, तभी से यह नाम प्रचलित है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को एक ऐसी विधि के रूप में माना जाता है, जो राष्ट्रों में पारस्परिक सम्बन्धों को विनियमित करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा के सम्बन्ध में सभी विद्वान एक मत नहीं है। इस सम्बन्ध में प्राचीन व आधुनिक लेखकों में अन्तर है। प्राचीन लेखकों ने तर्क और न्याय पर बल दिया है तो आधुनिक लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर। दोनों प्रकार के लेखकों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

सर हेनरी मेन – राष्ट्रों का कानून एक जटिल पद्धति हैं जिसमें अनेक तत्वों का समावेश है। ये तत्व हैं-अधिकार और न्याय के। वे सामान्य सिद्धान्त जो प्राकृतिक समन्याय (Equity) की दशा में रहने वाले व्यक्तियों के आचरण तथा राष्ट्रों के सम्बन्धों और आचरण के लिए समान रूप से उपयुक्त हों, प्रथाओं तथा रूढ़ियों या आचारों और विधि-शास्त्रियों की सम्मतियों का संग्रह, सभ्यता और व्यापार का विकास, निश्चित कानून की संहिता।''

हॉल - ''अन्तर्राष्ट्रीय कानून आचरण के उन कतिपय नियमों में निहित है जिन्हें वर्तमान सभ्य राष्ट्र एक दूसरे के साथ व्यवहार में ऐसी शक्ति के साथ बाधित रूप से पालन करने योग्य समझते हैं जिस शक्ति के साथ सद्विवेकी कर्त्तव्य परायण व्यक्ति अपने देश के कानूनों का पालन करते हैं और यह भी मानते हैं कि यदि उन नियमों का उल्लंघन किया गया तो उपयुक्त साधनों द्वारा उन्हें लागू किया जा सकता है।''

ह्यूज - '' अन्तर्राष्ट्रीय कानून क्या है? यह सिद्धान्तों एवं नियमों का निकाय हैं जिसे सभ्य राष्ट्र अपने पारस्परिक सम्बन्धों में अपने ऊपर बन्धकारी समझते हैं। यह सम्प्रभु राज्यों की सहमति पर आधारित हैं।''

उपर्युक्त लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सभ्य राष्ट्रों के आचरण को नियमित करने वाला कानून बताया है। उनके अनुसार इससे सम्प्रभु राज्यों के अधिकार व कर्त्तव्यों का सृजन होता है।

आधुनिक परिभाषा - आधुनिक लेखकों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा निम्न प्रकार की गयी है-

ओपेनहीम - "राष्ट्रों की विधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन रुढ़िजन्य तथा परम्परागत नियमों के समूह को कहते हैं जिन्हें सभ्य राज्य अपने पारस्परिक व्यवहारों में बन्धनकारी मानते हैं।"

ओपेन हीम की इस परिभाषा की यह आलोचना की जाती है कि इसमें केवल राज्यों को शामिल किया गया है जबकि आज अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों व संस्थाओं को भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय वस्तु माना जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा व्यक्तियों को अधिकार व कर्त्तव्य प्रदान किये गये। इन्हें इसमें शामिल नहीं किया गया है। इस परिभाषा में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को केवल रूढ़ियों व परम्परागत नियमों का समूह माना गया है जबकि कई नियम सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्यता प्राप्त विधि के सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

ओपेनहीम ने यह परिभाषा सन् 1955 में अपनी पुस्तक 'इंटरनेशनल लॉ' में दी थी लेकिन इसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि में हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप नवें संस्करण में पूर्व की परिभाषा में परिवर्तन करते हुए नई परिभाषा दी। इस परिभाषा के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय विधि नियमों का वह समूह है जो राज्यों के एक दूसरे के साथ पारस्परिक सम्बन्धों में विधिक रूप से बाध्यकारी है। यह नियम प्राथमिक रूप से राज्यों के सम्बन्धों को नियंत्रित करते हैं, परन्तु राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें तथा कुछ हद तक व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा प्रदत्त किये गये अधिकार व कर्त्तव्यों के विषय हो सकते हैं।

ओपेनहीम की यह परिभाषा पूर्व की परिभाषा से अधिक व्यापक है लेकिन इसमें भी यह कमी है कि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों व व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों को इन पर बाध्यकारी नहीं माना।

स्टार्क - अन्तर्राष्ट्रीय विधि, नियमों का वह समूह है अधिकांश भाग उन सिद्धान्तों व नियमों से बना है जिनका अनुपालन करने के लिए राज्य

अपने आपको बाध्य अनुभव करते हैं। अतः वे अपने पारस्परिक सम्बन्धों में इनका पालन करते हैं। इसमें निम्नलिखित नियम भी सम्मिलित हैं- (क) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा संगठनों की कार्यप्रणाली एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा राज्यों एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों के नियम (ख) कुछ वैधानिक नियम जो व्यक्तियों तथा गैर राज्य इकाइयों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में सम्बन्धित हैं।''

स्वार्जन बर्जर - ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन विधिक नियमों का समूह है, जो प्रभुत्व सम्पन्न राज्यों तथा ऐसी इकाइयों पर लागू होता है जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त है।

जे0 एल0 ब्राइटली - ''राष्ट्रों की विधि या अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमों तथा कार्यरूप में आने वाले सिद्धान्तों का समूह है जो सभ्य राष्ट्रों से पारस्परिक सम्बन्धों में बाध्यकारी होते हैं।

फेनविक - ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा विस्तृत शब्दों में, सामान्य सिद्धान्तों व विनिर्दिष्ट नियमों के समूह द्वारा की जा सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर बन्धनकारी होते हैं।''

अनेक महत्वपूर्ण विवादों में भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषायें स्पष्ट हुई हैं जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं :-

फ्रैंकोनिया विवाद-सन् 1976 में मुख्य न्यायाधीश लॉर्ड कॉलरिज ने कहा था कि ''राष्ट्रों का कानून उन रूढ़ियों अथवा परम्पराओं का समूह है जिनको सभ्य राज्यों ने एक दूसरे के प्रति व्यवहारों में मानना स्वीकार कर लिया है।''

एस0 एस0 लोटस विवाद - सन् 1927 में फ्रांस व टर्की के बीच हुए इस विवाद में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा था- ''अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अभिप्राय उन सिद्धान्तों से हैं जो सभी स्वतंत्र राज्यों के बीच प्रवर्तित है।''

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सोवियत परिभाषा -सोवियत परिभाषा के

अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रों के पारस्परिक संघर्ष तथा सहयोग जिससे राज्यों के शासन करने वाले वर्ग की इच्छा अभिव्यक्त होती है; तथा जिसे राज्यों द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक दबाव द्वारा प्राप्त किया जाता है, को नियंत्रित करने वाले नियमों का कुल समूह है।" स्टालिन की मृत्यु के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सोवियत परिभाषा में संशोधन करके इसमें 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के तत्व को जोड़ दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की चीनी परिभाषा - यह सोवियत परिभाषा से मिलती जुलती है। चीनी विधि विशेषज्ञों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मुख्य निम्नलिखित तीन तत्व हैं-

(क) यह शासक वर्ग की इच्छा अभिव्यक्ति है। (ख) यह सामाजिक सम्बन्धों को नियंत्रित करने वाले नियमों का कुल समूह है एवम् (ग) इसमें प्रवर्तन तत्व भी विद्यमान हैं।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चीनी दृष्टिकोण से केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उचित परिभाषा - अन्तर्राष्ट्रीय विधि सदैव से गतिशील रही है। परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार इसमें नियमों और सिद्धान्तों का निरन्तर विकास होता रहा है। पिछले कुछ दशकों से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। जैसा प्रो० फ्रीडमेन ने लिखा है- "आयतन तथा क्षेत्र दोनों में ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं तथा करारों का कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ है। आज अन्तर्राष्ट्रीय विधि विभिन्न तथा महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित है जैसे मानवीय अधिकार, शान्ति, मानवता के विरुद्ध अपराध, आणविक शक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय निमंत्रण, व्यापार संगठन, श्रम अभिसमय, यातायात तथा स्वास्थ्य नियमों पर नियंत्रण। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि इन क्षेत्रों में बाध्यकारी है। परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि यह सब अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वैध विषय हैं।" इन विभिन्न परिवर्तनों के कारण यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की एक उचित व उपयुक्त परिभाषा हो। इस सम्बन्ध में एडवर्ड कोलिन्स की परिभाषा उचित है कि "अन्तर्राष्ट्रीय कानून निरन्तर विकसित होने वाले नियमों का ऐसा समूह है जो अन्तर्राष्ट्रीय

समुदाय के सदस्य सामान्यतः अपने पारस्परिक सम्बन्धों में लागू करते हैं। ये नियम राज्यों और कुछ कम हद तक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों तथा व्यक्तियों को अधिकार एवं उत्तरदायित्व प्रदान करते हैं।'' निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि निरन्तर विकसित होने वाले नियमों तथा सिद्धान्तों का एक समूह है जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियंत्रित करते हैं।

1.3 अन्तर्राष्ट्रीय विधि की प्रकृति

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वरूप को समझने के लिए हमें इस प्रश्न पर विचार करना अनिवार्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तव में विधि है या नहीं? राज्यों की सम्प्रभुता में एकलवादी दृष्टिकोण के प्रतिपादक परम्परागत विधि विशेषताओं के विचार से अन्तर्राष्ट्रीय विधि की कोई सत्ता नहीं है, जबकि आधुनिक-विचारकों व विधिशास्त्रियों के मत में अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तव में कानून है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि सच्चे अर्थों में विधि है या नहीं - अन्तर्राष्ट्रीय विधि सच्चे अर्थों में विधि है या नहीं इस सम्बन्ध में दो प्रकार के विचार हैं। एक विचार जो यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि नहीं है, यह आचरण के नियमों की एक नैतिक संहिता है। इस मत के अलावा दूसरा मत है, जो यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सच्चे अर्थों में विधि है। अतः यह उपयुक्त होगा कि हम दोनों मतों को प्रस्तुत करते हुए वास्तविकता के निकट पहुँचे।

(क) अन्तर्राष्ट्रीय विधि विरोधी विचार (Concept against International law) अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि न मानने वाले विद्वानों में प्रमुख हैं- कॉलरिज आस्टिन, हालैण्ड, हॉब्स, प्यूकेन उर्फ तथा बैंथम आदि। ये विधिशास्त्री विधि को विध्यात्मक विधि (Positive law) के रूप में मानते हैं। अर्थात् विधि के नियम हैं जो समाज के राजनैतिक श्रेष्ठ अथवा संप्रभु द्वारा समाज के पालन हेतु बनाये जाते हैं। नियमों के न पालन करने पर दंड की व्यवस्था है। आस्टिन के अनुसार विधि सम्प्रभु का समादेश है। संप्रभु समाज का राजनैतिक

श्रेष्ठ होता है जो अपने अधीनस्थ के लिए विधि (समादेश) जारी करता है, जिसका पालन करना अनिवार्य है न पालन करने पर अनुशास्ति है अथवा दंड है। अन्तराष्ट्रीय विधि में सभी राष्ट्र समान हैं। कोई राजनैतिक श्रेष्ठ न होने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि कहना उचित नहीं है। यह केवल अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता है।

(1) **कॉलरिज** - अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वास्तविक विधि न मानने वालों में लॉर्ड कॉलरिज का नाम उल्लेखनीय है। प्रीवी कौंसिल के लॉर्ड चीफ जस्टिस कॉलरिज ने फ्रैंकोनियां विवाद में निर्णय देते हुए कहा था कि "सच्ची बात तो यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक अयथार्थ शब्द है। यदि इसकी यथार्थता पर ध्यान दिया जाये तो इससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कानून से यह सूचित होता है कि कोई कानून बनाने वाला है और इस कानून को लागू करने वाला तथा उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने वाला कोई न्यायालय है। लेकिन सम्प्रभु राज्यों के लिए कोई विधान निर्माता नहीं और न ही न्यायालय को यह अधिकार है कि वह राज्यों को अपने आदेशों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन के लिए बाध्य कर सके और इस कानून की अवहेलना करने वाले राज्य को दण्डित कर सके। राष्ट्रों का कानून उन प्रथाओं का ऐसा समूह है कि जिनको सभ्य राज्यों ने एक-दूसरे के प्रति अपने व्यवहार में मानना स्वीकार कर लिया है।

इस प्रकार कॉलरिज ने अपने निर्णय में यह स्पष्ट किया है कि कानून वही है जिसे कोई बनाता है, लागू करता है और उल्लंघन करने पर न्यायालय दण्डित करता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन शर्तों का अभाव है। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि सच्चे अर्थों में विधि नहीं है

(2) **आस्टिन** - अन्तर्राष्ट्रीय विधि को वास्तव में विधि न मानने वाले द्वितीय विद्वान आस्टिन हैं। आस्टिन के अनुसार कानून शब्द का प्रयोग केवल ऐसे नियमों के लिए ही किया जा सकता है जिनको विधि निर्मात्री संस्था द्वारा बनाया गया हो तथा जिसे बल प्रयोग द्वारा लागू किया जा सकता हो। अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर यदि दृष्टि से

विचार किया जाय तो उसे कानून नहीं कहा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे केवल नैतिक शक्ति है। इसका पालन केवल राज्यों की सामान्य स्वीकृति पर आधारित है।

(3) **हालैण्ड** - आस्टिन के अनुयायी हालैण्ड ने भी अर्न्तराष्ट्रीय विधि को विधि नहीं माना। हालैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि का तिरोधान बिन्दु कहा है। International is a vanishing point of jummodern उनका कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विधिशास्त्र का अंग नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे पहले ही विधि शास्त्र की सीमायें समाप्त हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल कुछ नैतिक नियमों का संग्रह मात्र है।

उपर्युक्त विद्वानों के इस मत के समर्थक अन्य विद्वान भी हैं। इनमें हॉब्स, बैंथम, प्यूफेनडार्फ और जेम्स ब्राउन हैं। जेम्स ब्राउन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि अभी निर्माण प्रक्रिया में है। यह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही है। हाब्स और प्यूफेनडार्फ के अनुसार राष्ट्रों के बीच वास्तविक और वैध बल से सज्जित कोई अधिरचित विधि, श्रेष्ठ के आदेश की भाँति बाध्यकर नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि न मानने वाले विधि शास्त्रियों के मुख्य तर्क निम्न हैं-

1. राज्य विधि में एक केन्द्रीय सम्प्रभु शक्ति होती है, जो नियमों का प्रतिपादन करती है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ऐसी शक्ति का अभाव है। अर्थात् इसमें कोई केन्द्रीय विधायी संस्था नहीं है।
2. राज्य विधि में विधि के पालन को सुनिश्चित कराने के लिए कार्यपालिका होती है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पालन को सुनिश्चित करा सके।
3. राज्य विधि को पालन करने के लिए बाध्यकारी शक्ति होती है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे इस प्रकार की कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है जो राज्यों को इसका पालन करने के लिए बाध्य कर सके।

4. राज्य विधि की व्याख्या करने के लिए तथा न्यायिक निर्णय हेतु न्यायालय होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्याख्या करने तथा न्यायिक निर्णय हेतु कोई संस्था नहीं है। अतः इसके उल्लंघन किये जाने पर सही निर्णय नहीं हो पाता है। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे के लिए है लेकिन इसका अधिकार क्षेत्र सीमित है। जिसके कारण यह सभी विवादों का निपटारा नहीं कर सकता।

5. विश्व के राष्ट्र अपने सीमित राष्ट्रीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करते रहते हैं।

6. आज भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संहिताकरण के लिए सर्व मान्य निगम नहीं बन सके हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में ऊपर दिये गये तर्कों के आधार पर यह उचित प्रतीत नहीं होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि सच्चे अर्थों में विधि नहीं है।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तविक रूप में विधि - अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि न मानने वालों का आधार विधि की आस्टिन द्वारा की गई वह परिभाषा थी जिसमें कहा गया था कि विधि सम्प्रभु का समादेश (commend) हैं तथा जिसका पालन राजनीतिक सत्ता द्वारा कराया जाता है और जिसका पालन भय के कारण होता है। ओपेनहीम ने विधि की इस परिभाषा को अस्वीकार करते हुए कहा कि इसमें राज्य विधि का वह भाग शामिल नहीं है जो अलिखित या प्रथा विधि कहलाता है। उन्होंने विधि की परिभाषा करते हुए कहा कि विधि समुदाय के भीतर मनुष्यों के आचरण हेतु नियमों का वह समूह है जो समुदाय सामान्य सहमति द्वारा एक बाह्य शक्ति द्वारा मनवाई जायेगी'' इस परिभाषा के आवश्यक तत्व अन्तर्राष्ट्रीय विधि में है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में भी राज्यों का एक समुदाय है जो आधुनिक काल में कई मामलों के एक दूसरे पर निर्भर हैं। व्यापार, संचार, यातायात, विज्ञान तथा तकनीकी, आदि अनेक क्षेत्रों पर एक

दूसरे पर आधारित है और एक समुदाय की भाँति पारस्परिक आवश्यकताओं हेतु जुड़ा हुआ है। फिर अन्तर्राष्ट्रीय विधि में भी राज्यों के पारम्परिक व्यवहार हेतु नियम हैं। ये नियम रूढ़िगत नियम थे जो अधिकांशतः संधियों के रूप में है जो बाध्यकारी होते हैं। इन नियमों का प्रवर्तन भी होता है क्योंकि राज्य यह मानते हैं कि ये निम्न बाध्यकारी है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पर्याप्त रूप में विकास हो चुका है। अतः अधिकांश विधि शास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि के रूप में स्वीकार करते हैं। इनमें सर हेनरीमेन, लॉर्ड रसेल, स्टार्क, सर फ्रेडरिक पोलक ब्रायर्ला तथा ओपेनहीम आदि विधि शास्त्री है।

1. सर हेनरी मेन का विचार है कि किसी नियम को विधि बनाने के लिए बाध्यकारी शक्ति का होना आवश्यक नहीं है। यह सत्य है कि कभी-कभी कानून का पालन व्यक्ति भय से करता है लेकिन अवसर प्रायः कम आते हैं। दण्ड के भय से अपराधी प्रकृति के लोग कानून का पालन करते हैं। सामान्यतः लोग कानून का पालन इसलिए करते हैं कि वे उनके विश्वासों परम्पराओं व रीतिरिवाजों के अनुसार है और समाज में शांति व्यवस्था के लिए आवश्यक है। अतः नियमों का पालन स्वभाव वश किया है। इनके पालन करने में सुख प्राप्त होता है और उल्लंघन करने पर दुःख होता है।

2. लॉर्ड रसेल का विचार है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कानून का विकास परम्पराओं के माध्यम से हुआ है। कुछ समाजों में विधि निर्मात्री संस्था न होने पर भी अनेक ऐसी प्रथाओं व परम्पराओं का विकास हो जाता है, जो कानून जैसी बाध्यता रखती है। कानून बाध्यकारी सत्ता की थोपीहुई आज्ञा नहीं होता वरन सहमति पर निर्भर रहता है। राष्ट्रों के द्वारा भी परस्पर व्यवहार के लिए सहमति से जो नियम बनाये हैं उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का नाम दिया जा सकता है।

3. सर हैनरी वर्कले के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व तब हो जाता है जब सभी राष्ट्र सहमत होकर कानून की बाध्यता को स्वीकार

कर लेते हैं।

4. प्रो0 ब्रायर्ला के मत में अंन्तर्राष्ट्रीय विधि की विधिक प्रकृति को इनकार करना न केवल अभ्यास में असुविधानक है वरन् उत्तम विधि शास्त्रीय विचारों के प्रतिकूल हैं।

5. प्रो0 हार्ट ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि मानते हुए लिखा है कि "अभ्यास में अनेक ऐसे नियम हैं जिनका राज्य नियमित रूप से सम्मान करते हैं तथा राज्यों के मध्य ऐसे नियम हैं जो उन पर बाध्यकारी हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि विद्यमान है क्योंकि राज्य सरकारें ऐसा मानती हैं।

6. सर फ्रेडरिक पोलक के अनुसार यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक प्रकार की नैतिकता होती तो विदेश नीति से सम्बन्धित दस्तावेज अपनी सारी शक्ति नैतिक तर्कों पर लगाते। सच्चाई यह है कि वे नैतिक सच्चाई का सहारा न लेकर पूर्व निर्णय संधियों व विशेषताओं के मत का आश्रय लेते हैं।

7. स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को वास्तव में विधि होने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं।

(i) आधुनिक ऐतिहासिक विधिशास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि बहुत से समुदायों में बिना औपचारिक विधायिनी शक्ति के एक विधि प्रणाली विद्यमान हैं और इस प्रकार की विधि राज्य की सच्ची विधायिनी शक्ति, द्वारा बनायी गई विधि से भिन्न नहीं है।

(ii) आस्टिन के विचार उनके समय (उन्नीसवी शताब्दी) में उपयुक्त रहे हैं। वर्तमान समय में उचित नहीं हैं। विधि निर्माण करने वाली संधियों के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय विधायिनी भी अब कुछ हद तक मौजूद है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन करने वाली संस्थायें अन्तर्राष्ट्रीय विधि को केवल नति संहिता नहीं समझती हैं।

(iv) संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सच्चे रूप में वैधानिकता पर

आधारित है।

(v) वर्तमान समय में विधि में अधिकतर विधि निर्माण करने वाली संधियों के नियम हैं-जैसे जेनेवा और हेग अभिसमय।

(vi) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्वीकार करते हैं।

(vii) संयुक्त राज्य अमेरिका यूनाइटेड किंगडम जैसे देश अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अपने देश की विधि की तरह मानते हैं।

(viii) जहाँ तक विधि में अनुशास्ति का प्रश्न है अन्तर्राष्ट्रीय विधि में इसका सर्वथा अभाव नहीं है।

(ix) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन होता है तो राज्य विधि का भी उल्लंघन होता है।

8. ओपेन हीम के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधि है क्योंकि व्यवहार में इसे निरन्तर विधि की मान्यता दी जाती है। राज्यों का भी यह विचार है कि राज्य नैतिक रूप से नहीं अपितु विधि के रूप में भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मानने के लिए बाध्य हैं।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि के रूप में है। लेकिन यह उस प्रकार सशक्त विधि के रूप में नहीं है जिस प्रकार कि राज्य की विधि होती है क्योंकि राज्य की विधि को कड़ाई से लागू किया जाता है तथा उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड दिया जाता है।

1.3.2 अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक दुर्बल विधि के रूप में (International a week law)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि के रूप में मान्य है लेकिन यह एक दुर्बल विधि है। कुछ विधि शास्त्रियों ने इसे एक दुर्बल विधि के रूप में माना है जो निम्नलिखित हैं-

स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को दुर्बल विधि मानते हुए कई तर्क दिये हैं।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय विधि में विधि निर्मात्री संस्था राज्य की विधि निर्मात्री संस्था के समान नहीं है।

द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अभिसमयों में अभिव्यक्त नियम इस प्रकार निरूपित किये जाते हैं कि वे राज्यों को कई विकल्प प्रदान कर देते हैं।

तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय विधि में नियमों का निरूपण कठिनाई से किया जा सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बहुत से क्षेत्रों में नियमों को लेकर गंभीर मतभेद हैं।

पैंटन भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संस्थागत पक्ष को दुर्बल मानते हैं। उनका कहना है कि इसकी कोई विधायिका नहीं है तथा इसका अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय भी राज्यों की सहमति के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। इसकी कोई कार्यपालिका नहीं है तथा निर्णयों को लागू करने हेतु कोई सैन्य बल नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दुर्बलतायें-अन्तर्राष्ट्रीय विधि की राज्य विधि से तुलना करने पर निम्न दुर्बलतायें स्पष्ट होती हैं :-

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि में विधि निर्माण हेतु विधायी शक्ति का अभाव है।
2. इसमें ऐसी कार्यपालिका शक्ति का अभाव है जो अपने प्रावधानों को लागू कर सके।
3. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राज्यों के पारस्परिक विवादों को तभी सुन सकती है जब राज्य इच्छुक हो।
4. इसमें बाध्यकारी शक्ति का अभाव है जिससे इसका प्रायः उल्लंघन होता है।
5. अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि यह राज्यों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है।
6. राज्य विधि की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय विधि में कई अनिश्चिततायें व्याप्त हैं।

7. अन्तर्राष्ट्रीय विधि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति व्यवस्था स्थापित करने में बहुधा असफल रही है।

8. अन्तर्राष्ट्रीय विधि की एक सबसे बढ़ी दुर्बलता यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध राज्यों के आन्तरिक अधिकार क्षेत्र में आते हैं तथा ये अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सीमा से बाहर हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की कई दुर्बलताओं के बावजूद भी निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि सुचारू रूप से कार्य कर रही है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि सदैव गतिशील रही है तथा इसका निरन्तर विकास हो रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दुर्बलताओं को दूर करने हेतु सुझाव :-

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दुर्बलताओं को दूर करने हेतु निम्न सुझाव है-

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि को सशक्त बनाने हेतु इसे लागू करने के तरीकों व साधनों को अधिक प्रभावशाली बनाया जाय।

2. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को अनिवार्य बनाया जाय।

3. अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों के निर्णय हेतु स्थापित की गयी अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड न्यायालय को प्रभावी बनाया जाय।

4. अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के अधिकारों व कार्यक्षेत्र में वृद्धि की जाय।

5. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का संहिताकरण व प्रगतिशील विकास करके इसको व्यापक और निश्चित बनाया जाय।

6. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में न्यायिक निर्णयों (Judicial Precedents) का यथोचित प्रयोग किया जाय।

7. अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अधिकाधिक संधियाँ की जायं तथा समयानुसार उनका पुनर्निरीक्षण किया जाय।

उपर्युक्त सझावों के क्रियान्वयन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि को राज्य विधि के समान प्रभावशाली बनाया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे बाध्यता- (Sanctions belind In-

ternational law) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि इसके पीछे बाध्यता का अभाव है। राज्य विधि की तरह अन्तर्राष्ट्रीय विधि को पालन करवाने के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं है। लेकिन यह कहना सत्य नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ऐसी बाध्यकारी शक्ति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में बाध्यकारी शक्ति के विषय में विधि शास्त्रियों में मतभेद हैं। एक मत के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि में बाध्यकारिता का अभाव हैं। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधि की श्रेणी में है। दूसरे मत के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि में बाध्यकारी शक्ति है, जिसके फलस्वरूप इसका पालन होता है।

स्टार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि में बाध्यकारिता को स्वीकार करते हुए इसके कई उदाहरण दिये हैं -

1. संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अध्याय 7 के अन्तर्गत अंतर्राष्ट्रीय शांति सुरक्षा को खतरा होने पर या कहीं आक्रमण होने पर सुरक्षा परिषद कार्रवाही कर सकती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन को रोका जा सकता है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय भी सम्बन्धित पक्षों पर बाध्यकारी होते हैं। संयुक्त चार्टर के अनुच्छेद 94 में यह व्यवस्था है कि जब कोई पक्षकार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय का पालन न करे तो सुरक्षा परिषद कार्यवाही कर सकती है।

3. चार्टर को अनुच्छेद 2(4) में संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों ने यह संकल्प लिया है कि वे एक दूसरे के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं करेंगे।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे बाध्यता है। खाड़ी युद्ध (1991) जिसमें ईराक से कुवैत को मुक्त कराया गया इस बात का प्रतीक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे बाध्यता है। लेकिन इस सबके बावजूद भी यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसी कोई संस्था नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि को कड़ाई से लागू करे। परन्तु यह भी सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में बाध्यता हैं जिसका प्रभाव राज्यों पर पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे भी कुछ अनुशास्तियाँ हैं। जैसे न्याय

के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय पक्षकारी राज्यों के लिए बन्धनकारी हैं। इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 94 में प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे भी कुछ अनुशास्तियाँ हैं। जैसे न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय पक्षकारी राज्यों के लिए बन्धकारी हैं। इसके अलावा संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 94 में प्रत्येक सदस्य ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय का पालन करने का संकल्प लिया है। इसमें यह भी प्रावधान है कि यदि कोई पक्ष निर्णय नहीं मानता है तो सुरक्षा परिषद उसके खिलाफ कोई कार्यवाई कर सकती है। इसके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को ऐच्छिक तथा अनिवार्य दोनों प्रकार का क्षेत्राधिकार प्राप्त है। सदस्य देशों ने इसके क्षेत्राधिकार को स्वीकार भी किया है। सामान्यतः यह स्वीकार किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू करने वाली अनुशास्तियों का विकास हो रहा है।

सुरक्षा परिषद के निर्णय राज्यों पर बाध्यकारी है निर्णयों की अवहेलना करने पर सुरक्षा परिषद उसके विरुद्ध अनुशास्तियाँ घोषित कर सकती हैं। संयुक्त राष्ट्र के अलावा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आदि के संवैधानिक अभिलेखों में अनुशास्तियाँ हैं जो व्यवहार में बड़ी प्रभावकारी सिद्ध होती हैं। स्टार्क ने उचित ही कहा है कि विस्तृत अर्थ में अनुशास्तियों के अन्तर्गत में उपाय व प्रक्रियायें भी आती हैं जो राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय विधिक बाध्यताओं का अनुपालन करने के लिये दबाब डालती हैं। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि, विधिशास्त्र की लुप्त बिन्दु नहीं हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधिशास्त्र की भी लुप्त बिन्दु हैं? (Whether International is a Vanishing point of Jurispudence)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विद्वान हालैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधिशास्त्र की लुप्त बिन्दु कहा है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन सौजन्यवश किया जाता है। अतः यह विधि के रूप में नहीं है। हालैण्ड का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अनुशास्ति का अभाव है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय विधि में सर्वथा अनुशास्ति का अभाव है यह उचित नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय

विधि के सम्बन्ध में यह सही है कि यह एक दुर्बल विधि है लेकिन वह विधि के रूप में अवश्य है। अतः हालैण्ड का यह कहना कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधिशास्त्र की लुप्त बिन्दु है, उचित नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अनुशास्ति भी हैं जैसा डायस ने लिखा है "भय तथा निजी स्वार्थ वे मुख्य कारण हैं जिनके कारण राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करते हैं। हालैण्ड ने न्यायालय के अभाव में भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि शास्त्र की लुप्त बिन्दु माना है। उनके अनुसार राज्य भय के कारण नहीं बल्कि सौजन्यता से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का पालन करते हैं।

अधिकांश विधिशास्त्रियों ने हालैण्ड के इस मत को उचित नहीं माना है। हालैण्ड के विचार से अन्तर्राष्ट्रीय विधि अनुशास्ति के अभाव में विधि नहीं है। यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राज्य विधि के समान अनुशास्तियाँ संभव नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विधि का आधार केवल अनुशास्ति नहीं होता। विधि इस बात पर निर्भर करती है कि विधि के विषय अर्थात् विधि जिन पर लागू होती है वे उसे बाध्यकारी मानते हैं अथवा नहीं। इस संबंध में यह कहना उचित होगा कि राज्यों ने बार-बार इस बात की घोषणा की है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों से बाध्य हैं।

1.4 अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा राष्ट्रीय कानून में अंतर

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न मानने वाले विद्वानों ने कानून के लिए निर्धारित शर्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून व राष्ट्रीय कानून में अन्तर किया है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के निर्धारण हेतु प्रथाओं, अभिसमयों तथा परम्पराओं पर आधारित कानून है जबकि राष्ट्रीय कानून एक विधि निर्मात्री संस्था द्वारा निर्मित एक राष्ट्र के अन्तर्गत रहने वाले लोगों से सम्बन्धित है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का राज्य बाध्यकारी रूप से पालन नहीं करते हैं जिससे प्रायः इसका उल्लंघन होता है और इसके अतित्व पर प्रश्न चिन्ह लगता है। जबकि राष्ट्रीय कानून के राज्य में निवसित नागरिकों द्वारा पालन करना बाध्यकारी है क्योंकि उल्लंघन करने पर व्यक्ति दण्ड के भागीदार होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून संहिता बद्ध नहीं हैं

जबकि राष्ट्रीय कानून संहिता बद्ध होता है। हालांकि अब नई बहुपक्षीय संधियों द्वारा विभिन्न विषयों पर अन्तरर्राष्ट्रीय विधि के नियमों को संहिताबद्ध कर दिया गया है। उदाहरण के लिए राजनयिक संबंधों में वियना अभिसमय, 1961 समुद्री विधि के संबंध में संयुक्त राष्ट्र अभिसमय, 1981 आदि। अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून में निम्नलिखित आधारों पर अन्तर है-

1. **क्षेत्र का अन्तर**- अन्तर्राष्ट्रीय कानून व राष्ट्रीय कानून में क्षेत्र की दृष्टि से अन्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व के राष्ट्र हैं जबकि राष्ट्रीय कानून एक राज्य के क्षेत्र तक ही सीमित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून विश्व के समस्त राष्ट्रों पर लागू होता है। जबकि राष्ट्रीय कानून केवल एक राज्य के नागरिकों पर ही लागू होता है।

2. **विषय का अन्तर**- अन्तर्राष्ट्रीय कानून व राष्ट्रीय कानून के मध्य विषय का भी अन्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय प्रमुख रूप से राज्य हैं। इसके अलावा व्यक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन व संस्थायें भी इसके विषय के अन्तर्गत शामिल हैं। लेकिन राष्ट्रीय कानून के विषय एक राज्य के अन्दर रहने वाले नागरिक तथा विभिन्न संस्थायें निगम व संगठन हैं।

3. **सम्प्रभुता का अन्तर**-राष्ट्रीय कानून एक सम्प्रभुता युक्त संस्था का आदेश होता है, जिसका उल्लंघन करने पर व्यक्तियों को दण्डित किया जाता है। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण किसी सम्प्रभु संस्था के द्वारा नहीं किया जाता है बल्कि यह प्रथाओं, अभिसमयों व रीति रिवाजों जो राज्यों की सहमति द्वारा विकसित होती है पर निर्भर है।

4. **विधि निर्मात्री संस्था का अन्तर** - राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय कानून में विधि निर्मात्री संस्था की दृष्टि से भी अन्तर है। राष्ट्रीय कानून का निर्माण एक विधि निर्मात्री संस्था के द्वारा किया जाता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निर्माण हेतु कोई सम्प्रभु विधायी संस्था नहीं है।

5. **कार्यपालिकी शक्ति का अन्तर**-राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय कानून

में कार्यपालिकी शक्ति की दृष्टि से भी अन्तर है। राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए एक शक्ति सम्पन्न कार्यपालिका होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए इस प्रकार की कार्यपालिका शक्ति का सर्वथा अभाव है।

6. **कानून की व्याख्या करने वाली संस्था का अन्तर** - राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय कानून में एक प्रमुख अन्तर यह भी है कि राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करने हेतु एक सशक्त न्यायालय होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर इस प्रकार का सुसंगठित न्यायालय तो नहीं है फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये गये मामलों में इसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्याख्या करने का क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

7. **बाध्यकारी शक्ति का अन्तर** - राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय कानून में बाध्यकारी शक्ति का भी अन्तर हैं। राष्ट्रीय कानून को लागू करने तथा कानून के उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने हेतु प्रत्येक राज्य में एक बाध्यकारी शक्ति होती है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे कोई बाध्यकारी शक्ति नहीं होती है। हालांकि सुरक्षा परिषद को यह अधिकार प्राप्त है कि ऐसे विवाद जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये खतरा है उन्हें शांति पूर्ण ढंग से निपटारा करने के लिए हर प्रयास करेगी और आवश्यकता पड़ने पर दोषी देश के खिलाफ प्रवर्तनीय कार्यवाही करेगी।

संहिता का अन्तर - राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय कानून में संहिता की दृष्टि से भी अन्तर है। राष्ट्रीय कानून संहिताबद्ध होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में संहिता का अभाव है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अधिकांशतः प्रथाओं पर आधारित है तथा अस्पष्ट व अनिश्चित है। परन्तु अब पिछले पिछले पाँच छः दशक से कई नियम जो रूढ़िगत थे इनका बहुपक्षीय संधियों द्वारा संहिताकरण कर दिया गया है। उदाहरण के लिये राजनयिक संबंधों हेतु बियना कन्वेन्शन 1961, समुद्री विधि संबंधी संयुक्त राष्ट्र अधिसमय, 1981, आदि।

9. **स्त्रोतों का अन्तर** - अन्तर्राष्ट्रीय कानून व राष्ट्रीय कानून में स्त्रोतों

की दृष्टि से भी अन्तर है। राष्ट्रीय कानून के स्रोत सम्बन्धित राज्य की सीमा के अन्तर्गत विकसित परम्परायें तथा विधि निर्मात्री संस्था द्वारा निर्मित विधियाँ हैं। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत विभिन्न राज्यों के मध्य विकसित परम्परायें तथा उनके द्वारा की गई संधियां हैं।

10. **प्रकृति का अन्तर** - दोनों प्रकार के कानूनों में मूल प्रकृति की दृष्टि से भी अन्तर है। राष्ट्रीय कानून सम्प्रभु का आदेश होता है तथा सभी नागरिकों पर सर्वोच्च अधिकार रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना विभिन्न राज्यों के पारस्परिक समझौतों के द्वारा होती है। उसके पीछे कोई शक्ति नहीं होती है। वह राष्ट्रों के मध्य का कानून है, उनके ऊपर का नहीं।

11. **मान्यता का अन्तर** - दोनों कानूनों में मान्यता की दृष्टि से भी अन्तर है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विश्व समुदाय के अधिकांश राष्ट्रों की मान्यता मिलने पर ही उसका महत्व रहता है। लेकिन राष्ट्रीय कानून के लिए राज्य के व्यक्तियों की मान्यता की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व राष्ट्रीय कानून में कई प्रकार की भिन्नताएँ हैं।

1.5 अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा तथा उसके स्वरूप के वर्णन से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक जीवित और विकासमान संहिता है। समय तथा परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परम्परागत क्षेत्र का बहुत अधिक विस्तार हो चुका है। आज इसमें अनेक नये आयाम जुड़े हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून अभी भी विकास की दिशा में अग्रसर हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के निरन्तर विकास के कारण इसके क्षेत्र में भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। जिससे इसका क्षेत्र दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

1. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रभुत्वसंपन्न राज्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करता है। अतः

राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य विषय हैं। इसे राज्यों के बीच का कानून भी कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन्हीं स्वतन्त्र व सार्वभौम राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में प्रयुक्त होने वाला कानून है।

2. स्वतंत्र एवं प्रभुत्वसंपन्न राज्यों के अलावा अर्ध प्रभुत्व संपन्न राज्य जैसे उपनिवेश, सहराज्य, आदिस्ट प्रदेश, संरक्षित प्रदेश तथा तटस्थीकृत प्रदेश भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा उनके अधिकारों की व्यवस्था की जाती है।

3. राज्यों के अलावा व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र हैं। केल्सन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राज्यों के कर्त्तव्य अन्तिम रूप में व्यक्तियों के कर्त्तव्य हैं। वेस्टलेक ने लिखा है कि राष्ट्रों के कर्त्तव्य व अधिकार उन मनुष्यों के अधिकार व कर्त्तव्य हैं जिनसे मिलकर उनका निर्माण हुआ है। केल्सन के अनुसार राज्य विधि व अन्तर्राष्ट्रीय विधि दोनों ही व्यक्तियों पर लागू होती हैं। अन्तर केवल यह है कि राज्य विधि प्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों पर लागू होती है जबकि अन्तराष्ट्रीय विधि अप्रत्यक्ष रूप से राज्यों के माध्यम से व्यक्तियों पर लागू होती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर जो मानवीय कल्याण के लिए कार्य किये जाते हैं इनका मूल व्यक्ति ही है। जैसे बाल सहायता कोष, शरणार्थी सहायता कोष, श्रमिक संघ स्वास्थ्य संघ, कृषि संघ, यूनेस्कों आदि मानव कल्याण की, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें हैं। रंगभेद विरोधी कारण, 'दास व्यापार को रोकने हेतु कानून तथा मानवाधिकार घोषणा पत्र आदि मानव कल्याण के लिए हैं इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मूल केन्द्र बिन्दु है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत बहुत संधियां व्यक्तियों को अधिकार व कर्त्तव्य प्रदान करती हैं। 1949 के युद्ध बन्दियों सम्बन्धी जेनेवा संधि द्वारा भी कुछ बन्दियों को कुछ अधिकार दिये गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध अपराध करने पर व्यक्तियों को ही सजा देकर अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रावधानों को लागू किया जाता है। 1948 के जनवध अभिसमय में भी व्यक्तियों को प्रत्यक्षरूप से

कुछ कर्त्तव्य दिये गये हैं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हो रहा है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों को राज्यों के विरुद्ध कुछ अधिकार दिये जा रहे हैं। जैसे 1950 का मानव अधिकारों का यूरोपीय अभिसमय है। संयुक्त राष्ट्र के मानवीय अधिकारों के कमीशन तथा नागरीक व राजनीतिक अधिकारों के कमीशन तथा नगरीक व राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 के अन्तर्गत स्थापित मानवीय अधिकारों की समिति, व्यक्ति राज्यों के विरुद्ध अपनी शिकायतें भेज सकते हैं सामुद्रिक डकैती के अपराध में एक राज्य व्यक्ति को दण्डित कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ऐसे कई प्रावधान हैं जिनके अनुसार वह व्यक्ति को दूसरे राज्य को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से कोई अपराध करता है वह दण्डित किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन व्यक्तियों के आचरण को भी नियंत्रित करती है जो विदेशी राष्ट्र में रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत हर राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे विदेशियों को उनकी सम्पत्ति, जान माल की सुरक्षा प्रदान करे। युद्ध सम्बन्धी नियम भी व्यक्तियों के लिए हैं अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत युद्ध अपराधियों का दण्ड किया जा सकता है। जासूसी करने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत दण्ड दिया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में भी व्यक्ति के अधिकारों को महत्व दिया गया है। चार्टर के अनुच्छेद 2(3) में उपबंध किया गया है कि संयुक्त राष्ट्र मूलवंश, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर विभेद किये बिना सभी के लिये मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं की अभिवृद्धि और उसे प्रोत्साहित करेगा। 10 दिसम्बर 1948 में मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा संयुक्त राष्ट्र महासभा ने स्वीकृति दी। अतः उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति से सम्बन्धित अन्तराष्ट्रीय विधि का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। राज्य व व्यक्ति के अलावा कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें व संगठन भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र का निरन्तर प्रसार होता जा रहा है। अंतर्राष्ट्रीय विधि आयोग की सूची 25 में मुख्य बातों का

उल्लेख किया गया है। जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। ये हैं - अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत राज्यों के कानून के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दायित्व राज्यों के अधिकार व कर्त्तव्य, राज्यों की मान्यता व उत्तराधिकार, घरेलू क्षेत्राधिकार विदेशी राज्यों की मान्यता, विदेशी राज्यों पर क्षेत्राधिकार, प्रादेशिक क्षेत्राधिकार के दायित्व, राष्ट्रीय प्रदेश से बाहर किये गये अपराधों का क्षेत्राधिकार, राज्यों का प्रादेशिक क्षेत्र, महासमुद्रों तथा प्रादेशिक समुद्र पर संप्रभुता, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान, राष्ट्रीय और राज्यहीनता, कूटनीतिक सम्पर्क एवं विशेष अधिकार, व्यापारिक प्रतिनिधियों का सम्पर्क एवं विदेशियों के साथ व्यवहार, प्रत्यर्पण आश्रय दान का अधिकार, संधियों का कानून और राज्य उत्तरदायित्व, मध्यस्थ निर्णय की प्रक्रिया, युद्ध के कानून आदि। ये सभी विषय अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

1.6 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय कानून मध्य युग के बाद की देन है। मध्य युग के बाद विश्व में स्वतंत्र एवं सम्प्रभु राष्ट्रों का उदय हुआ। इन राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों में जो परम्परायें व व्यवहार अपनाये गये उनसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रथागत नियमों का विकास हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय कानून आचरण के उन नियमों के समूह का नाम है जिन्हें आधुनिक सभ्य राज्य अपने पारस्परिक सम्बन्धों में बाध्यकारी मानते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न मानकर आचरण के नियमों की एक नैतिक संहिता के रूप में स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों मे हॉब्स, प्यफेनडार्फ हालैण्ड व बैंथम हैं। इनका तर्क है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने तथा उसे लागू करने वाली कोई संस्था नहीं हैं, तथा इसके पीछे बाध्यकारी शक्ति का अभाव है। लेकिन कुछ विद्वान अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून के रूप में स्वीकार करते हैं। इनमें स्टार्क,

प्रो0 ओपेनहाइम, ब्राइटली, सर हेनरी मेन व फ्रेडरिक पोलक के नाम उल्लेखनीय हैं। हालैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विधिक शास्त्र का लोप बिन्दु कहा है। लेकिन यह कानून उचित प्रतीत नहीं होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून में कुछ कमियां हैं जिसके कारण यह एक दुर्बल विधि के रूप में है। यदि इन कमियों को दूर कर दिया जाय तो यह एक शक्तिशाली कानून का रूप धारण कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में पहले केवल राज्य को ही माना जाता था। लेकिन राज्यों के अलावा राज्य के साथ-साथ व्यक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें व संगठन तथा अन्य राजनीतिक इकाइयां भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

1.7 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Nagendra Singh, 'India and International Law'.
2. Oppen Heim : 'International law'.
3. William E. Hall: 'International Law',
4. Fenwicss : International law.
1. हरिमोहन जैन, अन्तर्राष्ट्रीय विधि।

1.8 संबंधित प्रश्न -

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ व परिभाषा का वर्णन कीजिये।
2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि व राष्ट्रीय विधि में अन्तर बताइये।
3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ, स्वरूप व क्षेत्र का विवेचन कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि नहीं है, इसके दो कारण बताइए।
2. क्या राष्ट्रीय विधि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल बनाई जा सकती है।
3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करने का मूल कारण क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

इकाई -2 : अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्त्रोत तथा अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय विधि के बीच संबंध

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्त्रोत

2.3 अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि

2.4 अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय विधियों के संबंध में विभिन्न देशों का व्यवहार

2.5 सारांश

2.6 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

2.7 सम्बन्धित प्रश्न

2.8 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

वर्तमान में वैधानिक दृष्टि से किसी बाध्यकारी शक्ति न होने के बाद भी राज्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन करना अपरिहार्य हो चुका है। इस संबंध में मूल प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण कैसे होता है। यह प्रश्न हमें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्त्रोतों की खोज करने के लिए प्रेरित करता है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विभिन्न स्त्रोतों का विवेचन कर सकेंगे।
- राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संबंध के विषय में प्रतिपादित विविध सिद्धान्तों का परीक्षण कर सकेंगे, तथा
- अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के संबंध के बारे में विभिन्न देशों में व्यावहारिक स्थिति क्या है इसका विश्लेषण कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

जैसा कि पहली इकाई में स्पष्ट किया जा चुका है कि विश्व का प्रत्येक प्रभुसंपन्न राज्य अपने देश के शासन-संचालन के लिए, स्वयं कानूनों का निर्माण करता है इन कानूनों को जिन्हें राष्ट्रीय विधि कहा जाता है, उस देश की विधायिनी संस्था के द्वारा औपचारिक रूप से निर्मित किया जाता है और इनके पीछे बाध्यकारी शक्ति होती है। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का निर्माण किसी विधायिनी संस्था द्वारा नहीं किया जाता और न ही इन्हें लागू न करने पर राज्यों को दण्डित ही किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि अनेक स्रोतों से संग्रहीत नियमों का समूह है। इस विधि के निर्माण में अनेक तत्व, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ, न्यायिक निर्णय, विधि शास्त्रियों की रचनाएँ आदि सहायता देते हैं।

प्रस्तुत इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोतों का सविस्तार विवेचन किया जायेगा और इस बात की भी चर्चा की जाएगी कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि और विभिन्न राज्यों द्वारा बनाए गए कानूनों अर्थात् राष्ट्रीय विधि के बीच क्या संबंध है, तथा इस विषय में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों का परीक्षण किया जाएगा। साथ ही इस बात की भी विवेचना की जाएगी कि विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू करने के विषय में क्या स्थिति है।

2.2 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत से तात्पर्य उन पद्धतियों एवं तत्वों से है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का निर्माण होता है। स्टार्क के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत से हमारा तात्पर्य उस वास्तविक सामग्री से है जिसका प्रयोग विधिशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान हेतु नियमों के निर्माण हेतु प्रयोग करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत उन विशेष नियमों से सम्बन्धित होते हैं जिनसे प्रणाली बनती है तथा उन प्रक्रियाओं से है जिनसे नियमों की पहचान विधि के नियमों के रूप में होती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोतों को सामान्यतया दो भागों में बाँटा जा सकता है। 1. औपचारिक 2. सारवान औपचारिक स्रोत उन कृत्यों या तथ्यों से बनते हैं जिसके द्वारा इस विषय वस्तु को विधिक बैधता एवं बंधनकारी बल प्रदान किया जाता है। सारवान स्रोतों से तात्पर्य उस सामग्री से हैं जिससे विधि

निर्मित होती है।

अन्तराष्ट्रीय विधि के स्रोतों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

1. अन्तर्राष्ट्रीय संधियां (International Treaties)
2. अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियाँ (International Customs)
3. सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त (General Principles Recognised by Civilized Nations)
4. न्यायालयों के निर्णय (Judicial decisions)
5. विधिशास्त्रियों की रचनायें (Juristic works)
6. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के निर्णय (Decisions of International Instiutions)
7. साम्य तथा न्याय (equity and Justice)
8. संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव (Resolution of the General Assembly of U.N.O.)

1. अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय या संधियाँ-

अन्तर्राष्ट्रीय संधियां अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सबसे महत्वपूर्ण स्रोत हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेप्यूट के अनुच्छेद 38(1) (क) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय, चाहे वे साधारण हो या विशिष्ट न्यायालय द्वारा लागू किये जायेंगे। ऐसा इसलिए है कि सन्धियों में राज्यों की सम्मति अभिव्यक्ति होती है और इसमें राज्य वर्णित नियमों का पालन करने की स्वीकृति प्रदान करते हैं।

संधियां दो या दो से अधिक राज्यों के मध्य करार हैं, जिनके द्वारा वे अपने सम्बन्धों को स्थापित करते हैं। इन सम्बन्धों को कभी-कभी अभिसमय, नयाचार, या एकॉर्ड के नामों से पुकारा जाता है। संधियों में प्रतिपादित नियमों के प्रति पक्षकारों की सम्मति अभिव्यक्त होती है। इसलिए रूढ़िजन्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अभिसमय उद्भूत विधि में बदला जाता है।

उदाहरण के रूप में राजनयिक तथा कौंसलीय सम्बन्धों से सम्बन्धित रूढ़िजन्य विधि को क्रमशः राजनयिक सम्बन्ध वियना कन्वेशन, 1961 तथा कौंसलीय सम्बन्ध वियना कन्वेंशन 1963 में परिवर्तित कर दिया गया है।

आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों जिनमें सभी प्रकार की संधियाँ सम्मिलित हैं का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोतों में सर्वप्रथम स्थान है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विधि विवादों के बारे में निर्णय देने हेतु सम्बन्धित मामले में अन्तर्राष्ट्रीय विधि जानने हेतु सर्वप्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को देखे। इन सन्धियों के दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(अ) विधि निर्माण करने वाली संधियां (Law making Treaties) - विधि निर्माण करने वाली संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रत्यक्ष स्रोत हैं। ये वे संधियाँ हैं जो सामान्य विधि के स्रोत के रूप में हैं तथा जिन्हें बड़ी संख्या में राज्यों ने मिलकर तय किया है। उनका उद्देश्य या तो भावी आचरण हेतु सामान्य नियमों का प्रतिपान करना है या कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण करना। ऐसी संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में विधायन की स्थानापन्न है। इनकी संख्या में तेजी से वृद्धि होने के कारण इनका स्थान राष्ट्रों की अभिसमयात्मक विधि ने ले लिया है। विधि निर्माण संधियाँ सदैव के लिए सार्वभौमिक प्रयोज्यता के नियमों का निर्माण नहीं करती। यह उन राज्यों के लिए बाध्यकर नहीं है जो इनमें पक्षकार नहीं है। विधि निर्मात्री संधियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है-

(1) वे संधियाँ जो सार्वभौमिक प्रयोज्यता के निर्माण का प्रतिपादन करती है। जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा पत्र।

(2) वे जो सामान्य नियमों का प्रतिपादन करती है।

इसके अलावा कुछ ऐसी बहुराष्ट्रीय संधियाँ है जो प्रथागत नियमों की पुष्टि करती है जैसे विएना अभिसमय 1961।

(ब) संविदा संधियां (Treaty Contracts) - संविदा संधियां वे संधियाँ हैं जो पक्षकार राज्यों के लिए बाध्यकारी होती हैं। ये संधियाँ दो राज्यों या कुछ राज्यों के मध्य होती हैं। ये संधियाँ विधि का प्रत्यक्ष स्रोत

नहीं होती है। कुछ मामलों में ये संधियाँ विधि निर्मात्री प्रभाव भी हो सकती है।

इन संधियों के द्वारा प्रथा-सम्बन्धी नियमों का भी विकास होता है अथवा वह सामान्य अंतरस्ट्रिीय विधि में परिणत हो जाती है। जैसे राज्य के मध्य वाणिज्य दूतों के सम्बन्ध में द्विपक्षीय संधियां अन्तर्राष्ट्रीय विधि में परिणत हो गयी तथा बाद में उन्होंने 1963 में अभिसमय का रूप ग्रहण कर लिया।

स्पेन व संयुक्त राज्य के मध्य 1950 भी संधि द्वारा प्रतिपादित स्वतंत्र जहाज स्वतंत्र माल का नियम सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि बन गया।

2. अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि - रूढ़ि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सबसे प्राचीन स्रोत है। एक समय यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्रोत था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधिकांश नियम रूढ़ि पर आधारित नियमों से ही निर्मित होते थे। अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि का तात्पर्य ऐसी प्रथाओं से हैं, जो विधिक बाध्यताओं के कारण अन्य प्रथाओं से भिन्न हैं। रूढ़ियों का निर्माण राष्ट्रों के अभ्यास तथा प्रथाओं से तथा राष्ट्रों के समुदाय द्वारा इनकी मान्यता से विकसित हुआ है। रूढ़ियों से तात्पर्य उन नियमों से हैं जो अधिकांश राज्यों द्वारा आचरण की भाँति अभ्यास में लाये जाते हैं। वेस्टलेक के अनुसार रूढ़ि आचरण की वह पद्धति हैं, जिन्हें समाज द्वारा बाध्यकारी रूप से माने जाने की सहमति दी जाती है। बाध्यता बहुत समय तक कई राष्ट्रों की समान्य सम्मति पर आधारित है इस प्रकार रुढ़ि सिर्फ अभ्यास, या प्रथा नहीं है प्रथा सामान्य अभ्यास है, जिसमें विधिक बाध्यता दिखाई नहीं देती जबकि रुढ़ि उन अभ्यासों को निर्दिष्ट करती है, जो राज्यों पर बाध्यकारी माने जाते हैं।

प्रथा का तात्पर्य ऐसे अभ्यास से है जिसे एकरूपता तथा सामान्यतया पालन करने के कारण राज्यों द्वारा कर्त्तव्य के रूप में पालन किया जाता है। यद्यपि यह कर्त्तव्य विधि के स्वरूप का नहीं है बल्कि यह नैतिकता या शिष्टता के रूप में होता है। कभी-कभी प्रथा को भी समान परिस्थितियों में निश्चित प्रकार के आचरण के रूप में जाना जाता है। विशिष्ट प्रथा में राजदूतों के स्वीकृत विशेषाधिकार तथा राजनयिक पत्राचार के रूप को भी

शामिल किया जाता है। इस प्रकार प्रथा सामान्य अभ्यास है जिसमें विधिक बाध्यतायें प्रतिबिम्बित नहीं होती हैं। प्रथा के नियम के उल्लंघन को अन्य सम्बद्ध राज्य अनुचित कार्य मानते हैं न कि अवैध कार्य के रूप में। प्रथा रुढ़ि के रूप में तब हो जाती हैं जब उसे वैधानिक मान्यता प्राप्त हो जाती है। कोई भी प्रथा अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि उस समय बन जाती है जब वह उसको न्यायोचित ठहराने के लिए पर्याप्त रूप में परिपक्व हो जाती है। रूढ़ि गत नियम बन जाने से बाध्यकारी प्रभाव होने लगता है। अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि के अस्तित्व के लिए तीन तत्व अपेक्षित हैं-

(1) अवधि (Duration) - राज्यों द्वारा किसी विशेष आचरण को लम्बे समय तक आचरण में लाने से वह रूढ़ि बन जाता है। किसी प्रथा को रुढ़ि में परिवर्तित होने के लिए कितना समय लगेगा यह कहना कठिन है। यंग जैकब वा जोहाना बाद में लॉर्ड स्टोवेल ने वर्ष की अवधि बताई। लेकिन यह तर्क संगत नहीं है। किसी आचरण को रूढ़ि में बदलने के लिए, कोई समयावधि निर्धारित नहीं की जा सकती। कोई प्रथा कम अवधि में भी रूढ़ि बन सकती है। महाद्वीपी मग्नतट भूमि से सम्बन्धित आचरण तथा वायु मण्डल से सम्बन्धित आचरण कम अवधि में ही रूढ़ि बन गये। जबकि राजनयिक आशय को लम्बे समय से राज्यों द्वारा अभ्यास में लाया जा रहा है। लेकिन यह रूढ़ि में परिवर्तित नहीं हो सका। प्रथा को रूढ़ि में परिवर्तित होने के लिए कोई समय मापदण्ड नहीं हो सकता। यह इस बात पर निर्भर करता है कि कोई आचरण राज्यों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है। तथा वे उसे बाध्यकारी मानने लगे हैं।

(ब) निरन्तर (Countinuity) - किसी भी प्रथा को रूढ़ि में परिवर्तित होने के लिए यह अनिवार्य है कि किसी प्रथा का राज्यों द्वारा निरन्तर अनुसरण किया जाय। कोई भी आचरण बार-बार और नियमित रूप से आचरण में लाये जाने से रूढ़ि में परिवर्तित हो जाती है।

(स) सामान्यतया (Generality) प्रथा को रूढ़ि में परिवर्तित होने के लिए यह आवश्यक है कि अधिकांश राज्य उसे प्रयोग में लायें। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सभी राज्य उस आचरण को स्वीकार

करें परन्तु स्वीकार करने वाले राज्यों की संख्या पर्याप्त होनी चाहिए। वेस्ट रेण्ड सेन्ट्रूल गोल्ड माइनिंग कं0 लिमिटेड बनाम आर0 में यह निर्णय दिया गया कि साक्ष्य द्वारा यह सिद्ध हो कि रूढ़िगत नियम इस प्रकृति का है कि बहुत राज्यों द्वारा इसे सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है।

रूढ़िगत नियमों के प्रकार (Kinds of Customary rules) - अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़िगत नियम दो प्रकार के होते हैं -

(1) सार्वभौमिक (universal) (2) विशिष्ट (Particular) सार्वभौमिक नियम वे होते हैं, जो सभी राज्यों पर बाध्यकारी होते हैं। जैसे राजनयिक सम्बन्धों के नियम का सामुदायिक नियम।

विशिष्ट रूढ़िगत नियम वे नियम होते हैं जो केवल दो राज्यों पर बाध्यकारी होते हैं। इन दो सीमित नियमें को अलावा एक अन्य विशेष प्रकार का नियम भी हो सकता है, जो सभी राज्यों पर राज्यों में क्षेत्रीय समुदाय पर या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ विषय पर बाध्यकारी होते हैं। इन्हें असाधारण रूढ़िगत नियम कहा जा सकता है।

3- सभ्य राष्ट्रों द्वारा मान्यता प्राप्त विधियों के सामान्य सिद्धान्त - अन्तर्राष्ट्रीय संधियों व रूढ़ि के बाद अन्तर्राष्ट्रीय विधि का तीसरा स्रोत सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के अनुच्छेद 38 में सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत के रूप में मान्यता प्रदान की गई है तथा इसे तीसरे स्थान पर लिखा गया है।

सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त से तात्पर्य उन सामान्य नियमों से है जिनको लगभग सभी सभ्य राष्ट्रों ने मान्यता प्रदान की है। "सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य नियम" के विषय में दो मुख्य मत हैं। जी वान ग्लान के अनुसार प्रथम मत के अन्तर्गत ऐसे सामान्य सिद्धान्त शामिल हैं जो राज्यों के घरेलू या आन्तरिक विधि शास्त्र में मिलते हैं तथा जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधिक प्रश्नों में लागू किया जा सकता है। इसके मत के अनुसार इससे तात्पर्य उन सामान्य सिद्धान्तों से है जो प्राकृतिक विधि से सम्बन्धित हैं तथा जिनका निर्वचन पश्चिमी देशों में

पिछली शताब्दियों में हुआ है।

कासेट के अनुसार विधि के सामान्य सिद्धान्त वह नियम है जिन्हें विधि की विकसित प्रणालियों के व्यवहार में इसलिए बार-बार दोहराया जाता है क्योंकि या तो, उनकी सामान्य उत्पत्ति है या इस कारण कि यह मानव समुदाय की मूल आवश्यकताओं का उत्तर है। उदाहरण के रूप में पेक्टा सन्ट सर्वेन्डा, त्रुटि से हुई क्षति का मुआवजा देने का सिद्धान्त व आत्मरक्षा का सिद्धान्त तथा प्राङ्न्याय, निबन्धक या रुकावट आदि के सिद्धान्त। यह ऐसे सिद्धान्त हैं जिन्हें करीब-करीब सभी राष्ट्रों ने अपनी राज्य विधि में मान्यता दी है। अतः यह नियम इतने सर्वमान्य बन गये हैं कि इनको अन्तर्राष्ट्रीय विधि में शामिल कर लिया गया है। सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्तों में प्रक्रिया विधि तथा साक्ष्य के सिद्धान्त भी शामिल हैं बशर्ते कि उनकों राष्ट्रों ने सामान्य स्वीकृति प्रदान करके मान्यता दी है।

सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य नियमों को प्रमुखवादों में स्वीकार किया गया। रेंग बनाम केन वाद में यह मत प्रगट किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि न्याय साम्य, सुविधा तथा सम्बन्धित विषय के तर्क पर आधारित है जो लम्बे समय के व्यवहार द्वारा मान लिया गया है। संयुक्त राज्य बनाम स्कूनर वाद में न्यायाधीश स्टोरी ने दास प्रथा के सम्बन्ध में यह विचार प्रगट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यक्तियों के अधिकार व न्याय के सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। म्यूज जल के मार्ग परिवर्तन के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने राष्ट्रीय विधि के प्रचलित नियमों, प्राङ्न्याय व निबन्धन के नियमों का प्रयोग किया। कारजो फैक्टरी मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने प्राङ्न्याय के सिद्धान्त को लागू किया। मावरमारिस पेलेस्टीन छूट सम्बन्धी मामले में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने निबन्धन के सामान्य सिद्धान्त को लागू किया।

निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने मान्यता प्रदान की है। (अ) सद्भाव (ब) उत्तरदायित्व (स) चिरभोग (द) जब तक रोड व्यक्ति विरोधी प्रावधान न हो प्रत्येक न्यायालय अपनी क्षेत्राधिकार सीमा

निर्धारित कर सकता है।

(य) किसी वाद के पक्षकार स्वयं न्यायाधीश नहीं हो सकते।

(र) कोई भी प्रश्न जिस पर अन्तिम निर्णय हो चुका है, समान पक्षकारों के मध्य पुनः विवाद का प्रश्न नहीं हो सकता।

(ल) किसी न्यायिक प्रक्रिया में न्यायालय दोनों पक्षकारों को उचित तथा समान सुनवाई का अवसर देगा।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कोई सिद्धान्त सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भाग तभी बन सकता है जब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय उसे इस रूप में कम से कम एक भी मामले में स्वीकार करे। इस सम्बन्ध में ब्राइटली ने उचित ही लिखा है कि विधि के सामान्य सिद्धान्त पर ऐसे स्त्रोत हैं जिनका हवाला न्यायालयों ने भूतकाल में भी दिया है। विधि के सामान्य सिद्धान्तों को एक स्त्रोत के रूप में मान्यता प्रदान करके अन्तर्राष्ट्रीय विधि को प्रतिशालता तथा इसे लागू करने वाले न्यायालयों के सृजनात्मक कार्यों को स्वीकार किया गया है। इस स्त्रोत की स्वीकृति से ऐसे नियमों का प्रादुर्भाव हुआ है जो रूढ़ि संधियों की दुर्बलताओं को दूर कर सकें तथा इससे ऐसे विधिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि प्राप्त हुई हैं जिसके आलोक में रूढ़ि व संधियों को लागू किया जा सकता है।

4. न्यायिक निर्णय (Judicial decisions)- न्यायिक निर्णय का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनुच्छेद 38(1) (घ) में "नियमों के निर्धारण के लिए सहायक माध्यम के रूप में वर्णन किया गया है। न्यायिक निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि सहायक स्त्रोत माने जाते हैं। ऐसा इसलिए है कि क्योंकि न्यायालय के निर्णय किसी पूर्व निर्णय का सृजन नहीं करते। न्यायिक निर्णयों का किसी भी विवाद के पक्षकारों के अलावा इनकी कोई बाध्यता नहीं होती न्यायिक निर्णयों के बारे में यह धारणा है कि वे मात्र घोषणात्मक होते हैं। लेकिन यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि न्यायाधीश नये नियमों का निर्माण भी कर सकते हैं, और वे वास्तव में ऐसा करते हैं। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विशेषकर महत्वपूर्ण है इसके बहुत से निर्णयों ने

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में नये प्रवर्तन प्रस्तुत किये हैं जिन्हें बाद में सामान्य स्वीकृति प्राप्त हुई। न्यायिक निर्णय के अन्तर्गत निम्नलिखित न्यायालयों के निर्णयों पर अलग-अलग रूप में विचार किया जा सकता है-

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)- अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक अभिकरण है। इसके निर्णय केवल मामले के पक्षकारों पर ही बाध्यकारी होते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बाध्यकारी नियमों को सृजित नहीं करते। इसके निर्णय अन्य वादों में बाध्यकारी नहीं होते। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पूर्व निर्णय न्यायालय पर बाध्यकारी नहीं होते हैं लेकिन अन्य मामलों में उनका प्रभाव बना रहता है तथा सुझाव किया जाता है। न्यायालय को अपने पूर्व निर्णय से भिन्न होना कठिन हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विद्यमान नियमों को व्यापक रूप में प्रभावित करते हैं। न तो स्वयं न्यायालय इनकी उपेक्षा कर सकता है और न अधिकरणों द्वारा किया जाता है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरणों के पंचार (Awards of International Tribunals) - अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण जैसे स्थायी मध्यस्थता न्यायालय तथा अन्य अधिकरण जैसे ब्रिटिश-अमरीकी मिश्रित दावा अधिकरण एवं अन्य अधिकरणों के पंचारों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में पर्याप्त योगदान किया है। इन अधिकरणों के पंचार न्यायिक न होकर अर्द्ध न्यायिक होते हैं इसलिए इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्रोत नहीं माना जा सकता, लेकिन यह दृष्टिकोण सभी मामलों में लागू नहीं होता क्योंकि 'बहुत से अधिकरणों के पंचार कठोरता से विधिक विचारणों पर आधारित होते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थायी मध्यस्थता न्यायालय के निर्णय विधिक पंचार थे। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने कई निर्णयों में उन्हें, निर्दिष्ट किया है।

(स) राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय (Decisions of Municipal Courts) - राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि में विशेष महत्व नहीं रखते हैं। ओपेन हाइग मे भी राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों को

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत के रूप में नहीं माना है। जब कई राज्यों के न्यायालयों द्वारा एक समान निर्णय दिये जाते हैं तो वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़िगत नियम बन सकते हैं। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उस क्षेत्र में होता है जहाँ राष्ट्रीय विधि व अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक दूसरे में मिले होते हैं। जैसे राष्ट्रीयता, प्रत्यर्पण और राजनयिक उन्मुक्तियाँ आदि। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अनुच्छेद 38(1) (घ) न्यायालय के निर्णय को सहायक स्रोत के रूप में प्रयोग करने का अधिकार देता है। ताकि विधि के नियम निर्धारित किये जाते हैं। यह अनुच्छेद राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत के अनुकूल बनाता है। राष्ट्रीय - न्यायालयों के निर्णयों को अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं द्वारा मान्यता प्राप्त होने पर अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। जैसे इन्टरनेशनल लॉ रिपोर्टस में काफी संख्या में राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय प्रकाशित किये जाते हैं।

(द) क्षेत्रीय न्यायालयों के निर्णय (Decisions of Regional Courts) - विशिष्ट क्षेत्रों में विवादों को हल करने के लिए स्थापित क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में सहायक हैं। क्षेत्रीय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के रूप में यूरोपीय समुदाय के न्याय का न्यायालय (Court of justice of European communities) यूरोपीय मानवाधिकार न्यायालय (European court of Human Righst) तथा अन्तर अमेरिकी मानवाधिकार न्यायालय (Inter American court of Human Rights) आदि।

5. विधिवेत्ताओं की रचनायें (Juristic works)- अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेटयूट के अनुसार प्रख्यात विधि वेत्ताओं की रचनायें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों को निर्धारित करने में सहायक होती हैं। स्टेटयूट के अनुच्छेद (38) (1) (घ) के अन्तर्गत विधिवेत्ताओं की रचनाओं को विधियों के नियम निर्धारण का गौड़ साधन माना गया है। ये विधि के मान्य स्रोत के रूप में नहीं हैं। फिर भी प्रख्यात विधि वेत्ताओं की रचनायें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के निर्माण में सहायक होती हैं। विधिवेत्ताओं की रचनाओं के महत्व को स्पष्ट करते हुए संयुक्त राष्ट्र के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ग्रे (Gray J.) ने पॉकेट हवाना मामलों में व्यक्त किया।

न्यायाधीश ग्रे के अनुसार यदि किसी मामले में कोई संधि नहीं है और न ही किसी कार्यपालिका विधायिका या न्यायपालिका का निर्णय है तो न्यायालय सभ्य राष्ट्रों की तथा विधिवेत्ताओं की रचनाओं का सहारा ले सकता है। विधिवेत्ता सम्बन्धित विषयों पर अपना मत व्यक्त करते हैं तथा न्यायालय उनकी रचनाओं का इस बात को जानने के लिए सहारा ले सकता है कि किसी मामले पर वास्तव में विधि क्या है। इन रचनाओं से यह पता चलता है कि क्या कोई प्रथा रूढ़ि बन चुकी है अथवा नहीं।

'6 अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंगों के निर्णय (Decision or determinations of the organs of International Institutions)- अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंगों के निर्णय भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में सहायक होते हैं। स्टार्क के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंगों के निर्णय निम्न प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास कर सकते हैं।

(अ) संवैधानिक मामलों में कोई निर्णय प्रथा सम्बन्धी नियमों के विकास में माध्यमिक या अंतिम कदम होते हैं। जैसे संयुक्त राष्ट्र का अंग सुरक्षा परिषद यह निर्णय कर दे कि यदि कोई सदस्य उसकी बैठक में अनुपस्थित रहता है, तो उसे वीटो नहीं माना जायेगा। इस प्रकार के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में सहायक होते हैं।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंग अपने आन्तरिक कार्यों के लिए जो नियम बनाते हैं, वे सदस्यों के लिए बन्धनकारी होते हैं।

(स) कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंग अपने संवैधानिक प्रावधानों का भी पुनर्वचन कर सकते हैं। यह निर्णय भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की विधि का भाग बन जाता है।

(द) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंगों को अर्द्ध-विधायिनी या अर्द्ध-न्यायिक निर्णय देने का अधिकार है।

(च) कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंग किसी मामले में विधि जानने हेतु विधिशास्त्रियों की समिति को मामला सौंप देते हैं। इस समिति का निर्णय भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा सम्बन्धी नियमों के विकास में सहायक होते हैं।

7. साम्या तथा न्याय (Equity and Justice) - अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण तथा संहिताकरण व विकास में साम्या तथा न्याय के सिद्धान्तों का योगदान रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत के रूप में साम्या शब्द का प्रयोग विधि के स्थापित नियमों की निष्पक्षता युक्ति युक्ता तथा नीति को ध्यान में रखकर किया जाता है। वारसीलोना ट्रेक्शन वाद में न्यायाधीश जेराल्ड, फिटज मारिश ने यह मत व्यक्त किया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में साम्या तथा न्याय के नियमों की आवश्यकता है। वर्तमान समय में इन नियमों तथा सिद्धान्तों पर अधिक ध्यान दिया जा सकता है। साम्या तथा न्याय के सिद्धान्तों के लागू होने के कुछ साक्ष्य भी हैं। नॉर्थ सी कान्टीनेन्टल शेल्फ केसेज में न्यायालय ने इसके लागू होने के हीन क्षेत्र बताये हैं- (अ) अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में राज्य के अभ्यास (ब) अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा सम्बन्धी विधि (स) न्याय प्रशासन।

साम्या का उल्लेख अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेट्यूट में विधि निरुपणकारी अभिकरण के रूप में नहीं किया गया है। साम्या को न्यायालय द्वारा प्रयोग में नहीं लाया जाता। फिर भी उन क्षेत्रों में इसका विशेष महत्व है जहाँ नियम आसानी से उपलब्ध नहीं होते हैं, वहाँ न्यायालय तथा साम्या के सिद्धान्तों के आधार पर विनिश्चय करने के लिए बाध्य हो जाते हैं क्योंकि इन सिद्धान्तों में साम्यापूर्ण परिणाम उत्पन्न करने की क्षमता है।

8. संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव (Resolution of the General Assembly) - संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव के विधिक महत्व के बारे में भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ विधिशास्त्रियों के अनुसार दूसरा कोई विधिक महत्व नहीं है परन्तु कुछ विधिशास्त्रियों का विचार है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में इनके विधिक लक्ष्य हो सकते हैं। जैसे संयुक्तराष्ट्र संस्था के आन्तरिक कार्यों में महासभा के प्रस्ताव बाध्यकारी होते हैं। लेकिन सामान्य रूप में महासभा के ये प्रस्ताव विधि की प्रकृति के नहीं होते हैं। यदि किसी विषय पर अनेक समान प्रस्ताव पारित किये जाते हैं तो उससे तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का ज्ञान होता है तथा निर्णय देते समय न्यायालय इस बात को ध्यान में रखने को बाध्य होता है। इसके अलावा जो प्रस्ताव विधि निर्माण की प्रस्तुति के होते हैं वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नये सिद्धान्तों

के विकास में एक महत्वपूर्ण कड़ी होते हैं। ब्राउनली ने लिखा है कि संयुक्त राष्ट्र की महासभा के प्रस्ताव सदस्य राज्यों पर बन्धककारी नहीं होते हैं लेकिन जब वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य नियमों से सम्बन्धित होते हैं तो उन्हें बहुमत से स्वीकार किया जाना राज्य सरकारों के मत का साक्ष्य होता है। संयुक्त महासभा के निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में सहायक होते हैं। ये निर्णय राज्यों के मध्य करार के रूप में होते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास हेतु आवश्यक वातावरण तैयार करते हैं। प्रो0 लियोग्रास के अनुसार "संयुक्त राष्ट्र की महासभा के प्रस्तावों तथा घोषणाओं में सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत होने की क्षमता है। महासभा के प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा के विकास में महत्वपूर्ण साधन सिद्ध हो सकते हैं तथा राज्यों के मध्य अनेक विषयों पर होने वाली संधियों में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इनमें अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्रोत होने की क्षमता है।

2.3 अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि में सम्बन्ध- (Relation between International Law and Municipal Law)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि व राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध को जानना आवश्यक है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व राष्ट्रीय कानून एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। राज्यविधि राज्य के भीतर निवास करने वाले व्यक्तियों के आचरण को नियंत्रित करती है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रों के सम्बन्धों को नियंत्रित करती है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पर्याप्त विकास हो जाने के कारण अब यह कहना उचित नहीं है कि यह केवल राज्यों के परस्पर सम्बन्धों को ही नियन्त्रित करती है। यह न केवल राज्य वरन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं, व्यक्तियों और कुछ गैर राज्य इकाइयों पर लागू होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून व राष्ट्रीय कानून में इस अन्तर को दृष्टिगत रखते हुए यह प्रश्न उठता है कि दोनों में किसे प्राथिमिकता दी जाय। अधिकांश विद्वानों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्राथमिकता कितनी चाहिए और राष्ट्रीय कानून वहीं तक मान्य होना चाहिए जहाँ तक वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध न हो।

राष्ट्रीय कानून व अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्राथमिकता का प्रश्न उस समय दुविधापूर्ण होता है जब किसी राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मामले के सम्बन्ध में राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अन्तर उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में न्यायालय किसे प्राथमिकता देंगे। इन सबके लिए राज्यों के व्यवहार पर विचार करना उचित होगा लेकिन इस सम्बन्ध में राज्यों के व्यवहार की विवेचना करने से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राज्य विधि के परस्पर सम्बन्धों को लेकर सैद्धान्तिक पहलू की विवेचना करना वांछनीय है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध के बारे में चार प्रमुख मत हैं-

(1) एकत्ववादी सिद्धान्त (Monistic theory)

(2) द्वैतवादी सिद्धान्त (Dualistic theory)

(3) रुपान्तरणवादी सिद्धान्त (Transformation theory)

(4) प्रत्यायोजन सिद्धान्त (Delegation theory)

(1) एकत्ववादी सिद्धान्त (Monistic theory) - इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि एक सिक्के के दो पहलू हैं। इसके समर्थकों की मान्यता है कि दोनो विधियों का विषय एक ही होता है। अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इसके अनुसार सभी बाध्यकारी नियमों पर आधारित हैं। चाहे वह राज्य पर बाध्यता आरोपित करता हो या व्यक्ति पर। राज्य के कानून की अवहेलना करना भी उसी भाँति अपराध है जिस भाँति अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना अपराध है। एकत्ववादी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि के रूप में मानते हैं तथा दोनों में कोई अन्तर नही करते हैं केल्सन के अनुसार राज्य विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि में एकता है एकत्ववादी विधि शास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राज्य विधि के नियम एक विधि की प्रणाली द्वारा आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राज्य विधि दोनों ही एक विधि के दो भाग हैं जो पूरे समुदाय पर किसी न किसी रूप में लागू होते हैं। यदि हम विधि का अन्तिम विश्लेषण करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेगें कि सब विधियों की जड़ में व्यक्ति

है अर्थात् सभी विधियाँ व्यक्तियों के लिए ही बनी हैं। यदि किसी राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही की जाती है तो अन्ततोगत्वा उसका प्रभाव व्यक्ति पर ही पड़ता है।

(2) द्वैतवादी सिद्धान्त (Dualistic theory) - इस विचारधारा को समर्थ के ट्रीपेल व एन्जीलोठी है। इस विचारधारा के समर्थक अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि को एक दूसरे से भिन्न मानते हैं। इनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून और राष्ट्रीय कानून दो भिन्न विधि व्यवस्थायें हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक भिन्न व्यवस्था होने के नाते राज्य विधि का तब तक अंग नहीं बन सकती जब तक उसे राष्ट्रीय विधि में लागू न कर दिया जाय। दोनों विधियों में कई आधारों पर भिन्नता है, जो निम्नवत् हैं-

(1) **स्त्रोतों की भिन्नता-** अन्तर्राष्ट्रीय विधि व राष्ट्रीय विधि के स्त्रोत भिन्न-भिन्न हैं। राष्ट्रीय कानून का स्त्रोत सम्बन्धित राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत विकसित परम्परायें तथा विधि निर्मात्री संस्था द्वारा बनाई गयी विधियाँ हैं जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्त्रोत विभिन्न राज्यों के मध्य विकसित परम्परायें तथा उनके द्वारा की गयी विभिन्न संधियाँ हैं।

(2) **विषय की भिन्नता-** द्वैतवादियों के अनुसार दोनों कानूनों के विषय भी भिन्न हैं। राष्ट्रीय विधि के विषय हैं एक राज्य के अन्दर रहने वाले व्यक्ति, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय राज्य हैं।

(3) **प्रकृति का अन्तर** - दोनों विधियों में मूलप्रकृति का भी अन्तर है। राष्ट्रीय कानून सम्प्रभु का आदेश होता है तथा सभी नागरिकों पर सवोच्च अधिकार रखता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की रचना विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सहमति (Commom consent) द्वारा होती है। उसके पीछे कोई सम्प्रभु नहीं होता है।

(4) **मान्यता का अन्तर** - अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विश्व समुदाय के अधिकांश राष्ट्रों की मान्यता मिलने पर ही उसका महत्व होता है, जबकि राष्ट्रीय कानून के लिए व्यक्तियों की मान्यता की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार द्वैतवादी राष्ट्रीय विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि में

अन्तर मानते हैं। राष्ट्रीय विधि का पालन अनिवार्य है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन राज्यों की इच्छा पर निर्भर हैं।

आलोचना - द्वैतवादियों के मत की एकत्ववादी मत के समर्थकों ने आलोचना करते हुए उसके दोषों का उल्लेख किया है। एकत्ववादियों के अनुसार राष्ट्रीय विधि व अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों द्वारा मिलकर ही विधिशास्त्र की रचना की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय राज्य है लेकिन व्यक्ति के बिना राज्य का महत्व नहीं है। फेनविक का कहना है कि "व्यक्तियों के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य न होते हुए भी, इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय माना जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की कई शाखाओं का सम्बन्ध राज्य से न होकर व्यक्तियों से हैं जैसे-अधिवास देश में विदेशियों के अधिकार व कर्त्तव्य। अतः राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय विधि को पृथक मानना ठीक नहीं है। फिर राज्य विधि के कई अवधारणाएं अन्तर्राष्ट्रीय विधि से ली गयी है। जैसे राज्य की परिभाषा राज्यों के अधिकार व कर्त्तव्य आदि।

(3) रुपान्तरणवादी सिद्धान्त (Transformation theory) - इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून में रूपान्तरित करके मनुष्य के व्यवहारों को नियंत्रित कर लेता है। यह सिद्धान्त संधियों से सम्बन्धित है। संधिगत नियमों के मामले में संधि का राज्य विधि में रूपान्तरण होना चाहिए। यह एक औपचारिकता नहीं अपितु एक सारभूत आवश्यकता है।

(4) प्रत्यायोजन का सिद्धान्त (Delegation theory) इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संविधानिक नियमों द्वारा प्रत्येक संविधान को यह अधिकार प्रत्यायोजित किया जाता है कि वे इस बात का निर्धारण कर सकें कि उनके राज्य में संधि के प्रावधान कब से प्रभावी होंगे और राज्य विधि में वे किस प्रकार अंगीभूत किये जायेंगे। इसके लिए राज्य जो प्रक्रिया अपनायेंगे वह अभिसमय या संधि के समापन की प्रक्रिया का ही विस्तार या निरन्तरता है कोई रूपान्तरण नहीं, नये नियमों का निर्माण नहीं है, अपितु सृजन के एक काम का मात्र विस्तार हैं।

2.4 अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय विधियों के संबंध मे विभिन्न देशों का व्यवहार-

अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के मध्य परस्पर सम्बन्धों के बारे में सैद्धान्तिक पक्ष की विवेचना के पश्चात् इन सम्बन्धों को लेकर राज्यों के व्यावहारिक पक्ष को जानना अनिवार्य है। अन्यथा इस विषय के बारे में हमारा ज्ञान एकांगी रहेगा। अतः इस विषय में राज्यों के व्यवहार की जानकारी वांछनीय है।

राज्य व्यवहार (State Practice)-अन्तर्राष्ट्रीय विधि की राज्य क्षेत्र प्रायोज्यता को लेकर हमारे अपने देश में क्या स्थिति है, इसका विवेचन करने से पूर्व अन्य देशों के इस सम्बन्ध में व्यवहार को जानना आवश्यक है। इससे तुलनात्मक अध्ययन भी संभव हो सकेगा।

ब्रिटेन में व्यवहार (Practice in Britain)- ब्रिटेन में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के नियमों में अन्तर रखा गया है। अतः अध्ययन की सुविधा हेतु इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है-

1. **अन्तर्राष्ट्रीय प्रथागत नियमों सम्बन्धी व्यवहार** - ब्रिटेन में अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओं को ब्रिटेन के राष्ट्रीय कानूनों का अंग माना जाता है। ब्रिटेन में यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि हमारी विधि का एक अंग है। ब्लेकस्टोन ने 1965 में कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश के कॉमन लॉ द्वारा स्वीकार कर लिया गया है और इंग्लैण्ड के कानून का भाग है। इसके पूर्व 1964 में ट्रिकेट बनाम बाथ मामले में लार्ड मैंस फील्ड ने लार्ड की सम्पत्ति के 1735 के मामले में उद्धृत करते हुए कहा है कि राष्ट्रों की विधि पूर्णतया इंग्लैण्ड की विधि का भाग है। लार्ड चान्सलर टालबेट ने बार बुइट नामक वाद में 1735 में कहा कि "राष्ट्रों की विधि अपने सम्पूर्ण विस्तार तक विधि है और इंग्लैण्ड की विधि का अंश है।" इसी प्रकार का मत मुख्य न्यायाधीश लॉर्ड एलवर स्टोन ने 1905 में वेस्ट रैन्ड माइनिंग कं0 बनाम दी किंग में व्यक्त करते हुए कहा कि "जिसने

सभ्य राष्ट्रों की साझा सम्मति प्राप्त कर ली है उसने हमारे देश की सम्मति अवश्य ही प्राप्त कर ली है और जिसके बारे में हमने अपनी सम्मति दूसरे राष्ट्रों के साथ सामान्यतया दे दी है, उसे हम समुचित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि पुकारेंगे और हमारे राष्ट्रीय अधिकरण उसे स्वीकृति देंगे और लागू करेंगे। ऐसे विचार युंग पी चंग बनाम दी किंग मामले में लॉर्ड एटकिन ने व्यक्त किया कि " न्यायालय उस नियमावली के अस्तित्व को मान्यता देते हैं जिसे राष्ट्र अपे मध्य स्वीकार करते हैं। किसी भी न्यायिक प्रश्न पर वे यह निश्चित करने का प्रयास करते हैं कि तत्सम्बन्धी नियम क्या है? और यह निश्चित कर लेने के बाद के इसे राष्ट्रीय विधि का भाग मानते हैं। परन्तु यह नियम संसदीय कानूनों अथवा न्यायालयों द्वारा निर्धारित नियमों के प्रतिकूल नहीं होने चाहिए।

ब्रिटेन में अन्तर्राष्ट्रीय प्रथागत नियमों और राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध के बारे में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रथागत नियम ब्रिटिश विधि व्यवस्था के अंग कहे जा सकते हैं यदि उन्हें या तो स्वयं ब्रिटेन द्वारा मान्यता दी गई हो या जिनको राष्ट्रों की व्यापक सहमति प्राप्त हो तथा ब्रिटेन के संसदीय कानूनों के प्रतिकूल न हों और उन सिद्धान्तों के प्रतिकूल न हों जिनकी घोषणा समय-समय पर न्यायिक व्याख्या द्वारा होती है। ब्रिटेन में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को न्यायालयों द्वारा लागू करने में न्यायालयों पर कुछ प्रतिबंध हैं। जैसे - कुछ कार्य जो कार्यपालिका द्वारा राज्य सम्प्रभुता के अन्तर्गत किये जाते हैं। उनमें युद्ध की घोषणा, विदेशी प्रदेश का अधिग्रहण राज्यों की मान्यता यह राजनीतिकों की उन्मुक्तियाँ आदि। इनमें न्यायालय कोई हस्तक्षेप न करके उन्हें स्वीकार कर लेते हैं।

संधियाँ और राष्ट्रीय विधि - ब्रिटेन में संधियों के सम्बन्ध में राज्य व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओं के व्यवहार से भिन्न हैं। संधियों के विषय में ब्रिटेन में व्यवहार संवैधानिक सिद्धान्त, कार्यपालिका और संसद के सम्बन्धों पर आधारित है। ब्रिटेन में संधियाँ क्राउन द्वारा की जाती है। संधियों के लिए वार्ता संधियों पर हस्ताक्षर तथा उनके अनुसमर्थन का कार्य कार्यपालिका के क्षेत्राधिकार में हैं संधियों के विषय में ब्रिटेन में व्यवहार संवैधानिक सिद्धान्त तथा कार्यपालिका और संसद के सम्बन्धों पर आधारित हैं। ब्रिटेन

में विधि में संशोधन करने का अधिकार संसद को हैं। जो संधियाँ ब्रिटेन की राष्ट्रीय विधि को प्रभावित नहीं करती उनके लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। इनमें मित्रता, शांति, तटस्थता सम्बन्धी संधियाँ हैं। लेकिन कुछ प्रकार की संधियों के लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक हैं। संसद या तो स्वीकृति प्रदान कर सकती हैं या आवश्यकता होने पर किसी अधिनियम द्वारा उनको राज्य विधि में परिणत कर सकती हैं। राष्ट्रीय विधि और संधिगत व्यवस्था में विरोध होने पर न्याय[illegible] संधिगत व्यवस्था को उस समय तक लागू नहीं कर सकते [illegible] कि संसद विधि में आवश्यक परिवर्तन न करे दे। ब्रिटिश [illegible]धि को [illegible] करने वाली संधियों में वे संधियाँ हैं जो ब्रिटेन के [illegible] अधिकारों को प्रभावित करती हैं। या कॉमन लॉ या अधिनियमों [illegible] संशोधन करती हैं या राजा अथवा रानी को अतिरिक्त श[illegible] करती हैं या जो वहाँ की सरकार पर अतिरिक्त आर्थिक [illegible] हैं।

इसके अ[illegible] संधियों में यह प्रावधान होता है कि उनको लागू [illegible] के पहले संस[illegible] सहमति आवश्यक होगी, उनको संसद की सहमति [illegible] प्राप्त करन आवश्यक है। उन संधियों के लिए भी संसद की सहमति आवश्यक है जो ब्रिटेन को भूमि आदि हस्तांतरित करती हैं। परन्तु अन्य प्रकार की संधियों के लिए संसद की सहमति की आवश्यकता नहीं है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि यदि किसी संधि तथा ब्रिटिश संसद द्वारा बनाये गये कानून में विरोध होने की स्थिति में किसकी प्राथमिकता होगी। इस विषय में हाउस ऑफ लॉर्डस ने ओस्टाइम बनाम आस्ट्रेलियन म्युचुअल प्रोविडेन्ट सोसाइटी के मामले में यह निर्णय दिया कि यदि किसी संधि को संसद के किसी कानून द्वारा लागू किया गया है तो इस प्रकार के कानून उसी विषय पर पहले के विरोधी कानून से अधिक मान्य होगा।

अमेरिका में व्यवहार (Practice in America) - अमेरिका में भी ब्रिटेन के समान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय नियमों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के विषय में भिन्न-भिन्न व्यवहार हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है:-

प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय नियम - अमेरिका में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रथागत

नियमों को वहाँ की राज्य विधि का ही एक भाग माना जाता है। पैकेट हवाना मामले में न्यायमूर्ति ने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि हमारी विधि का ही एक भाग है। जब कभी इससे सम्बन्धित प्रश्न न्यायालयों के समक्ष आते हैं, न्यायालयों का कर्त्तव्य है कि वे इसके निर्धारित एवं लागू करें। यही नहीं यहाँ व्यवहार में यह भी प्रचलन है कि संयुक्त राज्य की कांग्रेस के अधिनियमों का निर्वचन इस प्रकार किया जाय कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरोध में न हो।

लेकिन अमेरिका के न्यायालयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू किये जाने पर कुछ सीमायें हैं। प्रथम वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम अमेरिका द्वारा स्वीकार किये गये हों। द्वितीय वे संविधान के विरुद्ध न हों तथा तृतीय वे कांग्रेस द्वारा पारित उन विधियों के प्रतिकूल न तो जो कांग्रेस ने प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय नियम के विकसित होने के बाद पारित किया हो।

ब्रिटेन के न्यायालयों की भाँति अमरीकी न्यायालय भी कुछ मामलों में कार्यपालिका के निर्णयों को मानते हैं। ये मामले हैं-राज्य और सरकारों की मान्यता एक विदेशी राज्य की क्षेत्रीय सीमा तथा क्षेत्राधिकार से व्यक्तियों, निर्णयों व जहाजों की उन्मुक्ति।

संधियाँ और राष्ट्रीय विधि-संधियों के बारे में ब्रिटेन व अमेरिका के व्यवहार में अन्तर है। अमेरिकी व्यवहार ब्रिटेन के व्यवहार की भाँति कार्यपालिका के परमाधिकार शक्ति और संसद के विधायी क्षेत्राधिकार के मध्य सामंजस्य पर आधारित न होकर अमेरिकी संविधान के प्रावधानों पर आधारित है। अमेरिकी संविधान के अनुच्छेद 6 के अनुसार यह संविधान, इसके अनुसार बनाये गये संयुक्त राज्य के कानून तथा संयुक्त राज्य द्वारा की जाने वाली संधियाँ देश के सर्वोच्च कानून होंगे।'' इसका तात्पर्य यह है कि अमेरिका में संधियों का वही स्थान है जो कांग्रेस द्वारा पारित कानूनों का। अमेरिका में कोई संधि पूर्व के कानून के विरुद्ध लागू की जा सकती है लेकिन यदि संधि के बाद कांग्रेस कोई कानून बनाकर संधि के विरुद्ध व्यवस्था करती है तो न्यायालय कानून को मान्यता देंगे संधि को नहीं। अतः जो बाद का है उसे ही न्यायालय लागू करती है वह संधि हो या राष्ट्रीय विधि।

रूस - रूस में अन्तर्राष्ट्रीय संधियों व राष्ट्रीय अधिनियमों को लगभग समानता प्रदान की गई है। लेकिन दोनों में संघर्ष की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ ही अधिक मान्य होंगी। यदि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों और रूस के संविधान में संघर्ष हो तो संविधान के प्रावधान ही मान्य होंगे। रूस में प्रथागत अधिनियम तभी मान्य होते हैं जब सरकार इसका अनुमोदन कर दे।

चीनी व्यवहार-चीन लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि व राज्य विधि के मध्य सम्बन्धों के विषय में पश्चिमी राज्यों के मतों की आलोचना की हैं। उनके द्वारा यह स्वीकार नहीं किया गया है कि किसी परिस्थिति अन्तर्राष्ट्रीय विधि की राज्य विधि पर प्राथमिकता होगी। उनके अनुसार इन दोनों में संघर्ष की स्थिति में राज्य विधि ही अधिक मान्य होगी?

फ्रांस - फ्रांस के चौथे गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना में यह कहा गया है कि फ्रांसीसी गणराज्य अपनी परम्पराओं के अनुकूल अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के नियमों का आदर करेगा।

भारतीय व्यवहार - भारतीय संविधान के अध्याय चार में उल्लिखित नीति निर्देशक तत्वों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अधिक महत्व दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 51 में यह प्रस्ताव है कि राष्ट्रों को पारस्परिक व्यवहार में अंतर्राष्ट्रीय विधि तथा संधियों से उत्पन्न दायित्वों के सम्मान में वृद्धि हो। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 253 के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी संधि, समझौते अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या संस्था के निर्णय को लागू करने के लिए कानून बना सकती है और यह कानून पूरे देश में लागू होगा। इस व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि संधियाँ केवल संसदीय कानून के द्वारा ही लागू हो सकती है। उदाहरण के रूप में 1972 में लोक सभा ने वियना सम्मेलन 1961 की मूल व्यवस्थाओं को विधि का रूप देने के लिए एक अधिनियम पारित किया जिसके द्वारा राजनयिकों की उन्मुक्तियाँ व विशेषाधिकार स्वीकार किये गये।

भारत में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को सम्मान देने पर बल दिया गया है। भारतीय न्यायालयों ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। श्रीकृष्ण शर्मा बनाम पं0 बंगाल राज्य में उच्च न्यायालय ने कहा कि "राष्ट्रीय कानून की व्याख्या करते समय तथा इसे क्रियात्मक रूप देते समय न्यायालय ऐसी व्याख्या को

स्वीकार करने का प्रयास करेगा जो उन अधिकारों तथा दायित्वों का विरोध न करती हो जो अन्तर्राष्ट्रीय नियमों से निकाले गये हैं। लेकिन वे संधियाँ जिन्हें विधायिका द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है, राज्य विधि के क्षेत्र में न्यायालय द्वारा लागू नहीं की जा सकती है। मद्रास बनाम सी0जी0 मेनन के मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि भारत तथा अन्य राज्यों के मध्य प्रत्यर्पण समझौता न्यायालय द्वारा तब तक लागू नहीं किया जा सकता जब तक कि उसको संसद में अधिनियम बनाकर अंगीकृत नहीं कर लिया जाता है।

लेकिन सभी संधियों में विधायी प्रवर्तन की अपेक्षा नहीं होती कुछ संधियाँ व समझौते विधायी समर्थन के बिना भी क्रियान्वित किये जा सकते हैं। केवल वे ही संधियाँ जो लोगों के व्यक्तिगत अधिकारों को प्रकाशित करती हैं, उन्हें ही विधायी समर्थन की आवश्यकता होती है।

2.5 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण विभिन्न स्रोतों से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्रोतों से तात्पर्य उस प्रक्रिया या सामग्री से होता है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के नियम निर्मित करने के लिए प्रयोग करता है। अन्तराष्ट्रीय विधि के स्रोतों में अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय, अन्तर्राष्ट्रीय, प्रथायें, सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य नियम, न्यायालयों के निर्णय, विधिशास्त्रियों के ग्रन्थ व लेख, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंगों के निर्णय आदि हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूपों में प्रथम स्थान अन्तर्राष्ट्रीय अधिसमय का है जिनमें सभी प्रकार की संधियाँ शामिल हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो संधियाँ की जाती हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत बाध्यकारी होती हैं। ये संधियाँ कई प्रकार की होती हैं। इनमें विधि निर्माण करने वाली संधियां सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करने वाली संधियाँ तथा संविदा संधियां आदि हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय प्रथायें हैं। प्रथायें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वे नियम हैं जिनका विकास सामान्यतः एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय कानून का एक अन्य स्रोत है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के अनुसार न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाल के निर्णय इस बात को

प्रकट करते हैं कि किसी विशेष मामले पर उचित अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्या होगी। विधि शास्त्रियों की रचनायें अंतर्राष्ट्रीय कानून का स्वतंत्र स्रोत नहीं मानी जा सकती हैं। लेकिन कभी-कभी इन रचनाओं के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय प्रथाओं का विकास होता है। आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अंगों के निर्णय भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में सहायता पहुँचाते हैं। ये निर्णय प्रथा सम्बन्धी नियमों के विकास में सहायक होते हैं। संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव तथा घोषणायें भी अंतर्राष्ट्रीय कानून के स्रोत के रूप में हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि व राष्ट्रीय कानून में क्या सम्बन्ध है? इस विषय में विभिन्न मत हैं। अद्वैतवादी मत मानता है कि दोनों कानूनों में कोई अन्तर नहीं है। द्वैतवादी मत वाले दोनों में अन्तर मानते हैं। रूपान्तर मतवादी मानते हैं कि प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून को रूपान्तरित करके मनुष्य के व्यवहारों को नियंत्रित कर लेता है। प्रत्यायोजन सिद्धान्त की मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संवैधानिक नियमों द्वारा प्रत्येक संविधान को यह अधिकार प्रत्योजित किया जाता है कि उनके राज्य में संधि के प्रावधान कब से प्रभावी होंगे और राज्य विधि में वे किस प्रकार अंगीकृत किये जायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विभिन्न देशों में व्यवहार प्रायः समान हैं। ब्रिटेन तथा अमेरिका में प्रथागत कानूनों के बारे में व्यवहार समान है लेकिन संधियों के बारे में कुछ भिन्न है। कुछ देश अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून का ही एक भाग मानते हैं लेकिन वह उनके संविधान के विरुद्ध नहीं होना चाहिये।

2.6 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. John Austin : 'Lecturers on Jurisprudence' 4th edition vol.I
2. T. E. Holland : 'Jurisprudence.
3. Oppenheini, : International Law.
4. Shewarzen berger : 'The Frontiers of Internation law.
5. J. L. Brierly: 'The Basis of obligation'.
6. J. L. Brierly : 'The Out look for International law.
7. Kelsen : 'Principles of International law.'
8. Henary Maine : Ancient Law.'

9. West Lake: International law.

10. J.G. Stark : 'Interoduction to International Law.

2.7 संबंधित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख स्रोतों का विवेचन कीजिए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि के पारस्परिक संबंधों का परीक्षण कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में रूढ़ियों का क्या महत्व है?

लघु-उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत के रूप में संधियों का क्या महत्व है।
2. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण संयुक्त राष्ट्र की महासभा की क्या भूमिका है?
3. प्रत्यायोजन सिद्धान्त क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से कौन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्रोत नहीं है?

(अ) संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव

(ब) न्यायिक निर्णय

(स) धार्मिक ग्रन्थ

(द) संधियाँ

2. "अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि दो भिन्न विधि-व्यवस्थाएँ हैं।' यह मत किसका है?

(अ) द्वैतवादी

(ब) एकत्ववादी

(स) रूपान्तरवादी

(द) किसी का नहीं

2.8 प्रश्नोत्तर

1. स
2. अ

इकाई -3 : अन्तर्राष्ट्रीय विधि के 'विषय'

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय

(i) परम्परावादी दृष्टिकोण

(ii) व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य विषय

3.3 सारांश

3.4 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

3.5 सम्बन्धित प्रश्न

3.6 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

जैसा पीछे के अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है, मूल रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रभुसंपन्न राज्यों के आचरण को नियंत्रित करती है और उन्हीं पर लागू होती है। लेकिन राज्य व्यक्तियों का ही बृहद रूप है अतः व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते। इसी परिप्रेक्ष्य में विधिशास्त्रियों के सामने यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि किन पर लागू होती है अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विधि का 'विषय' क्या है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः—

- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय का वास्तविक अर्थ समझ सकेंगे।
- राज्य किन अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का 'विषय' है इसका विवेचन कर सकेंगे।
- इस दावे का कि राज्य में अतिरिक्त व्यक्ति तथा अन्य संस्थाएँ भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का 'विषय' हैं, परीक्षण कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अर्थ, स्वरूप क्षेत्र तथा स्त्रोतों की जानकारी करने के बाद उसके विषय की जानकारी करना भी अत्यन्त अनिवार्य है। 'विषय' से साधारण तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि किस के लिए है और यह किस पर लागू की जाती है इस प्रश्न को लेकर अनेक दृष्टिकोण हमारे सामने आए हैं। परम्परावादी विचार के अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है। कुछ विधिशास्त्री राज्य के साथ-साथ व्यक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानते हैं तथा कुछ राज्य, व्यक्ति व अन्य इकाइयों को भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानते हैं। राज्य, किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून किस प्रकार राज्य के अधिकार व कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है। इसका विवेचन प्रस्तुत इकाई में किया जाएगा।

राज्य के अतिरिक्त व्यक्ति किस तरह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बन गया है, इसका विस्तार पूर्वक परीक्षण किया जाएगा। राज्य और व्यक्ति के अलावा अन्य कौन-कौन विषय अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिधि में आते हैं, उनका विस्तार से वर्णन किया जाएगा।

3.2 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय (Subject of Jate Law)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय कौन हैं इसका विवेचन करने के पूर्व यह जानना अनिवार्य है कि 'विधि' के विषय से क्या तात्पर्य है। विधि के विषय वे हैं जिन्हें विधि के नियम तात्कालिक रूप से सम्बोधित हैं। किसी विधि के विरुद्ध होने का तात्पर्य उस इकाई से हैं जिसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्नर्गत अधिकार प्राप्त हों तथा उस विधि द्वारा अधिरोपित कर्त्तव्यों के अधीन हो। दूसरे शब्दों में वह विधि के अर्न्तगत अधिकारों और कर्त्तव्यों का धारणकर्त्ता होगा जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा अपने अधिकारों को लागू करने की क्षमता रखता हो जो उस विधि द्वारा मान्यता प्राप्त अन्य विषयो को सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखता है और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण में किसी न किसी अंश में भाग लेगें की क्षमता रखता हो।

इन अर्थों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत वे विषय कौन है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अधिकार प्राप्त होते हैं और उस पर कर्त्तव्य आरोपित किये जाते हैं तथा उसमें प्रक्रियात्मक क्षमता भी होती है। ओपेन हाइम के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति वह है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत विधिक व्यक्तित्व धारण करता है अर्थात् वह जो, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है उसके नाते यह स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय विधि में स्थापित अधिकारों, कर्त्तव्यों और शक्तियों का उपयोग कर सकें और जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में काम करने की क्षमता रखता हो।''

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय वह हैं (जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त है तथा जिसके कुछ निश्चित कर्त्तव्य भी है। उन अधिकारों का प्रयोग करते हुए वे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों के समक्ष अपने दावे प्रस्तुत कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय के सम्बन्ध में कई प्रकार की विचारधारायें हैं। इनका विवेचन इस प्रकार हैं :-

(i) **परम्परावादी दृष्टिकोण**-यह विचार राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानता है। इसके अनुसार राज्य न कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल राज्यों के बीच सम्बन्धों का निगमन करती है तथा राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार व कर्त्तव्य रखते हैं। यह विचार हमें ओपेन हाइम की रचनाओं में दिखाई देता है। उनके शब्दों में चूँकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्राथमिक रूप से राज्यों के बीच की विधि है अतः केवल राज्य ही उसके विषय हैं''। इसी प्रकार इनर फ्रेडरिक स्मिथ ने भी लिखा है कि ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि में केवल राज्यों को ही अधिकार प्राप्त है। केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के धारक होते हैं। एक सोवियत लेखक के अनुसार ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम अन्तर राज्य सम्बन्धों को नियमित करते हैं और राज्य के हितों को प्रभावित करते हैं। राज्यों की पारस्परिक सहमति का परिणाम होने के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम राज्यों की स्वेच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मुख्य कार्य प्रभुता संपन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित करना है और यही इसकी मुख्य विशेषता है। यदि इस विचार को स्वीकार कर लिया जाय कि राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं

तो इसका अर्थ यह होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सम्बन्ध मूलरूप से राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार है, न कि उनके नागरिकों से राज्यों को ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अधिकार व कर्त्तव्य प्राप्त होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का पालन करने का उत्तरदायित्व राज्यों का है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों को निर्माण करने की क्षमता राज्यों में है। राज्यों को ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के समक्ष अपने मामले प्रस्तुत करने का अधिकार है। जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के अनुच्छेद 34 में उल्लिखित है कि न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मामलों में केवल राज्य ही पक्षकार होंगे। केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सदस्य बन सकते हैं।

राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेते हैं। भाग लेने वाले प्रतिनिधि अपने राज्य का प्रतिनिधत्व करते हैं तथा सम्मेलन के निर्णय सम्बन्धित राज्यों पर लागू होते हैं। दूसरे राज्यों के द्वारा ही प्रतिनिधि नियुक्त किये जा सकते हैं।

दूसरे देशों में रहने वाले नागरिकों को संरक्षण राज्य के द्वारा ही दिया जाता है। युद्ध काल में राज्य ही एक दूसरे के शत्रु होते हैं और शत्रु राज्य के नागरिक भी शत्रु माने जाते हैं।

परम्परावादी मत की आलोचना-इस मत की विधि शास्त्रियों ने आलोचना की है आलोचकों का कहना है कि यह मत अन्तर्राष्ट्रीय विधि में दासों व समुद्री डाकुओं की स्थिति को स्पष्ट करने में असफल रहा है। दासों को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा संरक्षण के कई अधिकार संधियों के माध्यम से प्रदान किये गये हैं। इसी प्रकार समुद्री डाकुओं को मानवता का शत्रु माना जाता है तथा उन्हें इस अपराध के लिए राज्य द्वारा सजा दी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि समुद्री डकैती को अन्तर्सन्धीय अपराध घोषित करती है, तथा इस अपराध के लिए व्यक्तिगत दायित्व स्थिर करती है।

परम्परावादी विधिशास्त्री जो राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानते हैं, यह कहते हैं कि ये उदाहरण अपवाद हैं। उनके अनुसार वास्तव में दास व समुद्री डाकू अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय न होकर लक्ष्य है। उनके तर्क है कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के द्वारा दासों को सुरक्षा प्रदान की गई हैं, राज्यों के इस विषय में उत्तरदायित्व देते हैं। राज्यों के उत्तरदायित्व के

अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय विधि में दासों को कोई अधिकार प्राप्त न होगा। वास्तव में समुद्री डाकुओं के दण्ड और दासों की स्वतंत्रता की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा न होकर राष्ट्रीय विधि के द्वारा होती है। समुद्री डाकुओं को राष्ट्रीय नियमों के उल्लंघन के अपराध में राष्ट्रीय अंगों द्वारा दण्डित किया जाता है। इस कार्य को करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अपना कोई अंग नहीं है। ओपन हाइम ने भी यही विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार व्यक्ति को दिये जाने वाले अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार नहीं वरन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत राज्य प्रदत्त अधिकार समझे जाने चाहिए। वैस्टलेक के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत व्यक्तियो जैसे समुद्री डाकू अथवा नाकाबन्दी उल्लंघन करने वालों) को यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय माना जाता है तो केवल इसलिए कि राज्य इस हेतु सहमत हैं।"

लेकिन उपर्युक्त विचारकों का यह कहना कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लक्ष्य हैं तथा विषय नहीं हैं उचित प्रतीत नहीं होता है। ओपेन हाइम की पुस्तक 'इंटरनेशनल लॉ' के नवें संस्करण (1922) के संम्पादकों ने उनके इस मत में परिवर्तन कर दिया। अब उनके अनुसार भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि अब केवल राज्यों से ही सम्बन्धित नहीं है। अब सकारात्मक विधि के रूप में यह स्वीकार करना संभव नहीं है कि केवल राज्य ही अंन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं तथा व्यक्तियों को चाहे सीमित क्षेत्र में ही क्यों न हो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानने की स्वाभाविक स्वीकृति है। प्रो0 स्वार्जन बर्जर ने उचित लिखा है कि "यह कथन उचित नहीं है कि व्यक्ति जो समाज का आधार है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि विषय केवल लक्ष्य हो। अतः आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि इस बात को स्वीकार नहीं करती कि केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी संयुक्त राष्ट्र की सेवा में कुछ बात के लिए क्षतिपूर्ति नामक वाद में यह मत प्रकट किया है कि आज यह सार्वभौमिक रूप से स्वीकार किया जाता है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मुख्य विषय हैं परन्तु कुछ सीमा तक व्यक्ति, अंतर्राष्ट्रीय संस्थायें तथा गैर राज्य इकाइयाँ भी विषय हैं।

(ii) व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय (The Individual subject of International Law)- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के परम्परागत सिद्धान्त के विपरीत दूसरे मत के अनुसार यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विश्लेषण किया

जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं आधुनिक लेखक राज्य के स्थान पर व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानते हैं। 1914 में वैस्टले ने लिखा है था कि 'राज्यों के कर्त्तव्य व अधिकार वास्तव में उन व्यक्तियों के अधिकार व कर्त्तव्य होते हैं, जिनसे मिलकर राज्य बनता है। इस मत के प्रमुख समर्थक कैल्सन का मत है कि "अन्ततः विश्लेषण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि केवल व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं। कैल्सन के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राज्यों के कर्त्तव्य अन्तिम रूप में व्यक्तियों के कर्त्तव्य हैं। कैल्सन का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि व राज्य विधि में सही अर्थों में कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों विधियाँ व्यक्तियों पर ही लागू होती हैं। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि राज्य की विधियाँ व्यक्तियों पर प्रत्यक्ष रूप से लागू होती है' जबकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम राज्यों के माध्यम से व्यक्तियों पर लागू होते हैं। यह केवल क्रिया का अन्तर है। स्टोवेल के अनुसार व्यक्ति दो प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है। प्रथम व्यक्ति होने के नाते तथा द्वितीय अपने राष्ट्र के माध्यम से जो कि स्वयं एक अलग इकाई हैं। उन्होंने आगे लिखा है कि मूल रूप से अन्ब्रर्राष्ट्रीय विधि व्यक्तियों की विधि है, जिसको उन राज्यों की सरकारों के माध्यम से लागू कराया जाता है, जिनमें मानव संसार बँटा हुआ है। पी0 एस0 ब्राउन तथा जाज सेल भी व्यक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय मानते हैं।

आधुनिक राज्य व्यवहार में व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार व कर्त्तव्य दोनों का विषय समय-समय पर बनाया गया है। पिछली शताब्दी के मध्य के बाद की गई अधिकांश सधियों का अधिकांश भाग व्यक्तियों के अधिकारों व कर्त्तव्यों से सम्बन्धित हैं। व्यक्तियों के अनेक हितों जैसे-व्यापार स्वास्थ्य नैतिकता आदि की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय संधियों से हुई है। इनका विवरण इस प्रकार हैं-

(1) वर्साइ की संधि (1919) के अनुच्छेद 297 तथा 304 के द्वारा व्यक्तियों को न्यायिक क्षमता प्रदान की गई थी।

(2) जर्मन-पोलिथ अनुबंध (1922) के द्वारा विवाचन न्यायाधिकरण के समक्ष व्यक्तियों को आवेदन प्रस्तुत करने की क्षमता दी गई थी।

(3) राज्यों व विदेशी नागरिकों के मध्य धन-लागत सम्बन्धी विवादों के

निपटारे हेतु सम्बन्धित कन्वेंशन (1961) के द्वारा पूँजी लगाने वाले विदेशी नागरिक को विदेशी राज्य के विकास दावों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आश्रय लेना संभव है।

5. यूरोपीय साझा बाजार संधि (1957) तथा यूरोपीय परमाणु शक्ति उद्यम कर्त्ताओं को उन समुदायों के विभिन्न अंगों के निर्णय के विरुद्ध इनके सर्वोच्च अधिकारी के समक्ष आवेदन करने का अधिकार दिया गया। इनके अलावा संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1948 में मानवाधिकार सम्बन्धी घोषणा पत्र स्वीकार किया यूरोपीय महाद्वीप में मानवाधिकार सम्बन्धी 1950 के अभिसमय के अन्तर्गत पश्चिम यूरोप के नागरिकों के मूल अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण की व्यवस्था की गई। इसके अलावा व्यक्तियों को आत्मनिर्भर व स्वाशासन का अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के द्वारा प्रदान किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन के द्वारा की गई अनेक संधियाँ श्रमिक अधिकारों का संरक्षण करती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में युद्धबन्दियों से सम्बन्धित नियम, राजनयिकों को प्राप्त उन्मुक्तियाँ, घायल सैनिकों तथा- युद्ध बन्दियों से सम्बन्धित जेनेवा की संधियों में अंतर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण किया गया है।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य विषय -राज्य व व्यक्ति के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कुछ अन्य विषय भी हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ व उसके मुख्य व विशिष्ट अंग तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का अपना अलग अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व है। इनकी स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से हुई तथा इनके भी वैधानिक अधिकार व कर्त्तव्य हैं। कुछ लेखकों (स्टार्क व ओपेनहीम) ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय माना है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी अपने निर्णयों में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को एक वैधानिक इकाई के रूप में स्वीकार किया है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का विस्तृत विश्लेषण करने के वाद यह मत व्यक्त किया कि संयुक्त राष्ट्र संघ को जो अधिकार व कर्त्तव्य दिये गये हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि इस संगठन को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति माना जाना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में उपनिवेशों, संरक्षित प्रदेशों व अन्य स्वशासन रहित प्रदेशों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि निर्मात्री संधियों में

हस्ताक्षर कर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया। विश्व स्वास्थ्य संगठन में ऐसे प्रदेश भी सदस्य बन सकते हैं, जो स्वतंत्र नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार किसी राज्य की वैध सरकार का विरोध करने वाले विद्रोहियों को युद्धकारी माना जा सकता है। उनकी वैधानिक स्थिति वही होती है जो अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध में संघर्षरत राष्ट्रों की।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र में व्यक्ति के अधिकारों के साथ कर्त्तव्य भी निर्धारित किये गये हैं। 1948 के नर संहार अनुबन्ध में नर संघटक अपराध के लिए व्यक्तियों को दण्डित करने की व्यवस्था है। चाहे वे संविधान में उत्तरदायी हों या सार्वजनिक अधिकारी अथवा साधारण व्यक्ति। सशस्त्र संघर्ष में भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के उल्लंघन के लिए सैनिक तथा असैनिक अधिकारी व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होते हैं और इन्हें इसके लिए दण्डित किया जा सकता है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्धों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों की रोकथाम की व्यवस्था की गई है। इन अनुबन्धों में खोटी मुद्रा दमन (1929) मादक औषधियों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध (1936-1961) महिलाओं व बच्चों के अनैतिक व्यापार (1921,1933) तथा दासता व्यापार (1926, 1953, 1956) पर प्रतिबन्ध आदि।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय केवल राज्य ही नहीं है।

3.4 सारांश

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय से तात्पर्य उस व्यक्ति या इकाई से है जिसे कानून अधिकार प्रदान करता है तथा उसके कानून के विषय में कुछ कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व भी होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय के सम्बन्ध में तीन प्रमुख विचार हैं। प्रथम कुछ विधिशास्त्रियों के मत में केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय हैं। उनका कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित करता है, अतः राज्य ही उसके विषय हैं इस मत के समर्थक ओपेनहाइम है। इसके विपरीत दूसरे मत वाले विधिशास्त्रियों का कहना है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विश्लेषण किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि केवल व्यक्ति ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के

विषय हैं। इसके प्रमुख समर्थक केल्सन हैं। तीसरे मत के अनुसार राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मुख्य विषय हैं परन्तु वर्तमान समय में व्यक्ति, गैर राज्य इकाइयाँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं।

तीसरा मत उपर्युक्त दोनों मतों से उचित प्रतीत होता है। इस मत के समर्थन में कई तर्क दिये गये हैं। इनमें प्रथम यह कहा जाता है कि बहुत सी संधियाँ व्यक्तियों को अधिकार तथा कर्त्तव्य प्रदान करती हैं। जैसे 1949 की जेनेवा संधि द्वारा युद्ध बन्दियों को अधिकार प्रदान किये गये हैं। 1948 के जनवध अभिसमय द्वारा व्यक्तियों के कुछ कर्त्तव्य तय किये गये हैं। इसके अलावा समुद्री डाकू, विदेशी व्यक्ति, युद्ध अपराधी तथा जासूसों के सम्बन्ध में नियमों का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा किया जाता है। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि राज्यों के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें व गैर राज्य इकाइयां भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं।

3.4 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Frderiek Smith : International law.
2. Westlake : Collected Papers' PP.1-2
3. Stowell : International law.
4. Dunn : The International Rights of Individuals.

3.5 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय के रूप में राज्य कैसे है? वर्णन कीजिये।

2- व्यक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय के रूप में वर्णन कीजिए।

3- अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य नियमों का वर्णन कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1- अन्तर्राष्ट्रीय विधि का 'विषय से क्या तात्पर्य है?

2- व्यक्ति को किस कारण से अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय माना जाता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1- अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है?

(अ) राज्य

(ब) व्यक्ति

(स) संस्थाएं

(द) उपर्युक्त सभी

2- केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है, यह मत किसका है?

(अ) परम्परावादियों का

(ब) उदारवादियों का

(स) धर्माधिकारियों का

(द) किसी का नहीं

3.6 प्रश्नोत्तर

1- द

2- अ

खण्ड

2

शांति की विधि-I

इकाई-1 5

राज्य का प्रदेश तथा क्षेत्राधिकार एवं प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के प्रकार

इकाई-2 33

राष्ट्रीयता, प्रत्यर्पण एवं हस्तक्षेप

इकाई-3 55

मान्यता, राज्य-उत्तराधिकार एवं राजनयिक प्रतिनिधि

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

परिमापक

प्रो0 जी0 के0 चन्दानी	लखनऊ विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस0 एम0 सईद	अवकाश प्राप्त प्रो0 लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक

प्रो0 के0 सी0 पाण्डेय	काशी विद्यापीठ, वाराणसी

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खण्ड-2 : खण्ड परिचय - शान्ति की विधि

प्रस्तुत खण्ड शान्ति की विधि से संबंधित है। इसके अन्तर्गत उन अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का वर्णन किया जाएगा जो शान्तिकाल में विभिन्न राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को संचालित तथा नियंत्रित करते हैं। शान्ति के नियमों का दो खण्डों के अर्न्तगत अध्ययन किया जाएगा। प्रस्तुत खण्ड को तीन इकाईयों में विभक्त किया गया है।

प्रथम इकाई में 'राज्य का प्रदेश तथा क्षेत्राधिकार' और 'प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के प्रकारों' का विवेचन किया जाऐगा। द्वितीय इकाई में 'राष्ट्रीयता प्रत्यर्पण' और 'हस्तक्षेप' संबंधी नियमों का वर्णन किया जाएगा।

खण्ड की तृतीय इकाई में 'मान्यता', 'राज्य-उत्तराधिकार प्रतिनिधि मण्डल तथा राजनयिक बीजक के विषय में अध्ययन किया जाएगा।

इकाई - 1 : राज्य का प्रदेश तथा क्षेत्राधिकार एवं प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के प्रकार

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 राज्य का प्रदेश

1.3 क्षेत्राधिकार

1.4 प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के प्रकार

1.5 सारांश

1.6 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1.7 सम्बन्धित प्रश्न

1.8 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत राज्य का प्रदेश तथा क्षेत्राधिकार और प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करना है।

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- राज्य का प्रदेश तथा क्षेत्राधिकार के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के नियमों का विवरण प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

प्राचीन समय में राष्ट्रों के आपसी संबंधों को नियंत्रित करने वाले नियमों को लेटिन भाषा में Droit des gens (राष्ट्रों की विधि) कहा जाता था। जर्मी बेन्थम ने 1789 मे इसके स्थान पर Droit entere des gens

(अन्तर्राष्ट्रीय विधि) शब्द के प्रयोग को इस आधार पर उचित माना कि यह शब्द प्राचीन 'राष्ट्रों की विधि' (Droit des gens) से अधिक स्पष्ट है।

भूमंडलीकरण और उदारीकरण के आधुनिक युग में चूँकि आज देश की सीमाएँ पहले जैसी अलंघनीय नहीं रहीं प्राकृतिक संपदा ''मानवता की साझा विरासत'' हुई इसलिए आज अन्तर्राष्ट्रीय विधि पुनर्जन्म की ओर है।

विषय परिचय

शांति की विधि-। की इकाई । राज्य के प्रदेश की वैधानिक स्थिति तथा उस पर क्षेत्राधिकार संबंधी नियम प्रस्तुत करती है। इस इकाई के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि प्रदेश प्राप्त करने एवं इनके खोने के कौन-कौन से प्रकार हो सकते हैं

1.2 राज्य का प्रदेश

राज्य के आवश्यक तत्त्वों में से प्रदेश एक है। राज्य के प्रदेश को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) भूमि क्षेत्र

(2) जल क्षेत्र

(3) वायु क्षेत्र

(1) **भूमिक्षेत्र-** भूमि क्षेत्र से तात्पर्य राज्य की भूमि और उसमें स्थित नदियों, नहरों, झीलों, पर्वतों वनों खानों तथा अन्य प्राकृतिक साधनों से है। संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने अनेक प्रस्तावों में यह मत व्यक्त किया है कि किसी प्रदेश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था उस प्रदेश की जनता के निर्णयानुसार होनी चाहिए और उस प्रदेश की प्राकृतिक सम्पदा एवं उसके साधनों के दोहन पर उसका पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए।

नदियाँ- अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से नदियों के दो भेद किये जाते हैं।

(I) राष्ट्रीय नदियाँ

(II) अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ

(I) **राष्ट्रीय नदियाँ** - जब कोई नदी एक ही राज्य के प्रदेश में से होकर गुजरती है, तो वह राष्ट्रीय नदी कहलाती है। उदाहरणार्थ हिमालय में गंगोत्री से निकलकर कलकत्ता के पास समुद्र में गिरनेवाली गंगा भारत की राष्ट्रीय नदी है। राष्ट्रीय नदियों पर जिस राज्य के प्रदेश में से होकर ये नदियाँ गुजरती हैं उस राज्य की पूरी प्रादेशिक प्रभुसत्ता होती है। अतः इन राष्ट्रीय नदियों के उपयोग के संबंध में संबंधित राज्य कोई भी व्यवस्था कर सकता है।

(II) **अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ**- जब कोई नदी कई राज्यों के प्रदेश में से होकर गुजरती है तो यह अन्तर्राष्ट्रीय नदी कहलाती है। उदाहरणार्थ पंजाब की सतलज, व्यास रावी, चिनाब और झेलम का उद्‌गम तो हिमालय की पर्वतमाला में है परन्तु कुछ दूरतक भारतीय प्रदेश में बहने के बाद पाकिस्तान में चली जाती है। कई राज्यों में से होकर गुजरने वाली अन्तर्राष्ट्रीय नदियाँ राइन डैन्यूब आदि हैं। अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के उपयोग के संबंध में पाँच प्रमुख नियम हैं-

(a) अन्तर्राष्ट्रीय नदियों पर तटवर्ती और गैरतटवर्ती सभी राज्यों के यात्री जलपोतों या व्यापारिक जलपोतों को परिवहन की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए और उनके साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

(b) अन्तर्राष्ट्रीय नदियों के उपयोग के लिए आवश्यक शुल्क के अतिरिक्त अन्य कोई कर या शुल्क नहीं लगाया जाना चाहिए।

(c) अन्तर्राष्ट्रीय नदियों की व्यवस्था तटवर्ती राज्य की सहमति से की जानी चाहिए,

(d) प्रत्येक तटवर्ती राज्य अन्तर्राष्ट्रीय नदी के अपने प्रादेशिक भाग पर सार्वभौमिक अधिकार तो रखता है परन्तु उसे उपर्युक्त तीनों नियमों का आदर करना चाहिए,

(e) प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय नदी का प्रयोग इस प्रकार न करे कि अन्य तटवर्ती राज्यों को क्षति पहुँचे।

नहरें- नहरों के भी दो भेद किये जा सकते हैं-

(I) राष्ट्रीय नहरें

(II) अन्तर्राष्ट्रीय नहरें।

(I) राष्ट्रीय नहरें - किसी एक राज्य के प्रदेशों में से होकर गुजरने वाली नहरों को राष्ट्रीय नहरें कहते हैं। इन नहरों पर इस राज्य की प्रादेशिक प्रभुता होती है जिसके प्रदेशों में से होकर वे नहरें गुजरती हैं। परन्तु इन राष्ट्रीय नहरों का कोई अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व नहीं है।

(II) अन्तर्राष्ट्रीय नहरें- जो नहरें किसी एक राज्य के प्रदेश में से होकर गुजरने पर भी अनेक राज्यों के यातायात के लिए महत्पूर्ण होती हैं उनका समय-समय पर अनुबंध द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीयकरण के पश्चात् ऐसी नहरें अन्तर्राष्ट्रीय नहरें विभिन्न महासमुद्रों को जोड़नेवाली नहरें होती हैं। इनका लाभ अनेक राज्य उठाते हैं। तीन अन्तर्राष्ट्रीय नहरें हैं-

(a) पनामा नगर

(b) कील नहर

(c) स्वेज नहर

(a) पनामा नहर - यह नगर पनामा गणराज्य के प्रदेश में है। यह अन्ध महासागर को प्रशान्त महासागर से जोड़ती है। पनामा नगर की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ग्रेटब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच 1901 ई0 में हुई एक संधि के द्वारा निर्धारित की गई थी। इस संधि को हे-पौन्सेफोटे की संधि कहते हैं। इस संधि ने पनामा नहर के यातायात के नियमों की व्यवस्था प्रदान की। दो प्रमुख नियमों का प्रतिपादन हुआ-

(i) पनामा नहर - हे पौन्सेफोटे की संधि के द्वारा निर्मित नियमों का पालन करने वाले सब राष्ट्रों व्यापारिक और सामाजिक जहाजों के लिए समानता की शर्तों पर ख़ुली रहेगी।

(ii) पनामा नहर का परिवेष्टन कभी नहीं किया जायेगा इसमें शत्रुता का कोई कार्य नहीं होगा।

1903 को पनामा और संयुक्त राज्य के मध्य हुई संधि के अन्तर्गत पनामा नहर के दोनों किनारों पर संयुक्त राज्य अमरीका को नियंत्रण और प्रशासन का अधिकार दिया गया है। नहर की सुरक्षा का भार भी संयुक्त राज्य अमरीका पर है। परन्तु पनामा इस क्षेत्र से अमरीका को हटाने के लिए दृढ़ संकल्प है और 1977 में अब दोनों देश एक नये समझौते के आधारभूत सिद्धान्तों पर सहमत हो गये हैं। इस संधि के अनुसार पनामा राज्य की इस नहर पर संप्रभुता को मान्यता दी गयी है।

(b) **कील नहर** - यह नगर पूर्ण रूप से जर्मन प्रदेश में है। यह बाल्टिक सागर को उत्तरी सागर से जोड़ती है। प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व इसमें नौपरिवहन का नियंत्रण एवं नियमन करने का जर्मनी को पूर्ण अधिकार था परन्तु 1919 की वार्साई की संधि ने कील नहर के यातायात के नियमों की व्यवस्था प्रदान की। दो प्रमुख नियमों का प्रतिपादन हुआ।

(i) जर्मनी के साथ लड़ाई न रखने वाले सभी राज्यों के व्यापारिक और रणपोतों के लिए कील नहर समानता के आधार पर खुली रहेगी,

(ii) कील नहर के उपयोग के लिए, इसमें नौपरिवहन की व्यवस्था अथवा उसमें सुधार के लिए आवश्यक शुल्क को छोड़कर अन्य कोई शुल्क अथवा कर नहीं लगाया जा सकेगा।

1923 में बिंबिल्डन के मुकदमें में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कील नहर की स्थिति पर प्रकाश डाला। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना निर्णय देते हुए कहा कि वार्साई की सन्धि द्वारा कील नहर ऐसे सब राष्ट्रों के जहाजों के लिए खुली रखी गयी है, जो जर्मनी के साथ शान्तिपूर्वक रहते हों, वे आपस में किसी दूसरे युद्ध में संलग्न हो सकते हैं, किन्तु इसमें तटस्थ रहने वाला जर्मनी इन राज्यों को जानेवाले जहाज नहीं रोक सकता। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने कहा कि जब कोई दो समुद्रों को मिलाने वाला कृत्रिम जलमार्ग स्थाई रूप से संसार के प्रयोग के लिए समर्पित कर दिया

जाता है तो ऐसा जलमार्ग प्राकृतिक जलदमरूस्थल के तुल्य हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि इस जलमार्ग से युद्धकारी जलपोत के गुजरने से भी प्रादेशिक राज्य की तटस्थता भंग नहीं होती। जर्मनी ने 1937 में यह घोषणा की कि प्रत्येक विदेशी जहाज को जल में प्रवेश करने की अनुमति जर्मनी से लेनी होगी। आधुनिक काल में यह नहर सभी देशों के जलयानों के लिए खोल दी गयी है।

(c) **स्वेज नहर**-स्वेज नहर संयुक्त अरब गणराज्य के प्रदेश में है। यह भूमध्यसागर और लालसागर को मिलाता है। इस नहर के संबंध में 29 अक्टूबर 1888 को कुस्तुनतुनिया का समझौता हुआ जिसमें ग्रेटब्रिटेन आस्ट्रिया, स्पेन, हंगरी, फ्रांस, जर्मनी हालैण्ड, इटली टर्की ने भाग लिया। इस समझौते की मूल व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं-

(i) स्वेज नहर युद्ध और शांतिकाल दोनों में सब राष्ट्रों के व्यापारिक जहाजों और युद्धपोतों के लिए बराबर खुली रहेगी, इसका परिवेष्टन कभी नहीं होगा,

(ii) नहर के अन्दर या इसके बन्दरगाहों से तीन मील की दूरी तक शत्रुता का कोई कार्य नहीं होगा प्रत्येक युद्धपोत को नहर में प्रवेश के 24 घंटे की भीतर नहर छोड़ देनी होगी। नगर या इसके बन्दरगाहों में युद्ध सामग्री को लादा या उतारा नहीं जा सकता।

(iii) समझौते पर हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य नहर में अपने दो युद्धपोत रख सकते हैं परन्तु युद्धरत राज्य इन बन्दरगाहों में कोई युद्धपोत नहीं रख सकते।

स्वेज नहर के संबंध में 26 अगस्त 1936 को मिस्र तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच एक संधि हुई थी जिसमें यह स्वीकार किया गया था कि-

(i) स्वेज नहर मिश्र का अभिन्न भाग है,

(ii) स्वेज नगर ब्रिटिश साम्राज्य के विविध भागों के मध्य संचार का आवश्यक साधन है।

(iii) स्वेज नहर की सुरक्षा का भार संयुक्त रूप से ब्रिटेन और मिश्र की सेनाओं पर होगा।

1954 के एक समझौते के अन्तर्गत ब्रिटिश सेनाएँ स्वेज नहर क्षेत्र से हटा ली गईं परन्तु कुछ परिस्थितियों में मिस्र ने उन्हें अनेक सुविधाएँ देना स्वीकार किया। 1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण और 1954 के समझौते को भंग कर देने की घोषणा की। परन्तु 1956 की घटनाओं का स्वेज नहर की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी मिश्र ने इसरायली जलपोतों तथा इजरायल को माल ले जाने वाले जहाजों को नहर से गुजरने पर प्रतिबंध लगाया है। सुरक्षा परिषद् ने 1951 में मिस्र के इस कार्य की भर्त्सना की थी, परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं हुआ।

(2) **जल क्षेत्र** -जल क्षेत्र के अन्तर्गत प्रादेशिक समुद्र, जलडमरूमध्य, खाड़ी, आरवात, बन्दरगाह, संस्पर्शी क्षेत्र, महाद्वीपीय समुद्रतल आदि आते हैं।

प्रादेशिक समुद्र - समुद्र तटवर्ती राज्य समुद्र तट से कम से कम तीन् मील की दूरी तक अपनी सीमा निर्धारित करते हैं। समुद्र जल की इस पट्टी को प्रादेशिक समुद्र कहते हैं। प्रादेशिक समुद्र, उसकी तलहटी तथा उसके ऊपर का वायुक्षेत्र राज्य की संप्रभुता के अधीन होते हैं। प्रादेशिक समुद्र के संबंध में दो विषय विशेष रूप से विचारणीय है-

(i) प्रादेशिक समुद्र की आधार रेखा,

(ii) प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई।

प्रादेशिक समुद्र की आधार रेखा निम्न जल चिन्ह होती है। निम्न जलचिन्ह समुद्र के भाटे में पानी हटने की सबसे पिछली रेखा होती है। परन्तु यदि तट बहुत अधिक कटा-फटा हो अथवा तट के समीप दीपमालाएँ हों तो तट अथवा द्वीपों के उपयुक्त सिरों को मिलाकर जो सीधी रेखा खींची जायेगी वही प्रादेशिक समुद्र की आधार रेखा होगी।

प्रादेशिक समुद्र की चौड़ाई अनिश्चित थी। कुछ राज्य केवल 3मील, अधिकांश राज्य 12 मील और कुछ दक्षिणी समुद्र अब समुद्री विधि संबंधी अभिसमय 1982 के अनुच्छेद 3 में इसकी चौड़ाई 12 मील कर दी गयी है।

जलडमरुमध्य - वे जलमडरूमध्य जो 6 मील से अधिक चौड़े नहीं होते वे प्रादेशिक समुद्र के अंग होते हैं। 6 मील से अधिक चौड़ाई के जलडमरूओं के संबंध में विधिशास्त्रियों में मतभेद है।

खाड़ियाँ और आरवात- खाड़ियाँ और आरवात के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का यह सुझाव है कि इसके उतने भाग का ही पानी आन्तरिक या प्रादेशिक समझा जाना चाहिए जिसका मुहाना 15 मील से अधिक चौड़ा नहीं।

बन्दरगाह - बन्दरगाह वास्तविक स्वत्ववाले राज्य के अधीन होते हैं परन्तु उन पर विदेशी पोतों के आवागमन की भी व्यवस्था रहती है।

संस्पर्शी क्षेत्र - संस्पर्शी क्षेत्र के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग का यह सुझाव है कि इसकी दूरी 12 मील से अधिक नहीं होनी चाहिए, इनमें नियंत्रण और निरीक्षण के सामान्य अधिकार होने चाहिए।

महाद्वीपीय समुद्रतल-समुद्र-विधि पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय, 1982 के अनुच्छेद 76(1) के अनुसार महाद्वीपीय समुद्र तल राज्यक्षेत्रीय समुद्रतल के बाहर समुद्रतल तथा उपभूमि का वह भाग है जो भूमिक्षेत्र का प्राकृतिक प्रसार है तथा जो महाद्वीपीय सीमा के बाह्य किनारे तक जाता है तथा जहाँ महाद्वीपीय सीमा वाह्य किनारा 200 मील से कम है। वहाँ महाद्वीपीय समुद्र तल 200 मील तक होगा। अनुच्छेद 76(5) में यह स्पष्ट किया गया है कि महाद्वीपीय समुद्र तल की बाहरी सीमा उस आधार रेखा से, जिससे सामुद्रिक पेटी नापी जाती है, किसी भी दशा में 350 मील से अधिक नहीं होगी।

(3) वायु क्षेत्र- किसी राज्य के भूभाग एवं प्रादेशिक समुद्र के ऊपर का क्षेत्र वायुक्षेत्र कहलाता है। गार्नर ने वायुक्षेत्र को तीन भागों में बाँटा

है-

(i) उच्चतम भाग-यह वायु की कमी और तापमान की अधिकता वाला क्षेत्र है। अन्तरिक्ष इसी भाग के अन्तर्गत है।

(ii) निम्नतम भाग-यह भूमि के ऊपर का 330 मीटर तक का क्षेत्र है।

(iii) मध्यवर्ती भाग-यह हवाई यातायात और रेडियो के संदेश-प्रेषण हेतु उपयुक्त क्षेत्र है।

वायुक्षेत्र के निम्नतम और मध्यवर्ती भाग पर संबंधित राष्ट्र का पूर्ण अधिकार होता है, उसकी अनुमति के बिना किसी भी राष्ट्र का वायुयान उसमें प्रवेश नहीं कर सकता। वायुक्षेत्र के उच्चतम भाग के विषय में मतभेद है। एक विचारधारा यह है कि अधःस्थित राज्य का क्षेत्राधिकार आकाश में अपरिमित ऊँचाई तक रहता है तो दूसरी विचारधारा यह है कि सम्प्रभुता अंतरिक्ष पर लागू नहीं होती।

1944 के शिकागो सम्मेलन में वायुक्षेत्र की पाँच स्वतंत्रताओं पर विचार-विमर्श किया गया था-

(i) विदेशी वायुक्षेत्र से बिना उतरे उड़ान भरने की स्वतंत्रता,

(ii) बिना यातायात के उद्देश्य से उतरने की स्वतंत्रता,

(iii) वायुयान से संबंधित देश का माल दूसरे देश में उतारने की स्वतंत्रता,

(iv) लौटते समय अपने देश के लिए यात्रियों तथा माल लादने की स्वतंत्रता

(v) दो विदेशी देशों के बीच माल ले जाने की स्वतंत्रता।

इन स्वतंत्रताओं में से केवल प्रथम दो के विषय में अधिकांश राज्यों की सहमति प्राप्त हो सकी। यह सहमति संहिताबद्ध करने के लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके अतिरिक्त एक अन्य समझौते में पाँचों स्वतंत्रताओं की व्यवस्था की गई थी, परन्तु केवल 19 राज्यों ने ही इसे स्वीकार किया।

1.3 क्षेत्राधिकार

राज्य के क्षेत्राधिकार में वे सब व्यक्ति, वस्तुएँ एवं घटनाएँ आती हैं जिनका राज्य से कोई न कोई संबंध हो। क्षेत्राधिकार के संबंध में चार सिद्धान्त हैं-

(1) प्रादेशीयता का सिद्धान्त,

(2) राष्ट्रीयता का सिद्धान्त,

(3) सुरक्षात्मक सिद्धान्त,

(4) सार्वदेशीयता का सिद्धान्त।

(1) प्रादेशीयता का सिद्धान्त-इस सिद्धान्त के अनुसार जिस राज्य की प्रादेशिक सीमा में व्यक्ति, वस्तु एवं घटना है उस पर उसी राज्य का क्षेत्राधिकार होगा। फलस्वरूप क्षेत्राधिकार प्रादेशीयता से निर्धारित होगा। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति किसी राज्य में अपराध करता है तो उस अपराधी पर क्षेत्राधिकार अपराध के स्थान से निर्धारित होगा।

प्रादेशियता के सिद्धान्त के दो भेद किये गये हैं-

(a) कर्तृगत प्रादेशीयता का सिद्धान्त

(b) कर्मगत प्रादेशीयता का सिद्धान्त

कर्तृगत प्रादेशीयता के सिद्धान्त के अनुसार किसी राज्य को ऐसे अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार है जिन्होंने अपने अपराधों का कार्यरम्भ तो उसी राज्य में किया किन्तु उसकी पूर्ति दूसरे राज्यों में की। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति पाकिस्तान में जाली भारतीय सिक्के बनाकर भारत में उनका प्रचार करे तो पाकिस्तान को ऐसे व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार है क्योंकि कार्यारम्भ पाकिस्तान में हुआ और उसकी पूर्ति भारत में।

कर्मगत प्रादेशीयता के सिद्धान्त के अनुसार किसी राज्य को ऐसे अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार है जिन्होंने अपराध तो किसी अन्य राज्य में से किया परन्तु उस अपराध से प्रभावित होनेवाला कर्म दूसरे राज्य

की सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया।

(2) **राष्ट्रीयता का सिद्धान्त** - इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के नागरिक विश्व में कहीं भी रहने पर उस राज्य के क्षेत्राधिकार में होते हैं। फलस्वरूप क्षेत्राधिकार राष्ट्रीयता से निर्धारित होता है।

राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी प्रदेश पर विदेशी सैनिक का आधिपत्य स्थापित हो जाता है तो उस विदेशी सैनिक शासन का साथ देना अपराध है। ऐसी स्थिति में यदि साथ दिया जाता है तो सैनिक आधिपत्य समाप्त होने पर ऐसे व्यक्तियों को दण्डित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ जर्मन आधिपत्य प्रशासन से सहयोग करने के कारण फ्रांस में मार्शल पिटेन तथा अनेक व्यक्तियों को दण्डित किया गया था बंगलादेश ने तो पाकिस्तानी अधिकारियों का भी साथ देने के लिए बंगालियों को दण्डित किया जबकि ये बंगाली उस समय पाकिस्तानी नागरिक ही थे।

(3) **सुरक्षात्मक सिद्धान्त** - इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कोई अपराध किसी राज्य की सुरक्षा के लिए घातक हो तो ऐसा अपराध, राज्य की सीमा के बाहर विदेशियों द्वारा किये जाने पर भी उस राज्य के क्षेत्राधिकार में आ जाता है। जिसकी सुरक्षा के लिए वह अपराध घातक रहा। उदाहणार्थ फ्रांस की दण्ड संहिता विदेशियों द्वारा फ्रांसीसी प्रादेशिक सीमा के बाहर फ्रांस की सुरक्षा के विपरीत अपराध करने, जाली राजकीय मोहर बनाने अथवा जाली फ्रांसीसी सिक्के अथवा नोट बनाने के लिए फ्रांसीसी कानूनों के अनुसार दण्डित करने की व्यवस्था करती है। यदि वे फ्रांस में पकड़े जाये या सरकार उनका प्रत्यर्पण करा सके। परन्तु जहाँ राष्ट्रीय हित पर आघात पहुँचता है वहीं सुरक्षात्मक सिद्धान्त लागू होता है। सुरक्षात्मक सिद्धान्त के इस उद्देश्य को प्रमुख रूप से ध्यान दिया जाता है। सुरक्षा शब्द का अधिक व्यापक अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए। सुरक्षात्मक सिद्धान्त के राष्ट्रीय हितवाले उद्देश्य से विहीन यदि सुरक्षा शब्द का अधिक व्यापक अर्थ लगाकर क्षेत्राधिकार का दावा किया गया तो यह

अनुचित होगा। एकहर्स्ट के अनुसार यदि किसी राज्य से प्रकाशित कोई समाचार पत्र किसी दूसरे राज्य की आलोचना करता है तो इस दूसरे राज्य का इस पत्र के संपादक को दण्डित करने के लिए क्षेत्राधिकार का दावा करना अनुचित होगा। वस्तुतः सुरक्षात्मक सिद्धान्त का उद्देश्य राष्ट्रीय हित पर आघात पहुँचने पर क्षेत्राधिकार का दावा प्रस्तुत करना है। समाचार पत्र के द्वारा की गई आलोचना राष्ट्रीय हित पर आघात नहीं पहुँचाती। अतः इस संदर्भ में क्षेत्राधिकार का दावा करना अनुचित होगा। राष्ट्रीय हित पर आघात पहुँचाने वाले अनेक ऐसे अपराध हैं जिस पर आघात से प्रभावित राज्य क्षेत्राधिकार का दावा किये। उदाहरणार्थ 1965 में यूरोपीय राज्यों ने एक समझौते के अन्तर्गत प्रादेशिक समुद्र की सीमाओं से परे स्थित जलपोतों पर से रेडियो प्रसारण को रोकने के लिए तटवर्ती क्षेत्राधिकार की व्यवस्था स्वीकार की थी। 1967 में ग्रेट ब्रिटेन में ऐसे प्रसारणों का दमन करने के लिए संसद द्वारा कानून भी पारित किया गया था। अमरीकी न्यायालयों ने 1960 और 1970 में अपने निर्णयों के द्वारा उन विदेशियों के विरुद्ध क्षेत्राधिकार ग्रहण किया है जिनके विरुद्ध क्रमशः अप्रवासन आवेदन पत्रों में झूठ वक्तव्य देने और विदेशों में अपनी धन-सम्पत्ति सम्बन्धी सूचना छिपाने का दोषारोपण था।

(4) **सार्वदेशीयता का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त के अनुसार कुछ ऐसे अपराध हैं जिन पर सभी राज्यों का क्षेत्राधिकार स्वीकार किया जाता है। उदाहरणार्थ महासमुद्र में कोई भी राज्य जल-दस्युओं को पकड़कर दंडित कर सकता है। इसके अतिरिक्त दास-व्यापार मादक द्रव्यों का व्यापार, नारियों का व्यापार आदि कुछ ऐसे अपराध हैं जिन पर प्रत्येक राज्य का क्षेत्राधिकार समझा जाता है।

2. **राज्य के जल प्रदेश में क्षेत्राधिकार** राज्य के जल प्रदेश के दो भाग हैं-

(a) आन्तरिक जलक्षेत्र में क्षेत्राधिकार

(b) प्रादेशिक समुद्र में क्षेत्राधिकार।

आन्तरिक जलक्षेत्र में जितने भी विदेशी जलपोत होते हैं उन पर तटवर्ती राज्य का क्षेत्राधिकार होने के कारण तटवर्ती राज्य उन पर अपना कानून लागू कर सकता है। परन्तु तटवर्ती राज्य के क्षेत्राधिकार के साथ ही जलपोत पर ध्वजराज्य का भी क्षेत्राधिकार होता है। अतः तटवर्ती राज्य के विदेशी जलपोत पर अपने राज्य के क्षेत्राधिकार के साथ ही ध्वजराज्य के क्षेत्राधिकार का भी ध्यान रखना होता है। इसीलिए जबतक कि तट की शांति-व्यवस्था भंग न हो अथवा पुलिस की सहायता न मांगी गई हो, तटवर्ती राज्य जलपोत पर हुई घटनाओं में हस्तक्षेप नहीं करते।

प्रादेशिक समुद्र में तटवर्ती राज्य का क्षेत्राधिकार होता है परन्तु प्रादेशिक समुद्र महासमुद्र का भाग होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग का अभिन्न अंग होने से किसी राज्य के प्रादेशिक समुद्र से निर्दोष गमन कर सकने का अधिकार सभी राज्यों को है। निर्दोष गमन का तात्पर्य यह है कि गमन तटवर्ती राज्य की सुरक्षा, शांति और सुव्यवस्था के प्रतिकूल न हो।

जलडमरूमध्य में क्षेत्राधिकार के संदर्भ में नियम यह है कि तटवर्ती राज्य ऐसे जलडमरूमध्य से निर्दोष गमन का अधिकार निलंबित नहीं कर सकता जो महासमुद्र के एक भाग से दूसरे भाग को अथवा किसी राज्य के प्रादेशिक समुद्र को जाने का जलमार्ग हो। कोर्फू चैनल के मुकदमें में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 1949 में यह निर्णय दिया था कि यह असमान्यतः स्वीकार किया जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा के अनुकूल है कि शांतिकाल में राज्य ऐसे जलडमरूमध्य से बिना तटवर्ती राज्य के पूर्वानुमति प्राप्त किये अपने युद्धपोत भेज सकते हैं जो जलडमरूमध्य सहासमुद्र के दो भागों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय नौपरिवहन के लिए प्रयुक्त होते हैं, यदि उनका गमन निर्दोष हो। जब तक किसी अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंध में विपरीत व्यवस्था न की गई हो, तटवर्ती राज्य को जलडमरूमध्य से शांतिकाल में गमन निषेध करने का कोई अधिकार नहीं होता।

प्रादेशिक समुद्र की सीमा में युद्धपोत पर किये गये अपराधों के लिए युद्धपोत के कर्मी तटवर्ती राज्य के क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त होते हैं परन्तु

ध्वजराज्य के क्षेत्राधिकार के अधीन होते हैं। परन्तु ध्वजराज्य चाहे तो उनकी इस उन्मुक्ति का त्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त विपत्ति में शरण लेनेवाले जलपोत को कुछ सीमा तक तटवर्ती क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त समझा जाता है।

तटवर्ती राज्य का अपने प्रादेशिक समुद्र में मत्स्यहरण, समुद्रतल की संपदा, प्रादेशिक समुद्र के ऊपर का वायुक्षेत्र पर तथा तट के एक भाग से दूसरे भाग को यात्री और माल ले जाने पर क्षेत्राधिकार होता है।

तटवर्ती राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र में नौपरिवहन, स्वास्थ्य, सीमाशुल्क, अप्रवास संबंधी अधिनियम लागू कर सकता है जिनका विदेशी जलपोतों द्वारा आदर किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त तटवर्ती राज्य, यदि सुरक्षा के लिए आवश्यक हो तो प्रादेशिक समुद्र के निर्धारित भागों से निर्दोष गमन अस्थाई रूप से वर्जित कर सकता है परन्तु यह प्रतिबन्ध बिना भेदभाव के लागू किया जाना चाहिए। प्रादेशिक समुद्र में निर्दोष गमन के लिए कोई कर या शुल्क वसूल नहीं किया जा सकता।

(c) **महासमुद्र में क्षेत्राधिकार-** महासमुद्र का अभिप्राय प्रादेशिक समुद्र की सीमा के आगे के जलक्षेत्र से हैं। प्राचीन समय के राज्य अपने निकटवर्ती समुद्र को अपने क्षेत्राधिकार में समझते थे। उदाहरणार्थ. स्वीडन बाल्टिक समुद्र पर, इंग्लैण्ड नार्थ सी और एटलांटिक सागर के भागों पर पुर्तगाल हिन्दमहासागर और एटलांटिक सागर के अधिकांश भाग पर तथा स्पेन संपूर्ण प्रशांत सागर पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा करते थे। इन दावों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, और वाणिज्य में गतरोध उत्पन्न होने लगा। इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप 'मुक्त सागर' अथवा 'खुला समुद्र' की धारणा का उदय हुआ जिसके अनुसार आधुनिक समय में महासमुद्र किसी राज्य विशेष की प्रभुसत्ता से मुक्त तथा सभी राज्यों के लिए समान रूप से खुला हुआ समझा जाने लगा।

(i) **खुले समुद्र की स्वतंत्रता-** 1958 में खुले समुद्र पर जेनेवा में एक संधि की गई जिसके अनुच्छेद 1 के अनुसार "खुले

समुद्र का अर्थ समुद्र के उस हिस्से से है जो कि सामुद्रिक पेटी या किसी देश के आंतरिक जल में नहीं है। इस संधि के अनुच्छेद-2 के अनुसार खुला समुद्र सभी राज्यों के लिए खुला हुआ है तथा इसके किसी भाग पर किसी देश की प्रभुसत्ता स्थापित नहीं हो सकती है।

1958 का जेनेवा कन्वेंशन खुले समुद्र की चार स्वतंत्रताओं का वर्णन करता है-

(a) नौपरिवहन की स्वतंत्रता

(b) मछली पकड़ने की स्वतंत्रता

(c) समुद्री तल में केबिल और पाइप लाइन बिछाने की स्वतंत्रता

(d) खुले समुद्र के ऊपर वायु क्षेत्र में उड़ान की स्वतंत्रता।

समुद्र विधि पर संयुक्त राष्ट्र अभिसमय, 1982 के भाग 7 के अनुसार खुले समुद्र की छः स्वतन्त्रताएँ होंगी-

(a) नौ-परिवहन की स्वतंत्रता,

(b) ऊपर उड़ान की स्वतंत्रता

(c) केबिल तथा पाइप-लाइन बिछाने की स्वतंत्रता

(d) अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा स्वीकृत द्वीप आदि बनाने की स्वतंत्रता,

(e) मछली पकड़ने की स्वतंत्रता,

(f) वैज्ञानिक खोज की स्वतंत्रता।

(ii) **खुले समुद्र में जलदस्युता** - 1958 के जेनेवा कन्वेंशन के अनुसार खुले समुद्र में किसी निजी जलपोत या वायुयान के कर्मियों या यात्रियों द्वारा स्वार्थ सिद्धि के लिए किसी दूसरे जलपोत या वायुयान या उस पर सवार व्यक्तियों या वस्तुओं के विरुद्ध हिंसा, अवरोध या लूटमार की अवैध क्रियाओं को जलदस्युता कहा जायेगा। प्रत्येक राज्य जलदस्युपोत या जलदस्युयान को महासमुद्र में भी पकड़कर उस पर सवार व्यक्तियों एवं वस्तुओं को गिरफ्तार कर

उनके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। उनको पकड़ने का कार्य केवल युद्धपोतों सैनिकयानों या अधिकृत सार्वजनिक जलपोतों या वायुयानों द्वारा किया जा सकता है।

(iii) खुले समुद्र में तीव्र पीछा-प्रत्येक राज्य अपने कानूनों एवं अधिनियमों का उल्लंघन करने वाले विदेशी जहाजों को प्रादेशिक समुद्र के आगे भी पीछा करके उसे पकड़ सकता है। परन्तु इसके लिए चार शर्तें हैं-

(a) यह पीछा उस समय प्रारम्भ हुआ तो जब विदेशी जहाज प्रादेशिक समुद्र अथवा आंतरिक जलक्षेत्र में हो।

(b) पीछा निरंतर एवं निर्बाध हो,

(c) पीछा से पहले रुकने की चेतावनी दी गई हो,

(d) पीछा करने वाला जहाज युद्धपोत सैनिक विमान अथवा अधिकार सम्पन्न गश्ती जहाज हो।

(iv) खुले समुद्र में तस्करी रोकना-राज्य अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा से आगे खुले समुद्र मे भी उन विदेशी जहाजों के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार करते हैं जो उनके प्रदेश में तस्करी करने का प्रयत्न रखते हैं इस संबंध में ग्रेस और रूबी के मुकदमें में एक अमरीकी न्यायालय ने 1922 में यह निर्णय दिया कि खुले समुद्र किसी राष्ट्र के प्रदेश में नहीं है। राज्य अपने कानून वहाँ लागू नहीं कर सकता। वह सब राज्यों के जलपोतों के लिए मुक्त है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई राज्य अपने कानूनों का उल्लंघन करने वाले जलपोतों के विरुद्ध जब तक वे तीन मील के परे रहते हैं, कार्यवाही नहीं कर सकता।

(v) खुले समुद्र में नाभिकीय परीक्षणों एवं शास्त्रों के रखने पर प्रतिबन्ध-10 फरवरी 1971 के संयुक्त राष्ट्र महासभा ने एक सन्धि ग्रहण की जिसके अनुसार खुले समुद्र के तल में नाभिकीय अस्त्र एवं सामरिक महत्व के अस्त्र रखना निषेध है।

3. **राज्य के वायुक्षेत्र में वायुयानों पर क्षेत्राधिकार-** राज्य के वायुक्षेत्र में विदेशी वायुयानों पर क्षेत्राधिकार की एक नवीन समस्या विमानापरहण के संबंध में उत्पन्न हुई है। इस विमानापहरण से संबंधित समस्या के समाधान हेतु तीन महत्वपूर्ण प्रयास किये गये हैं-

(a) टोक्यो कन्वेंशन 1963,

(b) हेग कन्वेंशन 1970,

(c) माँन्ट्रियल कन्वेंशन 1971

टोक्यो कन्वेंशन 1963 में राज्यों के वायुक्षेत्र में वायुयान पर चार क्षेत्राधिकार की व्यवस्था की गयी-

(i) वायुयान का पंजीकर्त्ता राज्य विमानापहरण से संबंधित अपराधियों के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है।

(ii) टोक्यो कन्वेंशन 1963 में हस्ताक्षरकर्त्ता कोई भी राज्य इन अपराधियों को गिरफ्तार कर इनका प्रत्यर्पण कर सकता है अथवा इनके विरुद्ध फौजदारी कार्यवाही कर सकता है।

(iii) प्रत्यर्पण हेतु वायुयान पर हुआ अपराध उस वायुयान के पंजीकर्त्ता राज्य के प्रदेश में हुआ अपराध माना जायेगा।

(iv) इन अपराधियों पर वे राज्य भी अपने क्षेत्राधिकार का दावा कर सकेंगे जो राष्ट्रीयता का सिद्धान्त अथवा कर्मगत प्रादेशीयता के सिद्धान्त का पालन करते हैं। टोक्यों कन्वेंशन 1963 में विमान अपहर्त्ताओं को दण्ड हेने हेतु संतोषजनक व्यवस्था नहीं रही। फलस्वरूप 16 दिसम्बर 1970 को हेग में 48 राज्यों के प्रतिनिधियों ने एक अन्य कन्वेंशन पर हस्ताक्षर किये जिसकी मुख्य व्यवस्थाएँ छः हैं-

(i) हेग कन्वेंशन 1970 में हस्ताक्षर करनेवाला प्रत्येक राज्य विमानापहरण को अपराध मानकर दण्ड की व्यवस्था करेगा,

(ii) प्रत्येक हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य विमानापहरण अथवा विमान यात्रियों या कर्मियों के विरुद्ध दो दशाओं में कार्यवाही कर सकेगा।

1. यदि अपराध उसी राज्य में पंजीकृत विमान पर हुआ है,

2. जिस विमान पर अपराध हुआ है यदि वह विमान अपराधी सहित राज्य के प्रदेश में उतरता है।

(iii) प्रत्येक हस्ताक्षरकर्त्ता राज्य अपराधी को अपने प्रदेश में विद्यमान होने की दशा में या तो दण्ड देगा या प्रत्यर्पण करने की व्यवस्था करेगा।

(iv) प्रत्येक हस्ताक्षरकर्ता राज्य विमानापहरण को भी प्रत्यर्पण योग्य अपराधों की सूची में सम्मिलित करेगा।

(v) अपराध के विरुद्ध की गई फौजदारी कार्यवाही में हस्ताक्षरकर्ता राज्य एक दूसरे को यथासंभव सहायता देगा।

(vi) विमानापहरण से संबंधित फौजदारी क्षेत्राधिकारी का दावा राष्ट्रीय कानून के अनुसार भी किया जा सकेगा।

हेग कन्वेंशन 1970 में विमान को नष्ट करने अथवा नष्ट करने के लिए प्रयासों और विमान पर किसी व्यक्ति के विरुद्ध किये गये हिंसात्मक कार्यों के विरुद्ध कोई व्यवस्था नहीं थी। फलस्वरूप 25 सितम्बर 1971 को मांट्रियल में 37 राज्यों के प्रतिनिधियों ने एक अन्य कन्वेंशनपर हस्ताक्षर किये। इसे मांट्रियल कन्वेंशन करते हैं।

मांट्रियल कन्वेंशन 1971 ने हेग कन्वेंशन 1970 की सभी व्यवस्थाओं को विमान, विमान की उड़ान तथा विमान पर सवार व्यक्तियों की सुरक्षा के विरुद्ध किये गये हिंसात्मक कार्यों पर भी लागू किया।

वायुक्षेत्र में अपराधों को समाप्त करने हेतु चार सुझाव दिये गये हैं-

(i) सभी राज्यों द्वारा हेग और मांट्रियल कन्वेंशन की शीघ्रातिशीघ्र संपुष्टि की जाय।

(ii) हेग और मांट्रियल कन्वेंशन की व्यवस्थाओं के अनुसार विमानअपहर्त्ताओं को दण्ड देना अथवा उनका प्रत्यर्पण करना जो राज्य स्वीकार न करे उनके विरुद्ध बाध्यकारी उपाय लागू की जाय।

(iii) विमानापहरण को समाप्त करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन द्वारा पूर्वोपाय संबंधी एक अंतर्राष्ट्रीय नियमावली निर्मित की जाय।

(iv) विमानापहरण, अपहरण आतंक आदि अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों के दण्ड हेतु अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को क्षेत्रीय व्यवस्थाएँ स्थापित करने के संबंध में विचार करने के लिए कहा जाय।

1.4 प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के प्रकार

किसी राज्य द्वारा प्रदेश प्राप्त करने के प्रकार हैं-

(a) अधिभोग (occupation)

(b) चिरभोग (Prescription)

(c) अनुवृद्धि (Auction)

(d) अध्यर्पण (Cession)

(e) उपाबद्ध (Annexation)

(f) न्याय निर्णयन और पंचाट (Judicial Descision and Award)

(g) पट्टा (Lease)

(h) जनमत संग्रह (Publisciate)

(i) गिरवी (Pledge)

(a) अधिभोग किसी राज्य द्वारा स्वामीहीन प्रदेश पर आधिपत्य को कहते हैं। प्रदेश-प्राप्ति का यह साधन अब कोई महत्त्व नहीं रखता क्योंकि इस समय संसार का कोई भी भाग स्वामीहीन नहीं है। परन्तु भूतकाल में अधिभोग द्वारा प्राप्त अनेक प्रदेश वर्तमान काल में विवादग्रस्त हैं। अधिभोग के विषय में पूर्वी ग्रीनलैण्ड मुकदमे में स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 1933 में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि अधिभोग के प्रभावशाली होने के लिए दो तत्त्वों का होना आवश्यक है-

(i) संबंधित प्रदेश पर संप्रभुता स्थापित करने की इच्छा

(ii) संबंधित प्रदेश पर सत्ता प्रदर्शन और नियंत्रण।

पाल्मास टापू के मुकदमे में हेग के पंचायती न्यायालय के पंच मैक्स ह्यूबर ने 1928 में यह निर्णय दिया कि किसी प्रदेश पर प्रादेशिक सम्प्रभुता

के लिए प्रभावशाली अधिभोग की आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि इस प्रदेश को अपने अधिकार में ले लिया जाय तथा उस प्रदेश के लोगों के साथ संपर्क हो जाय।

अतः अधिभोग द्वारा प्रदेश प्राप्ति की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं-

(i) खोज,

(ii) संप्रभुता की घोषणा अथवा राष्ट्रीय ध्वज अथवा किसी अन्य चिन्ह द्वारा प्रदेश पर अधिकारी की घोषणा,

(iii) प्रदेश भर नियंत्रण के लिए वहाँ प्रशासन की व्यवस्था करना।

(b) चिरभोग किसी प्रदेश पर बहुत समय तक अपना अधिकार बनाए रखना चिरभोग कहलाता है। हाल के अनुसार दीर्घकाल तक निरन्तर आधिपत्य द्वारा इस प्रदेश की प्राप्ति को सनातन भोग से प्राप्त प्रदेश कहते हैं जिसका मूलस्वामी अज्ञात हो अथवा आधिपत्य मूल रूप से अवैध होने पर भी वैध स्वामी ने इस पर अपने अधिकार की परवाह न की हो अथवा वह अपना अधिकार जमाने में असमर्थ रहा हो। प्रदेश-प्राप्ति के इस साधन से बहुत लम्बे समय के चिरभोग के बाद प्रदेश प्राप्त होता है। परन्तु चिरभोग द्वारा प्रदेश प्राप्त करने के लिए कोई निश्चित अवधि नहीं है। ओपनहाइम के मतानुसार संबंधित प्रदेश पर उतने समय तक निरन्तर निर्बाध सत्ता का प्रदर्शन होना चाहिए जब तक ऐतिहासिक विकास के प्रभाव से यह सामान्य विश्वास न हो जाय कि वर्तमान स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुकूल हैं। ब्रिटेन और बेनेजुएला के बीच 1897 में सीमा संबंधी विवाद को तय करने के लिए एक संधि में यह व्यवस्था की गई थी कि 50 वर्ष तक चिरभोग वैध अधिकार के लिए पर्याप्त होगा जबकि ब्रिटिश गायना पंचनिर्णय 1899 में यह अवधि 20 वर्ष मानी गई थी।

(c) अनुवृद्धि-यदि किसी राज्य के प्रदेश में वृद्धि उस राज्य में नई भूमि के निर्माण के फलस्वरूप होती है तो राज्य के प्रदेश में इस वृद्धि होने को अनुवृद्धि करते हैं। अनुवृद्धि दो प्रकार का हो सकता है-

(i) प्राकृतिक कारणों से

(ii) कृत्रिम कारणों से।

प्राकृतिक कारणों से ज्ञान की भूमि में वृद्धि अनेक प्रकार से हो सकती है उदाहरणार्थ समुद्र के पीछे हटने से उत्पन्न कछारी भूमि, नवोदित टापू, डेल्टा आदि। ऐसी दशा में राज्य की भूमि में तो वृद्धि होती ही है, इसके साथ ही उसके प्रादेशिक समुद्र की आधाररेखा भी आगे बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ यदि प्रादेशिक समुद्र, तटवर्ती नदी अथवा झील में नये टापू का अभ्युदय हो जाय तो वह नया टापू तटवर्ती राज्य के क्षेत्राधिकार में समझा जायेगा और उस राज्य का प्रादेशिक समुद्र इस नवोदित टापू के तट से प्रारंभ हुआ समझा जायेगा। कृत्रिम कारणों से भी राज्य की भूमि में वृद्धि अनेक प्रकार से हो सकती है। उदाहरणार्थ तटवर्ती जलक्षेत्र में बाँध, स्तम्भ आदि बनाकर। ओपनहाइम के शब्दों में प्रत्येक राज्य निम्न जल स्तरांग के आगे समुद्र में जितनी दूर तक चाहे कृत्रिम संरचनाओं का निर्माण करके भूमि की अभिवृद्धि कर सकता है। भूमि की अभिवृद्धि से राज्य के प्रदेश का भी प्रसार हो जाता है क्योंकि राज्य की समुद्र मेखला बढ़े हुए तट से प्रारंभ हुई समझी जायेगी।

अनुवृद्धि से प्राप्त भूमि पर स्वतः उस राज्य का स्वामित्व माना जाता है। जिसके प्रदेश में यह अभिवृद्धि हुई है इसके लिए कोई औपचारिक कार्यवाही या घोषणा की आवश्यकता नहीं होती है। इसके पीछे सिद्धान्त यह है कि बढ़ी हुई वस्तु मूलवस्तु का अनुसरण करती है।

(d) अध्यर्पण- एक राज्य द्वारा अपने प्रदेश अथवा उसके किसी भाग को किसी दूसरे राज्य को दे देना अध्यर्पण कहलाता है। यद्यपि अध्यर्पण में विवशता का तत्त्व भी है। परन्तु अध्यर्पण का प्रधान तत्व हस्तांतरण होता है। अध्यर्पण दो प्रकार का हो सकता है-

(i) ऐच्छिक

(ii) अनैच्छिक

ऐच्छिक - ऐच्छिक अध्यर्पण उपहार, विनिमय और बिक्री द्वारा होता है। उदाहरणार्थ पुर्तगाल के राजा द्वारा राजकुमारी हेनरीटा के दहेज में इंग्लैण्ड के सम्राट चार्ल्स प्रथम को दहेज में बम्बई प्रदेश उपहार के रूप में

प्रदान किया गया था। 1890 में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी द्वारा हेलिगोलैण्ड और जन्जीबार (पूर्वी अफ्रीका) का विनिमय हुआ था। विक्रय द्वारा संयक्त राज्य अमरीका ने 1800 में लुइसियाना, 1819 में फ्लोरिडा और 1853 में गैडसदन प्राप्त किये।

अनैच्छिक अध्यर्पण युद्ध में हारनेवाले राज्य को विजेता के प्रति करना पड़ता है। उदाहरणार्थ 1870 के फ्रांस-जर्मन युद्ध में फ्रांस को हारने पर अपने आल्सेस लोरेन के प्रदेश जर्मनी को देने पड़े थे।

(e) उपाबद्ध - युद्ध में सैनिक बल का प्रयोग करके शत्रु को पराजित कर उसका प्रदेश अपनी प्रभुता में ले लेना विजय कहलाता है। परन्तु विजय मात्र से ही विजिटत प्रदेश पर प्रभुता प्राप्त नहीं हो जाती है बल्कि विजेता द्वारा इस प्रदेश को अपने राज्य का अंग बनाने अथवा अंशीकरण की घोषणा होनी चाहिए। प्रायः सम्बद्ध राज्यों को एक नोट भेजकर अंगीकरण की इच्छा अभिव्यक्त की जाती है। यदि ऐसी इच्छा न अभिव्यक्त की जाय तो विजेता को विजित प्रदेश पर प्रभुता प्राप्त नहीं होती। उदाहरणार्थ द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी यद्यपि मित्र राष्ट्रों द्वारा पूरी तरह जीत लिया गया था, फिर भी इन पर उनकी प्रभुता स्थापित नहीं हुई क्योंकि वे यह घोषणा कर चुके थे कि जर्मन सरकार द्वारा बिना शर्त आत्म-समर्पण करने पर वे उसका कोई प्रदेश अपने राज्यों में सम्मिलित नहीं करेगें।

इस प्रकार विजय के द्वारा जब किसी प्रदेश का अंगीकरण होता है तो युद्ध की समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार से होनेवाली युद्ध की समाप्ति वशीकरण कहलाती है।

(f) न्याय निर्णयन और पँचार - राज्यों के सम्मेलन द्वारा न्यायिक और पंचायती निर्णय जिसे न्याय निर्णयन और पँचार कहते हैं प्रदेश प्राप्ति के साधन माने जा सकते हैं। उदाहरणार्थ वसाई के शान्ति सम्मेलन द्वारा यूरोप का प्रादेशिक पुनर्विचार।

(g) पट्टा - प्रत्येक राज्य के प्रदेश का पट्टा दूसरे राज्यों को लिख दें। ऐसी स्थिति में पट्टे को भी प्रदेश-प्राप्ति का एक साधन माना जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में 27 मार्च 1941 को ग्रेट ब्रिटेन ने 99 वर्ष के

पट्टे पर कैरेबियन समुद्र के तथा समीपवर्ती अल्प समुद्रों में अनेक नौसैनिक और हवाई अड्डे संयुक्त राज्य अमरीका को प्रदान किये।

(h) जनमत संग्रह- आधुनिक लेखकों ने जनमत संग्रह द्वारा भी प्रदेश प्राप्त करने के विषय में अपना मत प्रकट किया है। उदाहरणार्थ वेस्ट ईरियन के प्रदेश पर नीदरलैण्ड तथा इण्डोनेशिया दोनों ने ही अपने-अपने दावे प्रस्तुत किये थे। फलस्वरूप वेस्ट ईरियन के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के संरक्षण में मतगणना करवाई गई जिसके परिणाम स्वरूप वहाँ के लोगों ने अपना मत इण्डोनेशिया के पक्ष में दिया। इस प्रकार वेस्ट ईरियन अब इण्डोनेशिया राज्य का एक भाग है।

(i) गिरवी - परिस्थितिवश किसी राज्य के एक प्रदेश विशेष को दूसरे राज्य के पास गिरवी रखना पड़ सकता है। इस प्रकार गिरवी प्रदेश-प्राप्ति का एक साधन हो संकता है। उदाहणार्थ 1768 में जेनेवा के गणतंत्र ने कार्सिका द्वीप को फ्रांस को गिरवी रखा था।

(2) प्रदेश खोने के प्रकार - किसी राज्य द्वारा प्रदेश खोने के प्रकार हैं-

(a) प्राकृतिक कार्य

(b) क्रान्ति,

(c) त्याग,

(d) पराजय

(e) भोग,

(f) अर्पण

(a) प्राकृतिक कार्य-प्राकृतिक कार्य द्वारा किसी राज्य के प्रदेश का लोप हो सकता है उदाहरणार्थ भूकम्प द्वारा समुद्र का किनारा या द्वीप के पूरे भाग का लोप हो सकता है। इसी प्रकार यदि एक तटवर्ती नदीं अपना बहाव बदल लेती है तो संबंधित राज्य का बड़ा प्रदेश कट सकता है क्योंकि उसकी सीमा नदी के नये बहाव की मध्य रेखा तक

रहेगी।

(b) **क्रान्ति**-यदि किसी राज्य में क्रान्ति हो और क्रान्ति के बाद किसी नये राज्य का जन्म हो तो पहलेवाला राज्य अपना प्रदेश खो बैठता है। उदाहरणार्थ 1971 में पाकिस्तान ने पूर्वी पाकिस्तान को खो दिया जो कि बंगलादेश के रूप में अब एक स्वतंत्र राज्य है।

(c) **त्याग**-यदि कोई राज्य अपने राज्य के प्रदेश के किसी भाग को छोड़ने के साथ उस पर प्रभुता रखने की इच्छा भी छोड़ दे तो वह अपने प्रदेश के उस भाग को खो देता है। उदाहरणार्थ 1912 में टर्की द्वारा ट्रिपोली और सिरेनेका का त्याग करने पर ये प्रान्त उसके हाथ से निकल गये और बाद में इनको इटली ने हथिया लिया।

(d) **पराजय**-जब विजय द्वारा कोई राज्य प्रदेश प्राप्त करता है तब पराजय द्वारा पराजित राज्य अपना प्रदेश खोता है।

(e) **अधिभोग**-जब अधिभोग द्वारा कोई राज्य प्रदेश प्राप्त करता है तो जिस राज्य का प्रदेश वह पहले था वह उसे खो बैठता है।

(f) **अध्यर्पण**-जब कोई राज्य किसी प्रदेश को अध्यर्पण द्वारा प्राप्त करता है तो दूसरा राज्य उस प्रदेश से वंचित हो जाता है और इस प्रकार अपना प्रदेश खो बैठता है।

1.5 सारांश

राज्य का प्रदेश राज्य के आवश्यक तत्त्वों में से एक है। इसके तीन भाग भूमि क्षेत्र, जलक्षेत्र और वायुक्षेत्र में, भूमिक्षेत्र के अन्तर्गत राज्य की भूमि तथा उसमें स्थित नदियाँ, नहरें, झील, पर्वत वन, खान एवं अन्य प्राकृतिक साधन आते हैं। नदियाँ दो-प्रकार की होती हैं। एक राष्ट्रीय तथा दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय। राष्ट्रीय नदी वह होती है जो एक ही राज्य के प्रदेश में से होकर गुजरती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय नदी वह होती है जो कई राज्यों के प्रदेश में से होकर गुजरती है। नहरें भी दो प्रकार की होती हैं एक राष्ट्रीय तथा दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय। राष्ट्रीय नहर वह जो एक राज्य के प्रदेश से होकर गुजरती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय नहर वह जो कई राज्य के प्रदेशों से होकर

गुजरती है। जलक्षेत्र के अन्तर्गत प्रादेशिक समुद्र, जलडमरूमध्य, खाड़ी, आरवात, बंदरगाह, संस्पर्शी क्षेत्र, महाद्वीपीय समुद्रतल आदि आते हैं। वायुक्षेत्र के अन्तर्गत उच्चतम भाग, निम्नतम भाग और मध्यवर्ती भाग आते हैं। उच्चतम भाग वायु की कमी और तापमान की अधिकता वाला क्षेत्र है। निम्नतम भाग भूमि के ऊपर का 330 मीटर तक का क्षेत्र है और मध्यवर्ती भाग वह है जो हवाई यातायात और रेडियो के संदेश-प्रेषण हेतु उपयुक्त है। 1944 के शिकागो सम्मेलन में वायु क्षेत्र की पाँच स्वतंत्रताओं पर विचार-विमर्श किया गया था।

क्षेत्राधिकार से तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, वस्तुओं तथा घटनाओं पर राज्य के अधिकार से है जिनका राज्य से कोई न कोई संबंध हो। क्षेत्राधिकार के संबध में चार प्रमुख सिद्धान्त हैं। प्रथम प्रादेशीयता का सिद्धान्त जो राज्य की प्रादेशिक सीमा में व्यक्ति वस्तु तथा घटनाओं पर राज्य के क्षेत्राधिकार की बात कहता है, द्वितीय राष्ट्रीयता का सिद्धान्त जो राष्ट्रीयता के आधार पर क्षेत्राधिकार की बात कहता है चाहे राज्य का नागरिक विश्व में कहीं भी हो तृतीय सुरक्षात्मक सिद्धान्त जो ऐसे अपराधों पर क्षेत्राधिकार की बात कहता है जो राज्य की सुरक्षा के लिए घातक हो चाहे वह राज्य की सीमा के बाहर ही क्यों न हो और चतुर्थ सार्वदेशीयता का सिद्धान्त जो सभी राज्यों के क्षेत्राधिकार से संबंधित है उदाहरणार्थ महासमुद्र में कोई भी राज्य जलदस्युओं को पकड़कर दंडित कर सकता है। महासमुद्र का तात्पर्य समुद्र की सीमा के आगे के जलक्षेत्र से है। आधुनिक समय में महासमुद्र किसी राज्य विशेष की प्रभुसत्ता से मुक्त तथा सभी राज्यों के लिए खुला हुआ समझा जाता है, इसीलिए इसे खुला समुद्र कहते हैं। खुले समुद्र में प्रत्येक राज्य जलदस्युपोत को पकड़कर उस पर सवार व्यक्तियों एवं वस्तुओं को गिरफ्तार कर उनके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। प्रत्येक राज्य अपने कानूनों का उल्लंघन करने वाले विदेशी जलपोतों को खुले समुद्र में तीव्र पीछा कर उसे पकड़ सकता है। खुले समुद्र में तस्करी करनेवालों के विरुद्ध कार्यवाही का अधिकार राज्यों को अपने प्रादेशिक समुद्र की सीमा के आगे प्राप्त है। खुले समुद्र में नाभिकीय परीक्षणों एवं शस्त्र रखने पर प्रतिबंध है। जहाँ तक राज्य के वायुक्षेत्र में वायुयानों पर क्षेत्राधिकार का संबंध हैं विमानापहरण के संबंध

में टोक्यो कन्वेंशन 1963 हेग कन्वेंशन 1970 और मान्ट्रियल कन्वेशंन 1971 महत्वपूण हैं।

प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के प्रकार

किसी राज्य द्वारा प्रदेश प्राप्त करने तथा खोने के कई प्रकार हो सकते हैं। प्रदेश प्राप्त करने के आवेशन, भोग, उपचय, अर्पण, विजय, न्याय-निर्णयन और पंचार, पट्टा जनमतसंग्रह, गिरवी आदि प्रकार हो सकते हैं। किन्तु आवेशन के संबंध में संयुक्त राष्ट्र द्वारा हुए समझौते के अनुसार बह्य आंतरिक्ष पर सभी-राज्यों का समान अधिकार होगा। इसका उपयोग सामरिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु नहीं होगा। प्रायः जब एक राज्य प्रदेश प्राप्त करता है तो दूसरा राज्य प्रदेश खोता है। किन्तु आवेशन कृत्रिम कारणों से उपचय आदि में ऐसा नहीं होता। राज्य द्वारा प्रदेश खोने के प्राकृतिक कार्य, क्रान्ति, त्याग पराजय, भोग, अर्पण आदि प्रकार हो सकते हैं। जहाँ तक त्याग का संबंध है इसकी घोषणा आवश्यक है क्योंकि यदि ऐसा नहीं हआ तो अन्य राज्य आवेशन द्वारा उसे ले सकता है।

1.6 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1- अन्तर्राष्ट्रीय विधि हरिमोहन जैन

2-

3-

1.7 संबंधित प्रश्न

दीर्घ - उत्तरीय प्रश्न

(1) अन्तर्राष्ट्रीय नहर किसे कहते हैं? स्वेज नहर की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की विवेचना कीजिए।

(2) खुले समुद्र की स्वतंत्रता पर एक निबंध लिखिए।

(3) विमानापहरण संबंधी समस्या के समाधान हेतु महत्त्वपूर्ण प्रयासों की विवेचना कीजिए।

(4) राज्य द्वारा प्रदेश प्राप्त करने के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

(5) खुले समुद्र की स्वतंत्रता का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) पनामा नगर के सम्बन्ध में हेपौन्सेफोटे की सन्धि की व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

(2) वायुक्षेत्र की पांच स्वतंत्रताएँ बनाइये।

(3) अधिभोग द्वारा प्रदेश कैसे प्राप्त करते हैं।

(4) क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में प्रादेशीयता के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।

(5) खुले समुद्र की स्वतंत्रता का वर्णन कीजिए।

1.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) पनामा नहर के यातायात के नियमों की व्यवस्था दी:

(अ) हे-पौन्सेफोटे की संधि ने,

(ब) वार्साई की संधि ने

(स) कुस्तुनतुनिया की संधि ने

(द) वाशिंगटन की संधि ने

(2) गार्नर ने वायुक्षेत्र को बाँटा

(अ) दो भागों में,

(ब) तीन भागों में,

(स) चार भागों में

(द) पाँच भागों में

(3) क्षेत्राधिकार के सिद्धान्त है

(अ) चार

(ब) पाँच

(स) छः

(द) सात

(4) विमानापहरण में हिंसात्मक कार्यों के विरुद्ध व्यवस्था हुई

(अ) टोक्यो कन्वेंशन 1963 में

(ब) हेग कन्वेंशन 1970 में

(स) माँट्रियल कन्वेंशन 1971 में

(द) जेनेवा कन्वेंशन 1949 में

(5) अध्यर्पण के प्रकार है

(अ) दो

(ब) तीन

(स) चार

(द) पाँच

1.8 प्रश्नोत्तर

(1) (अ)

(2) (ब)

(3) (अ)

(4) (स)

(5) (अ)

इकाई - 2 : राष्ट्रीयता, प्रत्यर्पण एवं हस्तक्षेप

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 राष्ट्रीयता की प्रकृति

2.3 राष्ट्रीयता-प्राप्ति के प्रकार

2.4 राष्ट्रीयता खोने के प्रकार

2.5 दोहरी राष्ट्रीयता

2.6 राज्य-विहीनता

2.7 प्रत्यर्पण

2.8 प्रत्यर्पण की प्रक्रिया

2.9 प्रत्यर्पण हेतु आवश्यक दशाएं

2.10 प्रत्यर्पणीय अपराध

2.11 राजनीतिक अपराध और प्रत्यर्पण

2.12 हस्तक्षेप

2.13 हस्तक्षेप के प्रकार

2.14 हस्तक्षेप न करने का सिद्धान्त

2.15 हस्तक्षेप के आधार

2.16 हस्तक्षेप से संबधित प्रमुख सिद्धान्त

2.17 सारांश

2.18 संदर्भ-ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

2.19 संबंधित प्रश्न

2.20 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- राष्ट्रीयता की प्रकृति, उसे प्राप्त करने और खोने के तरीकों के विषय

में विवेचन कर सकेंगे।

- प्रत्यर्पण का अर्थ, उसकी प्रक्रिया तथा प्रत्यर्पण की दशाओं आदि के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- हस्तक्षेप के विविध पक्षों का विवरण कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

यद्यपि राष्ट्रीयता राज्य विधि द्वारा निर्धारित होती है किन्तु राज्य विधि में एकरूपता न होने के कारण, राष्ट्रीयताविहीनता, दोहरी राष्ट्रीयता आदि समस्याएँ उत्पन्न हो गयीं जिनके समाधान का प्रयास 1930 के हेग सम्मेलन में किया गया। इस प्रकार राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अपना विशेष महत्त्व स्थापित किया।

वैसे भी राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रहा है क्योंकि इसी के द्वारा नागरिक राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लाभों का उपयोग करता है, विदेशों में कूटनीतिक संरक्षण प्राप्त करता है, युद्ध के समय शत्रुता या मित्रता संबंधी ज्ञान कराता है, क्षेत्राधिकार का विषय बनता है और अपने कर्त्तव्य के अनुसार समर्पित होता है।

2.2 राष्ट्रीयता की प्रकृति

राष्ट्रीयता राज्य और नागरिक के बीच का वैध संबध है। ओपनहाइम के अनुसार यह राज्य का नागरिक होना है। नागरिक होने से व्यक्ति का राज्य से वैध संबंध स्थापित हो जाता है। स्टार्क के अनुसार राष्ट्रीयता राज्य की वैध मान्यता द्वारा अभिव्यक्त व्यक्ति के कार्य हैं। गार्नर के अनुसार यह एक ऐसी भावना है जो एक राज्य के नागरिकों को इस प्रकार बांधती है, जिससे यह प्रकट होता है कि वे इसी प्रकार बंधे हुए अन्य राज के नागरिकों से भिन्न हैं।

राष्ट्रीयता का मौलिक आधार उसकी किसी स्वतन्त्र राजनीतिक समुदाय की सदस्यता है।

2.3 राष्ट्रीयता-प्राप्ति के प्रकार

(a) **जन्म द्वारा (by Birth)** - यद्यपि जन्म द्वारा राष्ट्रीयता प्राप्त की जा सकती है किन्तु इस संबंध में हर राज्य में एक नियम नहीं है। कुछ राज्यों में यह नियम है कि माता-पिता की नागरिकता ही राष्ट्रीयता का निर्णायक है। ऐसे राज्य के नागरिक का संतान चाहे अपने देश में जन्मा हो या विदेश में स्वतः राज्य का नागरिक बन जाता है और इस प्रकार उसे अपने माता-पिता के राज्य की राष्ट्रीयता स्वतः प्राप्त हो जाती है चाहे उसका जन्म कहीं भी हुआ हो। अवैध संतान को उसकी माता की राष्ट्रीयता प्राप्त हो जाती है। ऐसा नियम जर्मनी आदि में है।

कुछ राज्यों में यह नियम है कि उनके प्रदेश में जन्मे विदेशी माता-पिता के बच्चे को भी नागरिकता प्रदान कर दी जाती है। इस प्रकार संतान की राष्ट्रीयता अपने माता-पिता की राष्ट्रीयता नहीं होती बल्कि जहाँ उसका जन्म होता है वहीं की राष्ट्रीयता हो जाती है। ऐसा नियम अर्जेण्टाइना आदि में है।

भारत में उक्त दोनों ही नियम स्वीकृत हैं।

(b) **अधीनीकरण द्वारा (by Subjugation)** - जब कोई राज्य किसी राज्य को जीतकर अपने में मिला लेता है तो पराजित राज्य के नागरिकों की राष्ट्रीयता बिजयी राज्य की राष्ट्रीयता हो जाती है। उदाहरणार्थ 1870 में जब जर्मनी, ने फ्रांस के अल्सेस-लोरेन प्रदेश को जीता तो वहाँ के नागरिकों की राष्ट्रीयता फ्रांस के स्थान पर जर्मनी की हो गयी। भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 की धारा 7 प्रावधान करती है कि यदि कोई राज्य क्षेत्र भारत का भाग बन गया है, तब राज्य क्षेत्र के सभी व्यक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी किये गये आदेश में विर्निदिष्ट तिथि से स्वतः भारत के नागरिक हो जायेंगे।

(c) **देशीयकरण द्वारा (by Nutrilisation)** - देशीयकरण द्वारा राष्ट्रीयता

प्राप्त होने के संबंध में विभिन्न राज्यों में विभिन्न नियम हैं। कहीं विवाह द्वारा पत्नी को पति की राष्ट्रीयता मिल जाती है, अवैध संतान को वैध बनाने पर पिता की राष्ट्रीयता प्राप्त हो जाती है तो कहीं निवास करने से और कहीं सरकारी अधिकारी नियुक्त होने से राष्ट्रीयता मिल जाती है।

किसी-किसी राज्य में देशीयकरण से प्राप्त राष्ट्रीयता पर अनेक प्रतिबंध भी लगाये जाते हैं उदाहरणार्थ भारतीय राष्ट्रीय कानून 1955 के अनुसार जिसे राष्ट्रीयता दी जा रही है वह ऐसे राज्य का नागरिक नहीं होना चाहिए जहाँ भारतीयों को राष्ट्रीयता प्राप्त करने में कानूनी बाधा है। भारतीय सरकार दर्शन के क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में, विश्वशांति के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य करने वालों को राष्ट्रीयता में प्रमुखता प्रदान करती है।

(d) **प्रदेश के हस्तान्तरण द्वारा (by Cession)** - कभी-कभी किसी कारण से किसी राज्य के किसी प्रदेश का हस्तान्तरण दूसरे राज्य को कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में उस प्रदेश के नागरिक उस राज्य की राष्ट्रीयता भी प्राप्त कर लेते हैं।

(e) **पुनः प्राप्ति द्वारा (by Resumption)** - यदि कोई नागरिक किसी कारणवश अपनी राष्ट्रीयता त्याग कर किसी दूसरे राज्य को प्रस्थान कर जाता है तथा वहाँ अनुकूल न होने पर वह पुनः अपने मौलिक राज्य को लौट आता है तो प्रार्थना पत्र देने पर कुछ शर्तों को पूरा करने पर वह पुनः अपनी खोई हुई मौलिक राष्ट्रीयता को प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ 1947 में भारत से अनेक मुसलमान पाकिस्तान पहुँचे किन्तु वे वहाँ शरणार्थी के रूप में रहे। अतः जब वे पुनः भागकर भारत आये तो उन्हें भारत की राष्ट्रीयता प्राप्त हो गयी। लंका बर्मा आदि राज्यो में भी जो भारतीय रह रहे थे जब वे भागकर भारत आए तो उन्हें भारत की राष्ट्रीया प्राप्त हो गयी।

(f) **पंजीकरण द्वारा (by Registration)** - व्यक्ति पंजीकरण के द्वारा राज्य की राष्ट्रीयता अर्जित कर सकता है। पंजीकरण की प्रक्रिया

विभिन्न राज्यों के राष्ट्रीय विधि के आधार पर होती है। भारतीय नागरिक अधिनियम, 1951 की धारा 5 के अन्तर्गत विभिन्न संवर्ग के व्यक्ति पंजीकरण द्वारा भारतीय नागरिकता अर्जित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय मूल के वे व्यक्ति जो पंजीकरण के लिए आवेदन देने से पूर्व कम से कम पाँच वर्ष तक भारत में निवास कर रहे हैं आदि।

2.4 राष्ट्रीयता खोने के प्रकार

(a) **त्यागन द्वारा- (by Renunciation)** - कुछ राज्य जो जन्म के आधार पर किसी विदेशी के संतान को राष्ट्रीयता प्रदान कर देते हैं, इससे वह संतान दो राज्यों की राष्ट्रीयता वाला हो जाता है। किन्तु जब वह वयस्क होता है तो उसे किसी एक राज्य की राष्ट्रीयता का त्याग करना पड़ता है। इस प्रकार त्यागन द्वारा वह उस राष्ट्रीयता को खो देता है।

(b) **मुक्ति द्वारा- (by Reliese)** - जर्मनी आदि कुछ राज्यों में ऐसी व्यवस्था है कि यदि उनके नागरिक चाहें तो वे अपनी राष्ट्रीयता से मुक्त हो सकते हैं। यदि कोई नागरिक इस मुक्ति को स्वीकार कर लेता है तो वह वहाँ की अपनी राष्ट्रीयता खो देता है।

(c) **प्रतिस्थापना द्वारा- (by Substitution)** - अमरीका आदि कुछ राज्यों ने यह व्यवस्था दी है कि यदि उनके नागरिक को विदेश में देशीयकरण प्राप्त हो जाता है तो उसकी अमरीकी राष्ट्रीयता समाप्त हो जाएगी और इस प्रकार यह अमरीकी राष्ट्रीयता खो देता है। यह इसलिए किया जाता है कि नागरिक दोहरी नागरिकता न रख सके।

(d) **वंचन द्वारा- (by Deprivation)** - कुछ राज्यों का राष्ट्रीयता कानून कुछ व्यक्तियों की राष्ट्रीयता को खो देता है। उदाहरणार्थ भारत का नागरिकता कानून 1953 भारतीय संविधान के विरुद्ध किये गये कार्यों को छिपाने के लिए, युद्ध में शत्रु को सहायता पहुँचाने आदि के लिए राष्ट्रीयता खो देता है। इटली का राष्ट्रीयता कानून विदेशी

सेना में भर्ती होने के लिए राष्ट्रीयता खो देता है। रूस टर्की, जर्मनी आदि का राष्ट्रीयता कानून स्वदेश में निष्ठा न रखने के लिए राष्ट्रीयता खो देता है। कुछ मामलों में वंचन का परिणाम निराष्ट्रीयता (statelessness) होता है। इसलिए वंचन राज्यों द्वारा नहीं किया जाना चाहिए जो मनमाना हो।

(e) **दीर्घकालीन विदेश निवास द्वारा-** कुछ राज्यों का राष्ट्रीयता कानून एक निश्चित समय तक अपने नागरिक का दूसरे राज्य में निवास करने हेतु राष्ट्रीयता खो देने की व्यवस्था करता है?

2.5 दोहरी राष्ट्रीयता

कभी-कभी ऐसी स्थिति आती है कि दोहरी राष्ट्रीयता हो जाती है उदाहणार्थ क्रिटेन में विदेशी माता-पिता का संतान जन्म से ही दोहरी राष्ट्रीयता वाला हो जाता है। क्रिटेन के राष्ट्रीयता कानून के अनुसार क्रिटिश माता की अवैध संतान क्रिटिश राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेता है किन्तु यदि क्रिटिश माता का विवाह अमरीकी पुरुष से हो जाता है तो उसी संतान को जो कि अब वैध हो गया और वह अमरीकी पुरूष पिता हो गया अमरीकी राष्ट्रीयता कानून के अनुसार अमरीकी राष्ट्रीयता भी प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार वह संतान ब्रिटिश और अमरीकी दोनों ही राष्ट्रीयता प्राप्त किये हुए होता है।

1930 के हेग संधि के अनुच्छेद 5 में यह प्राविधान है कि इस प्रकार की दोहरी राष्ट्रीयता प्राप्त व्यक्ति के संबंध में तीसरा राज्य उस राष्ट्रीयता को मानता है जहाँ वह या तो बहुधा रहता हो या परिस्थितियों के कारण उससे अधिक संबंधित हो।

2.6 राज्यविहीनता

किसी व्यक्ति का किसी भी राज्य का नागरिक न होना राज्यविहीनता कहलाता है। अनेक ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें ऐसा हो जाता है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति का किसी राज्य द्वारा राष्ट्रीयता खो देना तथा किसी दूसरे राज्य द्वारा राष्ट्रीयता न प्राप्त होना, किसी विदेशी स्त्री द्वारा अवैध संतान को जन्म

देना और उसकी राष्ट्रीयता के विषय में दो राज्यों के बीच मतभेद हो जाना एवं उस अवैध संतान के बड़े होने पर, उसका विवाह होने पर उनके संतान का राज्यविहीन हो जाना।

राज्यविहीन व्यक्ति राष्ट्रीयताविहीन व्यक्ति होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लाभ से वंचित रह जाता है। ओपनहाइम ने इस समस्या के समाधान हेतु दो उपाय बताये। प्रथम तो यह कि ऐसे की जन्म भूमि की राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार हो और द्वितीय यह कि विवाह के कारण किसी स्त्री या पुरुष की राष्ट्रीयता किसी राज्य द्वारा तब तक न खो दी जाए जब तक कि वह किसी राज्य की नयी राष्ट्रीयता प्राप्त न कर ले।

2.7 प्रत्यर्पण

प्रत्यर्पण की प्रकृति-जब कोई व्यक्ति एक राज्य में अपराध करने के बाद दूसरे राज्य में चला जाता है तो पहले राज्य की प्रार्थना पर दूसरे राज्य द्वारा उस अपराधी को सौंपना प्रत्यर्पण कहलाता है। ओपेनहाइम के अनुसार अपराधी को जिस राज्य में उसने अपराध किया है या अभियुक्त है उस राज्य को, उस राज्य द्वारा जहाँ वह उस समय है, लौटा देना प्रत्यर्पण है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में प्रत्यर्पण संबंधी ऐसी प्रथाएँ सार्वभौमिक नियम के रूप में विकसित नहीं हुई हैं, जिनके द्वारा राज्यों पर प्रत्यर्पण का दायित्व हो। व्यवहार में राज्य इस प्रकार का दायित्व स्वीकार करना नहीं चाहते हैं क्योंकि राज्य किसी विदेशी नागरिक को शरण देना अपना अधिकार समझते हैं आश्रय समाप्त होता है जब प्रत्यर्पण प्रारम्भ होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में प्रत्यर्पण मुख्यतः द्विपक्षीय और बहुराष्ट्रीय संधियों पर आधारित है। संधि न होने पर प्रत्यर्पण करना नैतिक कर्त्तव्य हो सकता है, वैधिक नहीं। अनेक राज्यों में प्रत्यर्पण के लिए संधिगत व्यवस्था होना अनिवार्य दशा है परन्तु कुछ राज्य संधि के अभाव में भी नैतिक कर्त्तव्यवश प्रत्यर्पण करना स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ राज्य ऐसे भी हैं जो संधि के अभाव में पारस्परिकता का आश्वासन पाकर प्रत्यर्पण करना स्वीकार करते हैं। यह आश्वासन भी संधि के तुल्य समझा जाता है। अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड, इथोपिया, इजरायल आदि राज्य संधिगत व्यवस्था न होने

पर प्रत्यर्पण करना स्वीकार नहीं करते। फ्रांस वेनेजुएला, ब्राजील आदि राज्य संधिगत व्यवस्था न होने पर भी नैतिक कर्त्तव्यवश प्रत्यर्पण करना स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त जर्मनी, जापान, स्विटजरलैण्ड मैक्सिको, आस्ट्रिया, बेल्जियम, अर्जेन्टाइना, स्पेन, ईराक, थाईलैण्ड आदि राज्य संधि के अभाव में भी पारस्परिकता के आधार पर प्रत्यर्पण करते हैं। प्रत्यर्पण संबंधी भारत के 1962 के कानून के अन्तर्गत संधि के अभाव में भी प्रत्यर्पण किया जा सकता है।

2.8 प्रत्यर्पण की प्रक्रिया-

जब कोई व्यक्ति एक राज्य में अपराध करने के बाद दूसरे राज्य में चला जाता है तो पहले राज्य के द्वारा दूसरे स्थान में स्थित अपने दूतावास के माध्यम से प्रत्यर्पण की मांग से प्रत्यर्पण की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। पहले राज्य द्वारा प्रत्यर्पण की मांग की जाने पर दूसरे राज्य की केन्द्रीय सरकार यह मामला किसी न्यायाधीश को सौंप देती है। न्यायालय निर्णय देने से पूर्व इस बात की जाँच करता है कि जिस व्यक्ति के प्रत्यर्पण की माँग की गयी है वह वही व्यक्ति है जिसके विरुद्ध दोषारोपण है या नहीं व्यक्ति प्रत्यर्पणीय है या नहीं व्यक्ति का अपराध प्रत्यर्पणीय है या नहीं, समय बीतने के कारण व्यक्ति प्रत्यर्पण से उन्मुक्त तो नहीं हो गया है, जिस अपराध के लिए प्रत्यर्पण का अनुरोध किया गया है उसके लिए अपराधी के विरुद्ध पहले ही कार्यवाही तो नहीं हो चुकी है अर्थात् कहीं वह दोहरे दंड का भागी न बन जाय, जिस स्थान पर अपराध करने का दोषारोपण है वह स्थान प्रत्यर्पण का अनुरोध करने वाले राज्य के क्षेत्राधिकार में है या नहीं एवं अपराधी के विरुद्ध दोषारोपण में कोई सार है या नहीं।

2.9 प्रत्यर्पण हेतु आवश्यक दशाएँ

प्रत्यर्पण हेतु कुछ आवश्यक दशाएँ हैं यथा इसके लिए प्रार्थना तथा अन्य औपचारिकताएँ पूरी होनी चाहिए, सामान्यतः धार्मिक, सैनिक और राजनीतिक अपराध प्रत्यर्पणीय नहीं होते, प्रत्यर्पण संबंधी अपराध के लिए पर्याप्त साक्ष्य होना चाहिए जिससे प्रथम दृष्टि से ही वह अपराध मालूम पड़े,

जिस अपराध के लिए प्रत्यर्पण होता है वह अपराध प्रत्यर्पण करने वाले तथा प्रत्यर्पण मांगनेवाले दोनों ही राज्यों में अपराध घोषित होना चाहिए प्रत्यर्पण होने के पश्चात् अभियुक्त के विरुद्ध केवल उसी अपराध के लिए न्यायिक कार्यवाही की जा सकती है जिसके लिए उसका प्रत्यर्पण स्वीकार हुआ है, सामान्यतया राज्य अपने नागरिकों का प्रत्यर्पण करना स्वीकार नहीं करते हैं, एवं तीसरे राज्यों के नागरिकों का प्रत्यर्पण सामान्यतः स्वीकार कर लिया जाता है।

2.10 प्रत्यर्पणीय अपराध

प्रत्यर्पणीय अपराध के संबंध में राज्य व्यवहार की दो प्रवृत्तियाँ हैं-

(a) प्रत्यर्पण संबंधी संधि में स्पष्ट रूप से प्रत्यर्पणीय अपराधों को सूचीबद्ध कर देना,

(b) प्रत्यर्पण करनेवाले तथा प्रत्यर्पण माँगने वाले दोनों राज्यों में अपराध के लिए निर्धारित न्यूनतम दण्ड की व्यवस्था (प्रायः एक वर्ष का कारावास) देने पर ही प्रत्यर्पण करना।

प्रायः सभी राज्यों के प्रत्यर्पण कानूनों में प्रत्यर्पणीय अपराधों का उल्लेख होता है, इन्हीं प्रत्यर्पणीय अपराधों को प्रत्यर्पण संबंधी संधियों में सूचीबद्ध कर दिया जाता है। ग्रेट ब्रिटेन के कानून में प्रत्यर्पणीय अपराध हैं- वध नकली सिक्के बनाना, जालसाजी, गबन, चौर्यकर्म, झूठे बहानों से रुपया या द्रव्य प्राप्त करना, हिंसावाला लुँटन, सेंध लगाना, गृहदाह अपहरण, बलात्कार, बच्चे को चुराना, रुपया ऐंठने की धमकी देना, समुद्री डकैती, खतरनाक दवाइयों के कानून तोड़ना घूसखोरी, झूठी गवाही महासमुद्रों में जहाज पर कप्तान के विरुद्ध षडयंत्र समुद्र में दूसरे जहाजों पर हत्या के उद्देश्य से किये जानेवाले अपराध एवं समुद्र में किसी जहाज का डुबोना या नष्ट करना।

फ्रांस के प्रत्यर्पण कानून में प्रत्यर्पणीय अपराधों के नाम का उल्लेख न करते हुए यह कहा गया है कि वहाँ के दण्ड विधान के अनुसार जिन अपराधों में न्यूनतम दण्ड नियत किया गया है, वे सब प्रत्यर्पण संबंधी

अपराध हैं।

यूरोपीय प्रत्यर्पण कन्वेंशन के अन्तर्गत वे अपराध जिनके लिए प्रत्यर्पण करने वाले तथा प्रत्यर्पण माँगने वाले दोनों राज्यों में कम से कम एक वर्ष के कारावास दंड की व्यवस्था हो प्रत्यर्पणीय अपराध कहलाते हैं।

अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों को बहुराष्ट्रीय अनुबंधों के अन्तर्गत प्रत्यर्पणीय अपराध घोषित किया गया है। उदाहरणार्थ 1929 में खोटे सिक्के बनाने का विरोध करने के लिए अपनाये गये एक कन्वेंशन में यह व्यवस्था की गयी थी कि कन्वेंशन में जिन अपराधों का उल्लेख किया गया है, वे सब प्रत्यर्पणीय अपराध होंगे और इसके हस्ताक्षरकर्त्ता राज्यों की प्रत्यर्पण संधियों में सम्मिलित समझे जायेंगे। इसी प्रकार विमानापहरण और वायुयानों पर हुई हिंसात्मक क्रियाओं को हेग कन्वेंशन तथा मांट्रियल कन्वेंशन ने क्रमशः प्रत्यर्पणीय अपराध घोषित किया है।

2.11 राजनीतिक अपराध और प्रत्यर्पण

सामान्यतः राजनीतिक अपराध प्रत्यर्पणीय नहीं होते। यूरोपीय प्रत्यर्पण कन्वेंशन 1957 में यह व्यवस्था है कि किसी व्यक्ति का राजनीतिक अपराध के लिए प्रत्यर्पण न किया जाय। परन्तु राजनीतिक अपराध के अर्थ के संबंध में मतभेद है। ओपनहाइम के अनुसार कुछ लेखक राजनीतिक इरादे से किये गये अपराध को राजनीतिक मानते हैं, अन्य लेखक राजनीतिक प्रयोजन की दृष्टि से किया गया अपराध राजनीतिक समझते हैं। कुछ इसके लिए राजनीतिक इरादा और प्रयोजन दोनों आवश्यक मानते हैं। कुछ अन्य लेखक राजनीतिक अपराध की परिभाषा को केवल राज्य के विरुद्ध किये गये कुछ अपराधों के लिए सीमित करना चाहते हैं। जैसे महाराजद्रोह। आज तक इस शब्द से समुचित विचार के निर्माण के सब प्रयत्न विफल हुए हैं और शायद इसी कारण इस शब्द की संतोषजनक परिभाषा हो सकने की कोई संभावना नहीं है।

राजनीतिक अपराध के अर्थ के संबंध में तीन मुकदमों के निर्णय महत्वपूर्ण हैं-

(a) म्यूनीर का मुकदमा

(b) कैस्टिओनी का मुकदमा,

(c) पोलिश नाविकों का मुकदमा।

म्यूनीर के मुकदमें में 1894 में यह कहा गया है कि जब किसी राज्य में दो या दो से अधिक दल हों, प्रत्येक दल अपने मनोनुकूल सरकार की बलपूर्वक स्थापना करने में प्रत्यनशील हो, और अपराध इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किया गया हो तो ऐसा अपराध राजनीतिक अपराध कहा जा सकता है।

कैस्टिओनी के मुकदमें में 1891 में यह कहा गया है कि ऐसे गुट के नेता के द्वारा किया गया अपराध जो अपने प्रदेश की शासन प्रणाली से असंतुष्ट हो और अपराध - शासन प्रणाली में परिवर्तन से ही संबंधित हो राजनीतिक अपराध कहा जा सकता है।

पोलिस नाविकों के मुकदमें में 1955 में यह कहा गया कि म्यूनीर और कैस्टिओनी के निर्णय उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक संदर्भ में दिये गये थे। राजनीतिक अपराध की परिभाषा बीसवीं शताब्दी की राजनीतिक पस्थितियों के अनुकूल व्यापक और उदार होनी चाहिए। वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी में किसी नागरिक के लिए अपना राज्य छोड़कर दूसरे राज्य में नया जीवन शुरू करना राजद्रोह नहीं था। बीसवीं शताब्दी में इसे राजद्रोह समझा जा रहा है। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी में युद्ध न होने पर राज्य एक दूसरे के शत्रु नहीं समझे जाते थे। बीसवीं शताब्दी में युद्ध न होने पर भी राज्य एक दूसरे के शत्रु समझे जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिक अपराधों का निर्धारण मानवता के व्यापक विचारों द्वारा किया जाना चाहिए।

2.12 हस्तक्षेप

ओपनहाइम के अनुसार किसी राज्य के मामलों में किसी दूसरे राज्य अथवा राज्यों द्वारा ऐसा आदेशात्मक दखल जिससे कि वह राज्य उपस्थित परिस्थितियों को बनाये रखे अथवा उसमें परिवर्तन लाये हस्तक्षेप कहलाता है। ब्रायर्ले, स्टार्क, आदि लेखकों में भी हस्तक्षेप को आदेशात्मक दखल कहा

है। अतः हस्तक्षेप का स्वरूप आदेशात्मक है। इसमें या तो बल-प्रयोग है या बल-प्रयोग की धमकी है। फलस्वरूप एक राज्य द्वारा दूसरे को केवल परामर्श देना हस्तक्षेप नहीं कहला सकता।

2.13 हस्तक्षेप के प्रकार

हस्तक्षेप में पाँच प्रकार हो सकते हैं-

(a) आन्तरिक हस्तक्षेप

(b) बाह्य हस्तक्षेप

(c) दण्डात्मक हस्तक्षेप

(d) विध्वंसकारी हस्तक्षेप और

(e) कूटनीतिक हस्तक्षेप

आन्तरिक हस्तक्षेप किसी राज्य में संघर्ष या विद्रोह होने पर दो पक्षों में से किसी एक को अन्य राज्यों के द्वारा सहायता प्रदान करना है। उदाहरणार्थ 1936 में जर्मनी और इटली द्वारा स्पेन में विद्रोहकारी फ्रैंको गुट की सशस्त्र सहायता।

बाह्य हस्तक्षेप में दो राज्यों की बीच हो रहे युद्ध में किसी एक पक्ष में किसी तीसरे राज्य का युद्ध में शामिल होना है। उदाहरणार्थ द्वितीय विश्वयुद्ध में ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी की लड़ाई में 11 जून 1940 को जर्मनी के पक्ष में इटली का युद्ध में शामिल होना।

दण्डात्मक हस्तक्षेप किसी राज्य का किसी अन्य राज्य द्वारा हानि पहुँचाए जाने पर इसके विरुद्ध युद्ध के अतिरिक्त अन्य दण्डात्मक कार्यवाही करना है। उदाहणार्थ वेनेजुएला द्वारा ग्रेट ब्रिटेन जर्मनी और इटली के ऋणों की अदायगी न करने पर 1902 में इन देशों की नौसेनाओं के द्वारा वेनेजुएला का घेरा डालकर उसे ऋण अदा करने के लिए विवश करने का प्रयत्न करना।

विध्वंसकारी हस्तक्षेप अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए किसी दूसरे राज्य में विद्रोह भड़काना है। उदाहरणार्थ 17 अगस्त 1961 को कैस्ट्रो सरकार को

उलटने के उद्देश्य से अमरीका द्वारा क्यूबन निर्वासित नागरिकों की एक सेना को प्रशिक्षित कर और शस्त्र देकर क्यूबाई प्रदेश में उतारना।

कूटनीतिक हस्तक्षेप कई राज्यों द्वारा किसी अन्य राज्य पर अपना कूटनीतिक दबाव डालकर किसी बात को मानने के लिए विवश करना है। उदाहरणार्थ 1895 में रूस, फ्रांस और जर्मनी ने जापान पर अपना कूटनीतिक दबाव डालकर उसे इस बात के लिए विवश किया कि वह शिमीनोसेकी की संधि-द्वारा दिया गया लिआओटुंग का प्रायद्वीप चीन को वापिस कर दे।

2.14 हस्तक्षेप न करने का सिद्धान्त

राज्यों की समानता, सार्वभौमिकता तथा स्वतंत्रता के आदर्श ने एक राज्य को दूसरे राज्य के मामलों में हस्तक्षेप न करने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 2(4) के अनुसार अपने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में सभी सदस्य किसी राज्य के क्षेत्रीय अखण्डता अथवा राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध अथवा संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों से असंगत बल के प्रयोग या उसकी धमकी से विरत रहेंगे। संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने भी 1965 एवं 1970 के प्रस्ताव में राज्यों द्वारा एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करने पर बल दिया है।

2.15 हस्तक्षेप के आधार

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य नियमों के अनुसार साधारण परिस्थितियों में हस्तक्षेप की अनुमति नहीं है फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियाँ हैं जिनमें कोई राज्य बिना संयुक्त राष्ट्र चार्टर का उल्लंघन किये दूसरे राज्य के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है।

स्टार्क के अनुसार संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार सामूहिक हस्तक्षेप विदेश स्थित अपने नागरिकों के अधिकारों तथा संपत्ति की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया हस्तक्षेप, आत्मरक्षा तथा सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध के लिए किया गया हस्तक्षेप अपने संरक्षक राज्य के मामलों में हस्तक्षेप और अपने राज्य के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल आचरण करने वाले राज्य में

हस्तक्षेप अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत वैध हस्तक्षेप होगा।

ओपनहाइम ने स्टार्क द्वारा बताये गये पाँच वैध हस्तक्षेपों के अतिरिक्त दो और वैध हस्तक्षेप बताया है-

(a) यदि किसी राज्य पर अन्तर्राष्ट्रीय संधि द्वारा कुछ पाबंदियाँ लगायी जाएँ और वह राज्य इनका पालन न करें तो संधि के सम्बद्ध में अन्य राज्यों को इसमें हस्तक्षेप का अधिकार होता है।

(b) यदि किसी संधि द्वारा कोई राज्य किसी अन्य राज्य में एक निश्चित राजवंश का शासन या शासन पद्धति निश्चित कर देता है तो इसमें परिवर्तन होने की दशा में दूसरे राज्य को हस्तक्षेप का अधिकार होता है।

वस्तुतः राज्य अनेक कारणों से दूसरे राज्यों में हस्तक्षेप करते रहे हैं-

(a) आत्मरक्षा हेतु हस्तक्षेप,

(b) संधि अधिकारों को लागू करने हेतु हस्तक्षेप

(c) मानवीयता के कारण हस्तक्षेप,

(d) शक्ति संतुलन हेतु हस्तक्षेप,

(e) वित्तीय कारणों से हस्तक्षेप

(f) गृहयुद्ध के प्रभाव के कारण हस्तक्षेप,

(g) व्यक्ति और संपत्ति की रक्षा हेतु हस्तक्षेप

(h) अवैध हस्तक्षेप रोकने के लिए हस्तक्षेप

(i) संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार सामूहिक हस्तक्षेप आदि।

आत्मरक्षा हेतु हस्तक्षेप के संबंध में ओपनहाइम का यह मानना है कि आत्मरक्षा के संबंध में शक्ति का प्रयोग तभी उचित ठहराया जा सकता है जबकि आत्मरक्षा के लिए आवश्यक हो। आज की अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रतिशोध के भाव से आत्मरक्षा हेतु किसी राज्य द्वारा एकपक्षीय बलप्रयोग भी एक अवैध हस्तक्षेप माना जाता है। कोर्फू चेनल के मुकदमें में 1949 में यह निर्णय दिया गया कि आज की अन्तर्राष्ट्रीय विधि-आत्मरक्षा में किसी

राज्य द्वारा एकपक्षीय बल प्रयोग का वैध उपाय नहीं मानती। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 51 में सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के उपायों का अवलंबन करने से पहले तक दूसरे राज्य के सशस्त्र आक्रमण से रक्षा करने का अधिकार राज्यों को दिया गया है। परन्तु अनुच्छेद 51 में यह भी निर्देश है कि किसी राज्य द्वारा ऐसी कार्यवाही सुरक्षा परिषद की विश्वशांति तथा सुरक्षा बनाये रखने के अधिकार तथा जिम्मेदारी को प्रभावित नहीं कर सकती। आत्मरक्षा हेतु अनेक राज्य दूसरे राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करते रहे हैं। उदाहरणार्थ 1950 में चीन ने इसी आधार पर कोरिया के मामलों में हस्तक्षेप किया।

जहाँ एक संधि से उत्पन्न अधिकारों को लागू करने का प्रश्न है इस संबंध में भी राज्य दूसरे राज्यों में हस्तक्षेप करते रहे हैं। उदाहरणार्थ जब 1831 तथा 1839 में जर्मनी नेबेल्जियम पर आक्रमण किया तो ग्रेटब्रिटेन ने इस मामले में हस्तक्षेप किया क्योंकि ग्रेटब्रिटेन बेल्जियम से संधि के अन्तर्गत उसकी तटस्थता को बनाए रखने के लिए वचनबद्ध था। परन्तु संयुक्त राष्ट्र चार्टर के लागू हो जाने के बाद इस प्रकार का हस्तक्षेप न्यायोचित नहीं है क्योंकि संयुक्तराष्ट्र चार्टर में राज्यों से यह कहा गया है कि वे एक दूसरे के आन्तरिक तथा बाहरी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

किसी राज्य में जनता के साथ अमानवीय व्यवहार होने पर अन्य राज्य मानवता और मानवाधिकारों के रक्षार्थ भी हस्तक्षेप करते रहे हैं। उदाहरणार्थ 1827 में जब टर्की द्वारा यूनान में स्वतंत्रता संग्राम का क्रूरता से दमन किया जा रहा था तो ब्रिटेन, फ्रांस और रूस द्वारा यूनान में हस्तक्षेप किया गया परन्तु संयुक्त राष्ट्र चार्टर के लागू हो जाने के बाद इस प्रकार का हस्तक्षेप न्यायोचित नहीं है क्योंकि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार यदि मानवीय अधिकारों के उल्लंघन के आधार पर हस्तक्षेप किया जा सकता है तो ऐसा हस्तक्षेप अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा के आधार पर चार्टर के अध्याय 7 के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् स्वयं सामूहिक कार्यवाही द्वारा हस्तक्षेप कर सकती हैं।

राज्य शक्ति संतुलन हेतु भी हस्तक्षेप करते रहे हैं। आत्म-स्वतंत्रता के

संरक्षण एवं शांति हेतु 1648 में वेस्टफालिया की संधि के बाद से यूरोप की राजनीति ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि कोई भी राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति संपन्न न हो जाय, सब राज्यों में शक्तिसंतुलन बना रहे। 1886 तथा 1897 में ग्रीस और टर्की के मामलों में महाशक्तियों ने इसी उद्देदश्य से हस्तक्षेप किया था। परन्तु इस प्रकार के हस्तक्षेपों में यूरोपियन राज्यों के उद्देश्य बहुत स्वार्थपूर्ण रहे। वे इस प्रकार के हस्तक्षेपों के माध्यम से छोटे राज्यों के हितों को अपने हितों की पूर्ति के लिए बलिदान करने में तत्पर रहे। अब इस प्रकार का हस्तक्षेप न्यायोचित नहीं रह गया है।

कभी-कभी कोई कर्ज देने वाले राज्य किसी राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत खराब होने पर उसके मामलों में हस्तक्षेप करते रहे हैं। उदाहरणार्थ 1882 में ग्रेट ब्रिटेन ने मिश्र पर इसी आधार पर हस्तक्षेप किया था। परन्तु संयुक्त राष्ट्र चार्टर स्वयं इस प्रकार का हस्तक्षेप कर शांति स्थापित करने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ कांगो के गृहयुद्ध को समाप्त करने तथा शांति एवं कानून की स्थापना करने हेतु 1961 में संयुक्त राष्ट्र ने कांगो में हस्तक्षेप किया।

विदेशों में निवास कर रहे अपने नागरिकों के शरीर, संपत्ति तथा अन्य हितों की रक्षा हेतु भी राज्य दूसरे राज्यों में हस्तक्षेप करते रहे हैं। उदाहरणार्थ 1909 में अमरीकी सरकार ने अपने नागरिकों और उनके हितों की रक्षा हेतु निकारागुआ में हस्तक्षेप किया था परन्तु इस प्रकार का हस्तक्षेप अब वैध नहीं माना जाता। अब इस प्रकार की कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र के अधीन हैं।

कभी-कभी किसी राज्य में अवैध हस्तक्षेप होने अथवा अवैध हस्तक्षेप की आशंका होने पर उस अवैध हस्तक्षेप को रोकने के लिए भी अन्य राज्य, हस्तक्षेप करते रहे हैं ग्रेट ब्रिटेन ने इसी आधार पर 1828 में पुर्तगाल को सहायता पहुँचायी थी वर्तमान समय में इस प्रकार का हस्तक्षेप अवैध है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय 7 के अनुसार विश्वशांति तथा सुरक्षा

बनाए रखने के लिए एवं किसी आक्रमण को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र सामूहिक हस्तक्षेप कर सकता है। यदि सुरक्षा-परिषद् किसी राज्य का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए आपत्तिजनक समझती है तो वह उस राज्य के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगाने उससे राजनयिक संबंध तोड़ने एंव रेल समुद्र वायु, डाक, तार, रेडियो आदि संचार-साधन काटने का आदेश दे सकती है परन्तु यदि इस कार्यवाही से समस्या का समाधान नहीं होता है तो सुरक्षा-परिषद् ऐसे राज्य के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र ने इसी आधार पर 1950 में कोरिया में तथा 1961 में कांगो में सामूहिक हस्तक्षेप की कार्यवाही की थी।

आज अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सुरक्षा के लिए तथा संरक्षित राज्य के मामलों में हस्तक्षेप वैध माना जाता है।

2.16 हस्तक्षेप से संबंधित प्रमुख सिद्धान्त

हस्तक्षेप से संबंधित दो प्रमुख सिद्धान्त है-

(a) मुनको सिद्धान्त

(b) ड्रंगो सिद्धान्त

(a) मुनरो सिद्धान्त की घोषणा संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति मुनरो ने कांग्रेस के नाम एक संदेश में 1823 में की थी। मुनरों सिद्धान्त में तीन घोषणाएँ सम्मिलित हैं-

(i) अमरीकी महाद्वीप उपनिवेश का विषय नहीं बनाये जायेंगे।

(ii) अमरीका यूरोपियन शक्तियों के युद्धों में तथा उनसे संबंध रखनेवाले विषयों में कोई भाग नहीं लेगा,

(iii) अमरीका यूरोपीय शक्तियों को इस बात की अनुमति नहीं दे सकता कि वे अमरीका के किसी भाग में अपनी राजनीतिक पद्धति का विस्तार करें तथा दक्षिण अमरीकी गणतन्त्र की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करें। यदि वे ऐसा करते हैं तो उनका ऐसा आचरण अमरीका के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण

आचरण समझा जायेगा।

इस प्रकार मुनरो सिद्धान्त हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त पर आधारित रहा। वस्तुत मनुरों सिद्धान्त का अनुसरण संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने हितों की पूर्ति के उद्देश्य से किया जो सिद्धान्त दक्षिण अमरीका के राज्यों में यूरोपीयन हस्तक्षेप को रोकने के उद्देश्य से बनाया गया था। उसका एकमात्र प्रयोजन इन राज्यों में हस्तक्षेप का अनन्य अधिकार संयुक्त राज्य अमरीका को प्रदान करना रहा। अतः जैसा कि स्टार्क ने कहा है कि वह सिद्धान्त जिसका मूल उद्देश्य हस्तक्षेप का विरोध करना था स्वयं एक हस्तक्षेप के सिद्धान्त में परिवर्तित हो गया। 1961 में क्यूबा पर आक्रमण 1962 में क्यूबा का संगरोध, 1965 में डेमिनियिन गणराज्य में सैनिक हस्तक्षेप मुनरो सिद्धान्त के अन्तर्गत अमरीकी हस्तक्षेप के प्रमुख उदाहरण हैं।

(a) ड्रेगो सिद्धान्त की घोषणा अर्जेन्टाइना के विदेश मंत्री ड्रेगो ने 1902 में की थी। इसके अनुसार कोई भी यूरोपीय राज्य सार्वजनिक ऋण के आधार पर अमरीका महाद्वीप के राष्ट्रों के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रखता।

यह सिद्धान्त इसलिए प्रतिपादित किया गया क्योंकि यूरोपीय राज्यों ने अपने नागरिकों को दावों के पक्ष में सैनिक बल का प्रयोग करना आरंभ कर दिया था। उदाहरणार्थ 1902 में ही ग्रेट ब्रिटेन तथा जर्मनी ने अपने नागरिकों के ऋणों को वेनेजुएला से वसूल करने के लिए वेनेजुएला के विरुद्ध नाकाबन्दी की।

वर्तमान समय में मुनरों एंव ड्रेगो सिद्धान्तों का कोई विशेष महत्व नहीं है क्योंकि अब संयुक्त राष्ट्र चार्टर द्वारा ही हस्तक्षेप न करने का सिद्धान्त स्थापित किया जा चुका है।

2.17 सारांश

राष्ट्रीयता राज्य और नागरिक के बीच का वैध संबंध है। इसे जन्म द्वारा, अधीनता द्वारा, देशीयकरण द्वारा प्रदेश के हस्तान्तरण द्वारा, पुनः प्राप्ति द्वारा प्राप्त किया जा सकता है तथा उसे त्यागन द्वारा मुक्ति द्वारा,

स्थानान्तरण द्वारा, वंचन द्वारा, दीर्घकालीन विदेश नीति द्वारा खोया जा सकता है। राष्ट्रीयता दोहरी भी हो सकती है उदाहरणार्थ ब्रिटेन में विदेशी माता-पिता का संतान जन्म से ही दोहरी राष्ट्रीयतावाला, हो जाता है। ऐसी स्थिति में तीसरा राज्य उस राष्ट्रीयता को मानता है, जहाँ वह बहुधा रहता हो या उससे अधिक संबंधित हो। कभी-कभी राज्यविहीनता की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति का किसी राज्य द्वारा राष्ट्रीयता खो देना तथा किसी दूसरे राज्य द्वारा राष्ट्रीयता न प्राप्त होना। इस समस्या के समाधान हेतु ऐसे को जन्मभूमि की राष्ट्रीयता प्राप्त करने का अधिकार हो। साथ ही विवाह के कारण किसी स्त्री या पुरुष की राष्ट्रीयता किसी राज्य द्वारा तब तक न खो दी जाय जब तक कि वह किसी राज्य की नयी राष्ट्रीयता प्राप्त न कर ले।

राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि इसी के द्वारा नागरिक राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लाभों का उपयोग करता है।

प्रत्यर्पण

प्रत्यर्पण का तात्पर्य एक राज्य में अपराध करने के बाद दूसरे राज्य में चले जाने पर पहले राज्य की प्रार्थना पर दूसरे राज्य द्वारा उस अपराधी को सौंपना है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में प्रत्यर्पण मुख्यतः द्विपक्षीय और बहुराष्ट्रीय संधियों पर आधारित है। संधि न होने पर प्रत्यर्पण करना नैतिक कर्त्तव्य हो सकता है, वैधिक नहीं। प्रत्यर्पण की प्रक्रिया दूतावास के माध्यम से प्रारंभ होती है। सामान्यतः धार्मिक, सैनिक, एवं राजनीतिक अपराधियों का प्रत्यर्पण नहीं होता। प्रत्यर्पणनीय अपराध के संबंध में राज्यव्यवहार की दो प्रवृत्तियाँ हैं प्रथम प्रत्यर्पण संबंधी सन्धि में स्पष्ट रूप से प्रत्पर्पणीय अपराधों को सूचीबद्ध कर देना और द्वितीय प्रत्यर्पण करनेवाले तथा प्रत्यर्पण मांगनेवाले दोनों राज्यों में अपराध के लिए निर्धारित न्यूनतम दण्ड की व्यवस्था (जो कि प्रायः एक वर्ष का कारावास होती है। होने पर ही प्रत्यर्पण करना। प्रायः सभी राज्यों के प्रत्यर्पण कानूनों में प्रत्यर्पणीय अपराधों का उल्लेख होता है। इन्हीं प्रत्यर्पणीय अपराधों को प्रत्पर्यण संबंधी संधियों में सूचीबद्ध कर दिया

जाता है।

हस्तक्षेप

हस्तक्षेप का तात्पर्य किसी राज्य के मामलों में किसी दूसरे राज्य अथवा राज्यों द्वारा ऐसा आदेशात्मक दखल है जिससे कि वह राज्य उपस्थित परिस्थितियों को बनाये रखे अथवा उसमें परिवर्तन लाये। हस्तक्षेप के कई प्रकार हो सकते हैं। उदाहरणार्थ आन्तरिक हस्तक्षेप, बाह्य हस्तक्षेप, दण्डात्मक हस्तक्षेप, विध्वंसकारी हस्तक्षेप, कूटनीतिक हस्तक्षेप आदि। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद 2(4) हस्तक्षेप न करने की बात कहता है फिर भी विशेष परिस्थितियों में दूसरे राज्य के मामलों में हस्तक्षेप किया जा सकता है। आत्मरक्षा हेतु हस्तक्षेप (यदि वह प्रतिशोध के भाव से नहीं है।) वैध है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय 7 के अनुसार विश्वशांति तथा सुरक्षा बनाए रखने के लिए एवं किसी आक्रमण को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र सामूहिक हस्तक्षेप कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र ने इसी आधार पर 1950 में कोरिया में तथा 1961 में कांगो में सामूहिक हस्तक्षेप की कार्यवाही की थी।

2.18 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. हरिओम जैन अन्तर्राष्ट्रीय विधि

2.19 संबंधित प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

(1) राष्ट्रीयता किसे कहते हैं? इसे प्राप्त करने तथा खोने के प्रकार बतायें।

(2) प्रत्यर्पण किसे कहते हैं? प्रत्यर्पण संबंधी प्रमुख नियमों का वर्णन करे।

लघुउत्तरीय प्रश्न

(1) राष्ट्रीयता प्राप्ति के प्रकार बतायें।

(2) प्रत्यर्पण हेतु आवश्यक दशाएँ क्या हैं? स्पष्ट करें।

(3) हस्तक्षेप से संबंधित प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राष्ट्रीयता विहीनता संबंधी समस्या का समाधान हुआ :

   (अ) हेग सम्मेलन 1899 में

   (ब) हेग सम्मेलन 1907 में

   (स) हेग सम्मेलन 1930 में

   (द) जेनेवा सम्मेलन 1949 में

2. वंचन द्वारा राष्ट्रीयता खोने में संबंध के भारत का नागरिक कानून निर्मित हुआः

   (अ) 1955 में

   (ब) 1956 में

   (स) 1957 में

   (द) 1958 में

3. प्रत्यर्पण के संबंध में न्यूनतम दंड सिद्धान्त को अपनाया गया :

   (अ) भारत में

   (ब) फ्रांस में

   (स) जर्मनी में

   (द) ग्रेट ब्रिटेन में

4. कैस्टिओनी का मुकदमा संबंधित हैः

   (अ) प्रत्यर्पण से

   (ब) राष्ट्रीयता से

   (स) क्षेत्राधिकार से

   (द) हस्तक्षेप से

5. हस्तक्षेप से संबंधित सिद्धान्त हैः

(अ) मुनरो सिद्धान्त

(ब) स्टिमूसन सिद्धान्त

(स) पैक्टा सुन्ट सर्वेन्डा का सिद्धान्त

(द) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

2.20 प्रश्नोत्तर

1. (स)
2. (अ)
3. (ब)
4. (अ)
5. (अ)

इकाई -3 : मान्यता राज्य - उत्तराधिकार तथा राजनयिक प्रतिनिधि

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 मान्यता के सिद्धान्त

3.3 मान्यता प्राप्त करने के आधार

3.4 मान्यता के विभिन्न रूप

3.5 निर्वासित सरकार की मान्यता

3.6 युद्धावस्था की मान्यता

3.7 अभिद्रोह की मान्यता

3.8 मान्यता की परिणाम

3.9 भारत की मान्यता-विषयक नीति

3.10 राज्य-उत्तराधिकार

3.11 राज्य उत्तराधिकार के परिणाम

3.12 राजनयिक प्रतिनिधि की श्रेणियाँ

3.13 राजनयिक प्रतिनिधि की श्रेणियाँ

3.14 राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति

3.15 राजनयिक प्रतिनिधियों के कार्य

3.16 राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार

3.17 सारांश

3.18 संदर्भ-ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

3.19 संबंधित प्रश्न

3.20 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के तीन महत्वपूर्ण पक्षों-

मान्यता, राज्य-उत्तराधिकार तथा राजनयिक प्रतिनिधि के विषय में चर्चा की जाएगी। इस इकाई का आध्ययन करने के पश्चात् आपः

- मान्यता का अर्थ, मान्यता के विभिन्न रूप तथा मान्यता के परिणामों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- राज्य-उत्तराधिकार के विभिन्न पक्षों का विवेचन कर सकेंगे।
- राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति, उनकी विभिन्न श्रेणियों, कार्यों तथा उनकी उन्मुक्तियों आदि की चर्चा करेंगे।

3.1 प्रस्तावना

राज्यों द्वारा किसी नये राज्य अथवा किसी नयी सरकार के अस्तित्व को स्वीकार करना मान्यता कहलाता है। मान्यता के संबध में 1936 में अन्तर्राष्ट्रीय विधि संस्थान ने यह अभिप्राय स्वीकार किया कि किसी निश्चित भू-भाग पर स्वतन्त्र राजनीतिक दृष्टि से संगठित तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को निभाने में समर्थ मानवीय समुदाय के अस्तित्व को एक या अधिक राज्यों द्वारा स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करना एक नये राज्य की मान्यता कहा जा सकता है, जिसके द्वारा ये राज्य इस नये राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का सदस्य मानना स्वीकार करते हैं। इस संबंध में ओपनहाइम का यह कहना है कि मान्यता प्रदान कर विद्यमान राज्य यह घोषणा करते हैं कि उनके मतानुसार नये राष्ट्र में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत आवश्यक राज्य के सभी गुण विद्यमान हैं। अतः केवल मान्यता द्वारा ही कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बनता है।

3.2 मान्यता के सिद्धान्त

मान्यता के संबंध में दो मुख्य सिद्धान्त हैं-

(a) निर्माणात्मक सिद्धान्त

(b) घोषणात्मक सिद्धान्त

निर्माणात्मक सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हीगल, ओपनहाइम, जेलिनिक और हालैण्ड हैं। निर्माणात्मक सिद्धान्त के अनुसार मान्यता द्वारा ही राज्य

का निर्माण होता है। मान्यता द्वारा ही राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व मिलता हैं। अतः जब तक किसी राज्य को मान्यता नहीं दी जाती तब तक उसकी कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नहीं होती।

घोषणात्मक सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हाल, पिट कॉबेट और ब्रियर्ली हैं। घोषणात्मक सिद्धान्त के अनुसार किसी राज्य को मान्यता प्रदान करना केवल उसके राज्य होने की घोषणा मात्र करना है। मान्यता किसी राज्य का निर्माण नहीं करती किन्तु पहले से निर्मित राज्य को स्वीकृति प्रदान करती है।

अतः मान्यता से संबंधित सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी हैं। एक के अनुसार मान्यता के पश्चात् ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कोई नया राज्य अपना अस्तित्व स्थापित कर पाता है तो दूसरे के अनुसार उस नये राज्य का अस्तित्व तो उसी दिन से स्थापित हो चुका रहता है जिस दिन से उसने राज्य के लक्षणों को प्राप्त कर लिया था, मान्यता तो मात्र राज्य के अस्तित्व की संपुष्टि है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से निर्माणात्मक सिद्धान्त को उचित माना जाय या घोषणात्मक सिद्धान्त को? इस संदर्भ में लाटरपैक्ट ने अनेक उदाहरण देकर यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि केवल अस्तित्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की उत्पत्ति नहीं होती। 1931 में मंचूरिया पर आक्रमण करके जापान ने मांचुको नाम के नये राज्य की घोषणा की थी। परन्तु अन्य राज्यों द्वारा मान्यता न मिलने के कारण मांचुको को कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्राप्त न हो सका। फलस्वरूप मान्यता द्वारा ही राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व मिलता है। इसके अतिरिक्त मान्यताप्राप्त राज्यों के अस्तित्व को ही राष्ट्रीय न्यायालय स्वीकार करते हैं, अमान्य राज्यों के अस्तित्व को नहीं। अतः राज्यों के आचरण के अनुरूप होने के कारण मान्यता का निर्माणात्मक सिद्धान्त उचित प्रतीत होता है।

परन्तु राज्य केवल कानूनी दृष्टि से विचार करने के बाद ही मान्यता नहीं प्रदान कर देते बल्कि राज्य इस पर राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से भी विचार करते हैं तथा इसके बाद ही नये राज्य को मान्यता प्रदान करते हैं।

इसीलिए कई बार तो मान्यता प्रदान करने में पर्याप्त विलम्ब हो जाता है जबकि कई बार अतिशीघ्र मान्यता प्रदान कर दी जाती है। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमरीका ने रूस तथा चीन की साम्यवादी सरकारों को तो वर्षों मान्यता प्रदान नहीं की जबकि इजरायल के जन्म की घोषणा के कुछ ही घण्टों में मान्यता दे दी अतः मान्यता प्रदान करना वस्तुतः एक राजनीतिक निर्णय है। इसलिए मान्यता का अभाव किसी राज्य की सत्ता का अभाव प्रकट नहीं करता। राज्य की सत्ता तो उसी समय से स्थापित हो जाती है जब से वह राज्य के लक्षणों को प्राप्त कर लेता है। अतः मान्यता पहले से स्थापित राज्य को स्वीकृति प्रदान करना है। यह मान्यता भूतप्रभावी होती है जिसके परिणामस्वरूप मान्यता दी जाने से पूर्व भूतकाल में उस समय से उसके कार्यों को वैध मानते हैं जबसे नयी सरकार ने कार्य करना आरंभ किया था। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में मान्यता से पहले भी नयी सरकार की सत्ता को स्वीकार किया जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मान्यता का घोषणात्मक सिद्धान्त ही सत्य है।

क्या मान्यता प्रदान करने का विधिक कर्त्तव्य है?

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में नये राज्य को मान्यता देने का कोई विधिक कर्त्तव्य नहीं है। यह मान्यता प्रदान करने वाले राज्य पर निर्भर है कि मान्यता प्रदान कर अथवा उसे रोक ले। पोडेस्टा कोस्टा (Prodeste Ciste) का मत कि मान्यता प्रदान करना ऐच्छिक (Facilitative) कृत्य है न कि बाध्यकारी जो राज्यों के व्यवहार के अनुकूल है।

3.3 मान्यता प्रदान करने के आधार

यद्यपि मान्यता प्रदान करने में प्रमुख कारण राजनीतिक ही होता है। फिर भी मान्यता प्रदान करने हेतु राज्य तीन शर्तों का होना आवश्यक समझते हैं। प्रथम तो यह कि नया राज्य सम्पूर्ण प्रभुसत्तासंपन हो। द्वितीय यह कि नये राज्य की सरकार को सुदृढता एवं स्थायित्व हो और तृतीय यह कि नये राज्य में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दायित्वों को पालन कर सकने की इच्छा तथा सामर्थ्य हो।

(4) मान्यता प्रदान करने की विधियाँ -

किसी नये राज्य को प्रायः छः विधियों से मान्यता प्रदान की जाती है-

(a) संधियों द्वारा,

(b) दौत्य संबंध द्वारा,

(c) एकपक्षीय घोषणा द्वारा,

(d) सामूहिक घोषणा द्वारा,

(e) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रवेश द्वारा और

(f) संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता द्वारा।

(a) संधियों द्वारा - जब कोई राज्य किसी नये राज्य से संधि करता है तो प्रायः यह समझा जाता है कि उसने उसे मान्यता प्रदान कर दी। उदाहरणार्थ जर्मनी ने 1884 में कांगो फ्री स्टेट के साथ संधि करके उसे मान्यता प्रदान की। इन संधियों में कुछ संधियाँ तो ऐसी होती हैं जिनमें मान्यता का स्पष्ट उल्लेख होता है परन्तु कुछ संधियाँ ऐसी होती है जिनमें मान्यता का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। उदाहणार्थ जर्मनी द्वारा 1884 में कांगो फ्री स्टेट के साथ की गयी संधि जर्मनी द्वारा कांगो फ्री स्टेट को मान्यता दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख करता है। जबकि संयुक्त राज्य अमरीका ने स्वतंत्र होने के बाद फ्रांस से जो संधि की थी उससे फ्रांस द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका को मान्यता दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। परन्तु इस संधि में शर्तें ऐसी थी जो केवल स्वतंत्र राज्यों के बीच हो सकती थी। फलस्वरूप इस संधि के द्वारा फ्रांस ने संयुक्त राज्य अमरीका को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया ऐसा समझा गया। अतः इस संधि में मान्यता दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी मान्यता का कार्य संपन्न हो गया।

(b) दौत्य संबंध द्वारा - जब किसी नये राज्य के साथ दूसरे राज्य अपने राजनीतिक प्रतिनिधियों का आदान-प्रदान करते हैं तो यह समझ लिया जाता है कि नये राज्य को मान्यता प्रदान कर दी गयी क्योंकि इस प्रकार के

दौत्य संबंध मान्य राज्यों के बीच ही स्थापित होते हैं।

(c) एकपक्षीय घोषणा द्वारा- जब किसी नये राज्य को कोई दूसरा राज्य एकपक्षीय घोषणा द्वारा स्वीकार करता है तो यह समझ लिया जाता है कि घोषणा करने वाले राज्य ने उस नये राज्य की मान्यता प्रदान कर दी। उदाहरणार्थ इजरायल की स्थापना के कुछ ही घण्टों के भीतर संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने एकपक्षीय घोषणा के द्वारा इजरायल को मान्यता प्रदान कर दी।

(d) सामूहिक घोषणा द्वारा - जब किसी नये राज्य को अनेक राज्य सामूहिक घोषणा द्वारा स्वीकार करते हैं तो यह समझ लिया जाता है कि घोषणा करने वाले राज्यों ने उस नये राज्य को मान्यता प्रदान कर दी उदाहरणार्थ 1921 में मित्र राष्ट्रों ने इस्टोनिया तथा अल्बानिया को सामूहिक घोषणा के द्वारा मान्यता प्रदान की थी।

(e) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रवेश द्वारा - जब कोई नया राज्य किसी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेता है तो यह समझ लिया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेनेवाले अन्य राज्यों ने उस नये राज्य को मान्यता प्रदान कर दी। उदाहणार्थ 1831 में बेल्जियम की स्थापना के बाद उसे महाशक्तियों के लन्दन के सम्मेलन में सम्मिलित होने से मान्यता मिली।

(f) संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता के द्वारा- जब कोई नया राज्य संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त करता है तो यह समझा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र के अन्य सदस्यों ने उस नये राज्य को मान्यता प्रदान कर दी। उदाहरणार्थ ब्रिटिश जेमिनियनों एवं लीबिया आदि अनेक नये राज्यों को संयुक्त राष्ट्र (प्राचीन नाम राष्ट्रसंघ) की सदस्यता से मान्यता प्राप्त हुयी।

3.4 मान्यता के विभिन्न रूप

मान्यता के पाँच विभिन्न रूप हैं-

(a) स्पष्ट और ध्वनित मान्यता,

(b) एकाकी और सामूहिक मान्यता,

(c) वास्तविक और कानूनी मान्यता,

(d) प्रतिबन्धयुक्त मान्यता और

(e) अतिक्षिप्र मान्यता।

(a) स्पष्ट और ध्वनित मान्यता- जब कोई राज्य किसी नये राज्य को संधि अथवा घोषणा के द्वारा मान्यता प्रदान करता है तो नये राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करने के कारण यह स्पष्ट मान्यता कहलाता है। परन्तु जब कोई राज्य किसी नये राज्य को अनेक राजनीतिक कारणों से स्पष्ट मान्यता न प्रदान कर उस नये राज्य से इस प्रकार का व्यवहार करने लगता है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि उसने उस नये राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को स्वीकार कर लिया तो यह ध्वनित मान्यता कहलाता है।

(b) एकाकी और सामूहिक मान्यता - जब किसी नये राज्य को अन्य राज्य पृथक रूप से मान्यता प्रदान करते हैं तो यह एकाकी मान्यता एवं अन्य राज्य मिलकर किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या समझौते के द्वारा मान्यता प्रदान करते हैं तो यह सामूहिक मान्यता कहलाता है।

(c) वास्तविक और कानूनी मान्यता- जब किसी नये राज्य के तात्कालिक अस्तित्व को कोई अन्य राज्य अस्थाई रूप से स्वीकार करता है तो यह वास्तविक मान्यता कहलाता है। वास्तविक मान्यता प्रायः उस स्थिति में प्रदान की जाती है जबकि नये राज्य का स्थायित्व एवं उसकी वैधता संदिग्ध हो तथा मान्यता प्रदान करने वाला राज्य मान्यता प्रदान किये जाने वाले राज्य के संबंध में यह निश्चय नहीं कर पा रहा हो कि वह (नया राज्य) अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभा सकेगा या नहीं। उदाहणार्थ 1945-49 की अवधि में जब इंडोनेशिया हॉलैण्ड के प्रभुत्व से स्वतन्त्र होने के लिए संघर्ष कर रहा था तो अनेक राज्यों ने इंडोनेशिया राज्य को वास्तविक मान्यता इसलिए प्रदान की क्योंकि मान्यता प्रदान करने वाले राज्यों की दृष्टि में इंडोनेशिया द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभा पाना फिलहाल संदिग्ध था। वास्तविक मान्यता प्रदान किये जाने का प्रमुख कारण यह होता है कि मान्यता प्रदान करनेवाला राज्य मान्यता प्रदान

किये जाने वाले राज्य में अपने नागरिकों के स्वार्थों की रक्षा कर सके। यह वास्तविक मान्यता अस्थायी होती है अतः इसे कभी भी निरस्त किया जा सकता है।

जब किसी नये राज्य के अस्तित्व को कोई अन्य राज्य स्थायी रूप से स्वीकार करता है तो यह कानूनी मान्यता कहलाता है। कानूनी मान्यता उस स्थिति में प्रदान की जाती है जबकि नये राज्य का स्थायित्व एवं उसकी वैधता असंदिग्ध हो तथा मान्यता प्रदान करने वाले राज्य की मान्यता प्रदान किये जाने वाले राज्य के संबंध में यह विश्वास हो कि वह नया राज्य अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों को पूरी तरह निभा सकेगा। मान्यता प्रदान करने वाला राज्य कभी-कभी कानूनी मान्यता के पूर्व वास्तविक मान्यता प्रदान कर देता है ताकि उस नये राज्य के स्थायित्व एवं वैधता के संबंध में परीक्षण हो जाय। परीक्षण में जब मान्यता प्रदान करनेवाले राज्य को यह विश्वास हो जाता है कि अब वास्तविक मान्यता प्राप्त नये राज्य का स्थायित्व एवं उसकी वैधता असंदिग्ध है तथा वह नया राज्य अब अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियो को पूरी तरह निभा सकेगा तो वास्तविक मान्यता प्रदान किये गये उस नये राज्य को कानूनी मान्यता प्रदान कर देता है। उदाहणार्थ संयुक्त राज्य अमरीका ने इजराइल को मई 1948 में पहले वास्तविक मान्यता प्रदान की तथा लगभग एक महीने पश्चात् जून 1948 में कानूनी मान्यता दी। ग्रेट ब्रिटेन ने साम्यवादी सोवियत को 1921 में वास्तविक मान्यता देने के तीन वर्ष पश्चात् 1924 में कानूनी मान्यता दी थी।

कानूनी मान्यता प्रदान करने के बाद वापस नहीं ली जा सकती जबकि वास्तविक मान्यता वापस की जा सकती है।

कभी-कभी वास्तविक तथा कानूनी मान्यता से उत्पन्न अधिकारों में संघर्ष हो जाता है। ऐसी स्थिति में जिस राज्य या सरकार को बाद में मान्यता प्रदान की गयी है, भले ही वह बाद में प्रदान की गयी मान्यता वास्तविक मान्यता ही क्यों न हो, उसी बादवाली मान्यता से उत्पन्न अधिकारों को ही न्यायोचित समझा जाता है।

(d) प्रतिबन्धयुक्त मान्यता - जब मान्यता प्रदान करते समय कोई

प्रतिबन्ध अथवा शर्त लगा दी जाती है तो इस प्रकार की मान्यता को प्रतिबन्धयुक्त मान्यता अथवा सशर्त मान्यता कहा जाता है उदाहरणार्थ 1878 में जब बलगेरिया मान्टनिग्रों, साविया तथा रूमानिया को बर्लिन कांग्रेस द्वारा मान्यता प्रदान की गयी थी तो यह शर्त लगा दी गयी थी कि वे अपने देशवासियों पर धार्मिक रोक न लगायें। वस्तुतः मान्यता देने के पूर्व ही यह देख लिया जाता है कि सम्बन्धित राज्य शांतिप्रिय है अथवा नहीं नये राज्य को मान्यता देना ही उसके राज्यपन को स्वीकार करना है। अतः किसी राज्य के बारे में यह शर्त लगाना कि अगर उसका व्यवहार संतोषजनक रहा तो यह मान लिया जाएगा कि उसमें राज्य की विशेषताएँ हैं, निरर्थक है। मान्यता प्रदान करते समय शर्त लगाना इसलिए भी निरर्थक हो जाता है क्योंकि मान्यता प्रदान करने के बाद यदि आवश्यक शर्तों का अभाव हो जाता है तो दी गयी मान्यता को वापस नहीं लिया जा सकता। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इतिहास में शर्तों पर निर्भर मान्यता के उदाहरणों की संख्या अत्यन्त ही कम है।

(e) अतिक्षिप्र मान्यता-यदि किसी राज्य में क्रांति हो तथा उसका कोई अंश पृथक होकर स्वतंत्र सरकार स्थापित कर लेने की घोषणा करे तो घोषणा, करनेवाली नयी सरकार को यदि अन्य राज्य जल्दबाजी में मान्यता प्रदान कर दें तो यह मान्यता अतिक्षिप्र मान्यता कहलाती है। यदि मान्यता प्रदान करने वाला राज्य यह महसूस करे कि उसने जल्दबाजी में मान्यता प्रदान कर गलती की है तो वह इस अतिक्षिप्र मान्यता को वापस ले सकता है।

(g) सरकार की मान्यता - नयी सरकार की मान्यता राज्य की मान्यता से भिन्न है। नयी सरकार को मान्यता न देने का अर्थ यह नहीं है कि राज्य की मान्यता वापस हो गयी। जब राज्य के शासन में परिवर्तन होता है, तो उसे अन्य राज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त करने की अपेक्षा की जाती है। जब सरकार में परिवर्तन संवैधानिक तरीकों द्वारा होता है, तब मान्यता देने में कोई समस्या नहीं होती और यह मात्र औपचारिकता होती है। परन्तु जब किसी राज्य में हिंसात्मक अथवा अवैधानिक उपायों से किसी नयी सरकार की स्थापना हो तो राज्य की मान्यता से अलग उस राज्य की उस नयी

सरकार को भी मान्यता प्रदान की जाती है। उदाहणार्थ चीन की साम्यवादी सरकार, अफगानिस्तान की सरकार दाऊद खाँ की सरकार, यूनान तथा चिली की सैनिक सरकार को प्रदान की गयी मान्यता। अतः किसी राज्य में हिंसात्मक अथवा अवैधानिक उपायों से अस्तित्व में आ गयी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अवैध नहीं मानी जाती। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य को कोई भी शासनप्रणाली अपनाने तथा किसी को भी शासनाधिकारी नियुक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। इसीलिए नयी सरकार की मान्यता अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत वैध है भले ही वह नयी सरकार असंवैधानिक उपायों से अस्तित्व में आयी हो।

किसी नयी सरकार को मान्यता देने से पूर्व उसकी दो प्रकार की परीक्षा ली जाती है-

(i) वस्तुगत परीक्षा,

(ii) आत्मगत परीक्षा

(i) वस्तुगत परीक्षा- इसके अन्तर्गत इस बात का परीक्षण होता है कि क्या नयी सरकार अपने देश के शासनतंत्र पर वास्तविक नियंत्रण रखती है? क्या नयी सरकार की सत्ता का विरोध नहीं किया जाता? और क्या नयी सरकार की आज्ञाओं का राज्य के अधिकांश नागरिक स्वभावतः पालन करते हैं? परीक्षा के दौरान उत्तर अनुकूल मिलने पर यह माना जाता है कि संबंधित सरकार राज्य की सही प्रतिनिधि है और उसे मान्यता दी जा सकती है।

(ii) आत्मगत परीक्षा - आत्मगत परीक्षा के अन्तर्गत नयी सरकार का इस संदर्भ में परीक्षण होता है कि नयी सरकार अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को निभाने के लिए सहमत और समर्थ है या नहीं? उत्तर अनुकूल मिलने पर यह माना जाता है कि संबंधित सरकार राज्य की सही प्रतिनिधि है और उसे मान्यता दी जा सकती है। परन्तु यह परीक्षण अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि जो भी सरकार अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करेगी, वह अपने कानूनी दायित्वों का भी निर्वाह करेगी। इसके

अतिरिक्त यदि नयी सरकार आंतरिक अशांति द्वारा अस्तित्व में आयी हो तो उसका अर्थ यह नहीं है कि वह नयी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान नहीं रखेगी।

3.5 निर्वासित सरकार की मान्यता

निर्वासित सरकार ऐसे देश की सरकार होती है जिसके देश पर आक्रमण करके किसी दूसरे देश ने अधिकार कर लिया हो, फलस्वरूप वहाँ की सरकार अन्य देश में चली गयी हो। उदाहणार्थ द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर के आक्रमण के समय पोलैण्ड, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, हालैण्ड और फ्रांस आदि की सरकारें लन्दन चली गयीं और वहाँ से स्वदेश को स्वतंत्र कराने का प्रयास करती रही। ऐसी अवस्था में इन सभी राज्यों की सरकारों को जो लन्दन से स्वदेश को स्वतंत्र कराने का प्रयास करती रहीं, निर्वासित सरकारें कहा जायेगा। इस प्रकार की निर्वासित सरकारें मान्यता प्राप्त कर लेती है और अपने देश को स्वतंत्र कराने के पश्चात् स्वतंत्र सरकारें बन जाती हैं। परन्तु यदि निर्वासित सरकारें अपने प्रयास में सफल न हो सकें तो उनकी मान्यता समाप्त हो जाती है।

सरकारों की मान्यता के संदर्भ में दो प्रमुख सिद्धान्त प्रचलित हैं-

(i) एस्ट्रेडा सिद्धान्त

(ii) सिस्टम्सन सिद्धान्त

एस्ट्रेडा सिद्धान्त मेक्सिको के विदेश मंत्री जेनारो एस्ट्रेडा द्वारा 1930 में प्रतिपादित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार मैक्सिको किसी देश की ऐसी सरकार को मान्यता प्रदान नहीं करेगा जो षड्यंत्रों या क्रांतियों द्वारा शक्ति में आयी है। यद्यपि मैक्सिको सरकार षड्यंत्रों या क्रांतियों द्वारा शक्ति में आयी नयी सरकार को मान्यता देने के विषय में कोई सम्मति प्रकट नहीं करेगी फिर भी जब तक यह उचित समझेगी नयी सरकार के साथ अपना दौत्यपूर्ण संबंध बनाये रखेगी।

स्टिम्सन सिद्धान्त अमरीकी विदेश मंत्री स्टिम्सन द्वारा 1932 में प्रतिपादित हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसी किसी

भी स्थिति, संधि-अथवा अनुबंध को मान्यता नहीं प्रदान करेगा जो कि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र तथा पेरिस के पैक्ट 1928 के सिद्धान्तों के विपरीत हों। स्टिम्सन सिद्धान्त के अनुसार कोई भी परिस्थिति यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करती है तो मान्यता प्रदान करने के कारण वैध नहीं कही जा सकती।

1970 से राज्यों के व्यवहार में नीति परिवर्तन आ गया है कि नये राज्य को मान्यता तो प्रदान करते हैं परन्तु नयी सरकारों को मान्यता की औपचारिक नहीं करते। अगस्त 1977 में अमेरिका ने यह घोषणा की कि नयी सरकारों के परिवर्तन पर उसे मान्यता प्रदान करने की आवश्यता नहीं है केवल यह अमेरिका इस बात पर विचार करेगी कि नयी सरकार के राजनयिक संबंध स्थापित किये जाय। इस प्रकार की घोषणा 1980 में इग्लैण्ड ने की थी और 1988 में आस्ट्रेलिया ने।

3.6 युद्धावस्था की मान्यता

किसी राज्य का गृहयुद्ध उसका अपना घरेलू मामला होता है अतः अन्य राज्य इस विषय में सर्वथा उदासीन रहते हैं परन्तु जब इस युद्ध का प्रभाव अन्य राज्यों पर पड़ता है तब वे उदासीन नहीं रह पाते तथा इस विषय में कार्यवाही करने के लिए बाध्य हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप दोनों पक्षों को युद्धावस्था की मान्यता देनी बड़ती है। युद्धावस्था की मान्यता का उद्देश्य आन्तरिक विद्रोह अथवा गृहयुद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध संबंधी नियमों से नियमित करना होता है ताकि संबंधित पक्ष युद्ध संबंधी नियमों का पालन करें संघर्ष में बर्बरता के स्थान पर संयम एवं मानवता का बर्ताव हो और विद्रोहकारियों को साधारण अपराधियों से भिन्न समझा जाय। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा निर्धारित दशाएँ उपस्थित होने पर विद्रोहकारियों को स्वतंत्र राज्य की भाँति युद्धावस्था के अधिकार दिये जा सकते हैं। परन्तु ऐसा करना किसी राज्य के लिए अनिवार्य नहीं है। युद्धावस्था की मान्यता देने या न देने में राज्य पूर्णतया स्वतंत्र हैं परन्तु यह आवश्यक है कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा निर्धारित दशाएँ उपस्थित न हों युद्धावस्था की मान्यता न दी जाय। युद्धावस्था की मान्यता प्रदान करने हेतु अन्तर्राष्ट्रीय विधि के

द्वारा 4 प्रमुख दशाएँ निर्धारित की गयीं हैं-

(i) राज्य में सशस्त्र संघर्ष से उत्पन्न गृहयुद्ध की स्थिति हो।

(ii) राज्य के अधिकांश भाग पर विद्रोहकारियों का नियंत्रण हो,

(iii) विद्रोहकारी युद्ध का संचालन संगठित सेनाओं के द्वारा तथा युद्ध के नियमों के अनुसार कर रहे हों,

(iv) ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायँ जिनसे अन्य राज्यों के लिए युद्धावस्था को मान्यता प्रदान करना आवश्यक हो जाये उदाहरणार्थ गृहयुद्ध राज्य में अपने नागरिकों तथा उनकी संपत्ति की रक्षा, व्यापार और वाणिज्य संबंधी हितों की सुरक्षा तथा गृहयुद्ध के दौरान वैध सरकार अथवा विद्रोहकारियों द्वारा महायुद्ध में विनिषिद्ध वस्तुओं के लिए जलपोतों का निरीक्षण और तलाशी आदि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि अन्य राज्यों के लिए युद्धावस्था को मान्यता प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। एक ब्रिटिश सरकारी वक्तव्य में यह कहा गया है कि विद्रोहकारियों द्वारा 'अस्थायी सरकार' संगठित करने की घोषणा मात्र युद्धावस्था की मान्यता देने के लिए पर्याप्त नहीं है। युद्धावस्था की मान्यता प्रदान करने के पूर्व तीन विषयों पर ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रथम तो यह कि विद्रोह हुए कितना समय बीत गया है? द्वितीय यह कि विद्रोहकारी सेनाओं की संख्या, व्यवस्था अथवा अनुशासन क्या है? और तृतीय यह कि क्या विद्रोहकारी सरकार विदेशों से अन्तर्राष्ट्रीय संबंध रखने की क्षमता रखती है।

3.7 अभिद्रोह की मान्यता

जब युद्धावस्था की मान्यता संभव न हो परन्तु अभिद्रोह की पूर्णतया उपेक्षा करना भी संभव न हो तो राज्यों द्वारा अभिद्रोह की मान्यता प्रदान की जाती है। तीन कारणों से अभिद्रोह को मान्यता प्रदान करना आवश्यक हो जाता है। प्रथम गृहयुद्ध में मानवीय व्यवहार लाने और बर्बरता को कम करने के लिए द्वितीय विद्रोहकारियों के अधीन प्रदेश में नागरिकों तथा राष्ट्रीय

नयी सरकार के पिछले तथा आगामी, वैधानिक तथा प्रशासकीय कार्यों की वैधता अथवा पुष्टि पर प्रश्न उठाने से रोक देती है। उस नयी सरकार के यह सब कार्य मान्यता प्रदान करनेवाले राज्य की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध नहीं माने जाते। यह मान्यता, जहाँ तक न्यायालयों का संबंध है, कुछ संपत्ति के हस्तान्तरणों तथा अन्य व्यापारों को वैध बना देती है। जिसको वे न्यायालय मान्यता प्रदान होने के पूर्व अवैध कर सकते थे।

किसी नये राज्य को मान्यता प्रदान करने पर उसकी सरकार को भी स्वतः मान्यता मिल जाती है। अतः राज्य की मान्यता, उसकी सरकार की ही मान्यता है। इसलिए राज्य की मान्यता के फलस्वरूप जिन परिणामों का उदय होता है वे सभी परिणाम उस राज्य की सरकार के सन्दर्भ में ही है।

यदि हिंसात्मक अथवा अवैधानिक उपायों से किसी नयी सरकार की स्थापना हो तो उसे मान्यता प्रदान करने पर भी इन्हीं परिणामों का उदय होता है जैसा कि किसी नये राज्य को मान्यता प्रदान करने पर। अतः राज्यों आर सरकारों की मान्यता के परिणाम समान हैं।

युद्धावस्था की मान्यता के फलस्वरूप चार परिणामों का उदय होता है

(i) मान्यता प्रदान करनेवाला राज्य युद्ध में तटस्थता की नीति अपनाता है। वह युद्धरत किसी भी पक्ष को किसी प्रकार की सहायता नहीं देता है और न ही अपने नागरिकों को कोई ऐसा कार्य करने देता है जिससे राज्य की तटस्थता प्रभावित हो।

(ii) मान्यता प्रदान करनेवाला राज्य युद्धकारियों को अपने जलपोतों का निरीक्षण और तलाशी करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं करता।

(iii) मान्यता प्रदान करनेवाला राज्य युद्धकारियों द्वारा दी गयी नाकेबन्दी से संबंधित नियमों का पालन करता है।

(iv) युद्धवस्था की मान्यता प्राप्त होने पर विद्रोहकारियों के अधीन प्रदेश में मान्यता प्रदान करनेवाले राज्य के नागरिकों अथवा उनकी

सम्पत्ति को हुई हानि का दायित्व विद्रोहकारी सरकार पर हो जाता है, न कि वैध सरकार पर।

अभिद्रोह की मान्यता के परिणाम स्वरूप तीन परिणामों का उदय होता है-

(i) विद्रोहकारियों की क्रियाएँ यदि शत्रु तक ही सीमित हैं तो उनके जलपोतों को जलदस्यु समझकर पकड़ा और दंडित नहीं किया जा सकता।

(ii) विद्रोहकारी भूभागी जलक्षेत्र में युद्धकारी अधिकारों का प्रयोग कर सकते हैं।

(iii) मान्यता प्रदान करनेवाले राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपनी भूमि को स्थापित सरकार के विरुद्ध अड्डा बनने से रोके विद्रोहकारियों को किसी भी प्रकार की सहायता देना अवैध होगा परन्तु स्थापित सरकार को सहायता देना अवैध नहीं होगा।

3.9 भारत की मान्यता-विषयक नीति

भारत की मान्यता विषयक तीन प्रमुख नीतियाँ है-

(i) भारत मान्यता प्रदान करते समय इस बात का ध्यान रखता है कि यदि नये राज्य में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से राज्य की समस्त विशेषताएँ आ जाये तो उसको मान्यता प्रदान कर दी जाय।

(ii) भारत मान्यता प्रदान करने में मान्यता प्रदान किये जाने वाले राज्य की विचारधारा के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता। अर्थात् भारत इस विषय में भेदभाव नहीं करता है कि जिस राज्य को वह मान्यता देने जा रहा है वह पूँजीवादी है या समाजवादी।

(iii) भारत मान्यता प्रदान करने का कार्य राजनीतिक संबंध स्थापित करके करता है क्योंकि भारत की दृष्टि में केवल घोषणा करके किसी राज्य को मान्यता प्रदान कर देना केवल कागजी मान्यता है।

3.10 राज्य उत्तराधिकार

(1) राज्य-उत्तराधिकार का अभिप्राय - डी0पी0 ओकोनल के अनुसार जब किसी प्रदेश में एक राज्य का स्थान दूसरा राज्य ले लेता है तो इस तथ्य से उत्पन्न स्थिति को राज्य-उत्तराधिकार कहते हैं। इस प्रक्रिया में जिसका प्रदेश अन्य राज्य को चला जाता है। उसे पूर्वाधिकारी राज्य और जिसे यह प्रदेश उत्तराधिकार में प्राप्त होता है उसे उत्तराधिकारी राज्य कहते हैं।

(2) राज्य-उत्तराधिकार के प्रकार - उत्तराधिकार के दो प्रकार हैं-

(i) सार्वभौमिक उत्तराधिकार

(ii) आंशिक उत्तराधिकार

(i) सार्वभौमिक उत्तराधिकार- सार्वभौमिक उत्तराधिकार उस स्थिति में होता है। जब किसी राज्य के संपूर्ण प्रदेश का विलयन किसी दूसरे राज्य में हो जाय। यह विलयन तीन प्रकार से होता है प्रथम तो यह कि जब किसी राज्य पर दूसरा राज्य पूर्णरूपेण अधिकार स्थापित कर ले जैसे 1910 में जापान ने कोरिया पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। द्वितीय यह कि जब कई राज्य मिलकर एक संघ बनाये जैसे 1871 में अनेक जर्मन राज्यों ने मिलकर जर्मन साम्राज्य का निर्माण किया और तृतीय यह कि जब एक राज्य के स्थान पर उसकी प्रभुता दो राज्यों को मिल जाय जैसे 1947 में ब्रिटिश भारत में भारत और पाकिस्तान के दो नये राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

(ii) आंशिक उत्तराधिकार - आंशिक उत्तराधिकार उस स्थित में होता है जब उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य के कुछ हिस्से का स्वामी बन जाय। यह भी तीन स्थितियों में होता है। प्रथम तो यह कि जब किसी राज्य का कोई हिस्सा अपने मूल राज्य से विद्रोह करके स्वतन्त्र हो जाय जैसे पाकिस्तान से विद्रोह

करके 1971 में बंगलादेश का उद्भव हुआ। द्वितीय यह कि जब कोई राज्य विजय या हस्तान्तरण द्वारा किसी दूसरे राज्य के कुछ हिस्से को प्राप्त कर ले जैसे संयुक्त राज्य अमरीका को 1847 में कैलिफोर्निया का प्रदेश प्राप्त हुआ और तृतीय यह कि जब कोई पूर्ण सर्वोच्च - सत्ताधारी राज्य अपनी स्वतंत्रता आंशिक रूप से किसी दूसरे संघात्मक राज्य में सम्मिलित किये जाने के फलस्वरूप खो दे अथवा किसी दूसरे राज्य का संरक्षण या उसकी प्रभुता स्वीकार कर ले अपना कोई संरक्षित राज्य का संघीय राज्य का कोई सदस्य या अपूर्ण सर्वोच्च - सत्ताधारी राज्य, पूर्ण सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य हो जाय। उदाहणार्थ 1938 में चेकोस्लोवाकिया का विघटन हुआ जिससे परिणामस्वरूप चेकोस्लोवाकिया का बोहेमिया और मोराविया का प्रदेश जर्म में टेशन का प्रदेश पोलैण्ड में तथा रूथेनिया का प्रदेश हंग में सम्मिलित कर दिया गया और स्लोवाकिया प्रदेश को पू सर्वोच्च-सत्ताधारी राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

3.11 राज्य-उत्तराधिकार के परिणाम

राज्य-उत्तराधिकार के परिणामस्वरूप उत्तराधिकारी राज्य को कुछ अधिकार और दायित्व प्राप्त होते हैं। उत्तराधिकार द्वारा प्रभावित होनेवाले चार प्रमुख अधिकार तथा दायित्व हैं-

(i) संधि विषयक अधिकार और दायित्व,

(ii) संविदा विषयक अधिकार और दायित्व

(iii) संपत्ति विषयक अधिकार और दायित्व

(iv) ऋण विषयक अधिकार और दायित्व

(i) संधि विषयक अधिकार और दायित्व-सम्पूर्ण उत्तराधिकार के फलस्वरूप उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उदाहरणार्थ 1896 में जब फ्रांस ने मैडागास्कर टापू को अपने साम्राज्य में मिलाया तो

उसने संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा मैडागास्कर की रानी के साथ की गयी व्यापारिक संधियों की अवहेलना करते हुए वहाँ फ्रैंच सरकार के नियम लागू कर दिये। 1910 में जापान ने कोरिया को मिला लेने के पश्चात् ऐसा ही किया। 1830 में अलजीरिया पर फ्रांस का आधिपत्य हो जाने पर सम्राट के अधिवक्ता ने यह मत दिया था कि फ्रांसीसी सरकार विदेशी राष्ट्रों से वाणिज्य संबंधों में वर्तमान संधियों से बाध्य नहीं है। अलजीरिया और अन्य देशों के मध्य हुई समस्त संधियाँ समाप्त समझी जानी चाहिए। अलजीरिया के साथ ब्रिटिश संधियाँ भी फ्रांस द्वारा उस देश की विजय के उपरांत निष्क्रिय समझी जानी चाहिए।

अनेक लेखक संधियों को दो भागों में वर्गीकरण करते हैं-

(i) व्यक्तिगत संधि,

(ii) प्रदेश-व्यवस्थापक संधि

इन लेखकों के अनुसार राज्य-उत्तराधिकार के फलस्वरूप पूर्वाधिकारी राज्य की इन दो प्रकार की संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तराधिकारी राज्य का उत्तरदायित्व भिन्न है।

(a) व्यक्तिगत संधि विषयक अधिकार और दायित्व- व्यक्तिगत संधियों से तात्पर्य उन संधियों से है जो राज्य के वैधिक व्यक्तित्व पर आधारित होती है। उदाहणार्थ तटस्थता, विवादों के शांतिमय समाधान, शांति, गठबंधन, व्यापार वाणिज्य, सीमाशुल्क, प्रत्यर्पण, डाक, तार, टेलीफोन, हवाई अथवा नौपरिवहन, मादक पदार्थ निरोध आदि की व्यवस्था करनेवाली संधियाँ। इस प्रकार की सभी संधियाँ राज्य का व्यक्तित्व समाप्त होने पर समाप्त हो जाती है। क्योंकि यह सब संधियाँ राज्य के वैधिक व्यक्तित्व पर आधरित होती हैं। अतः पूर्वाधिकारी राज्य के व्यक्तिगत संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी नहीं होता।

(b) प्रदेश - व्यवस्थापक संधि विषयक अधिकार और दायित्व- ओसकोनल के मतानुसार प्रदेश व्यवस्थापक सधियाँ उन संधियों को कहते हैं जिनके द्वारा राज्य के प्रदेश संबंधी की गयी व्यवस्था स्थाई होती है और जो राज्य की सम्प्रभुता में हुए परिवर्तन से प्रभावित नहीं होती। उदाहणार्थ

तटस्थीकरण, निःशस्त्रीकरण, सीमावर्ती नदियों के प्रयोग, प्रदेश की सीमाओं आदि के संबंध में संधि। पूर्वाधिकारी राज्य की इस तरह की सभी संधियों का उत्तराधिकार उत्तराधिकारी राज्य को मिलता है। अतः उत्तराधिकारी राज्य को इन संधियों का आदर करना होता है। फलस्वरूप पूर्वाधिकारी राज्य के प्रदेश व्यवस्थापक संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी होता है।

जहाँ तक प्रत्यर्पण, नौचालन और वाणिज्य से संबंधित संधियों का संबंध है। पूर्वाधिकारी राज्य के इन संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तराधिकारी राज्य उत्तराधिकारी नहीं होता है। वस्तुतः यह सर्वथा उत्तराधिकारी राज्य पर निर्भर करता है कि वह पूर्वाधिकारी राज्य के उन संधियों के उपबन्धों का अनुगमन करने को तैयार है अथवा उसका प्रत्याख्यान करता है।

जब दो या दो से अधिक राज्य आपस में मिलकर एक संघ या संघीय राज्य बनावें तो पूर्वाधिकारी राज्य की संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी होता है। उदाहणार्थ 1958 में जब मिश्र और सीरिया ने मिलकर संयुक्त अरब गणराज्य को जन्म दिया तब संयुक्त अरब गणराज्य द्वारा यह घोषणा की गयी थी कि मिश्र और सीरिया द्वारा अन्य देशों से किये गये सभी अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ एवं समझौते इनमें निर्धारित भौगोलिक क्षेत्रों में लागू रहेगें। इसी प्रकार किसी संघ के विघटित होने पर भी इसके सदस्य संघ की संधियों के उत्तराधिकारी होते हैं।

यदि किसी राज्य का कोई भाग मूल राज्य से अलग होकर स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ले तो मूल राज्य अर्थात् पूर्वाधिकारी राज्य की संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति नवोदित राज्य अर्थात् उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी नहीं होता। उदाहरणार्थ बंगलादेश की स्थापना के पूर्व यदि पाकिस्तान और ईरान के मध्य कोई प्रत्यर्पण संधि है तो बंगलादेश की स्थापना के उपरांत इस प्रत्यर्पण संधि के प्रति बंगलादेश उत्तरदायी नहीं होगा। इस प्रत्यर्पण के संबंध में यदि ईरान और बंगलादेश दोनों सहमत हैं

तो बंगलादेश और ईरान दोनों को अलग से आपस में प्रत्यर्पण संधि करनी होगी।

जहाँ तक उपनिवेशी शासन में स्वतंत्र हुए राज्य के उत्तराधिकार का संबंध है, कुछ लेखकों के मतानुसार उपनिवेश काल में की गयी पूर्वाधिकारी राज्य की कुछ संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी होता है। उपनिवेश काल में की गई कुछ प्रमुख संधियाँ जिनके प्रति उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी होता है वे हैं-

(a) प्रादेशिक संधियाँ

(b) ऐसी सधियाँ जो प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के भाग हैं।

(c) ऐसी तकनीक अथवा माननीय संधियाँ जिनका अनुमोदन स्थानीय विधानमंडल द्वारा हो चुका है।

उपनिवेशी शासन में स्वतंत्र हुए राज्यों के संधि संबंधी उत्तराधिकार के संबंध में जोनाथन माल्मड ने यह सुझाव दिया है कि इस संबंध में 'ऐच्छिक उत्तराधिकार' का नियम होना चाहिये अर्थात् यह उत्तराधिकारी राज्य की इच्छा पर निर्भर होना चाहिए कि वह पूर्वाधिकारी राज्य की सधियों को माने अथवा न माने, इस संदर्भ में यह नियम होना चाहिए कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् निर्धारित समय के अन्दर उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की जिन संधियों को जारी रखने का इच्छुक हो उनकी उत्तराधिकारी राज्य या तो औपचारिक घोषणा करे और यदि संधिकर्ता अन्य राज्य सहमत हों तो उन संधियों को क्रियाशील माना जाये या उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की संधियों का प्रत्याख्यान करे परन्तु ऐसा न करने पर वे संधियाँ उत्तराधिकारी राज्य पर लागू समझी जायें।

उपनिवेशी शासन से शनैः शनैः स्वशासन की अनेक अवस्थाओं से लेकर स्वतंत्र हुए उस राज्य के संधि संबंधी उत्तराधिकारी के संबध में, जो कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भी संधि अधिकारों का उपभोग कर रहा था, यह नियम है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी होता है। इस संदर्भ में भारत के संबंध में संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय ने यह मत प्रकट

किया कि स्वतंत्रता से भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। उसके सभी संधिगत अधिकार और कर्त्तव्य अखंडित माने जाने चाहिये। परसतन पारूमल डबराई बनाम दि एयर इंडिया लिमिटेड के मुकदमें में बम्बई उच्च न्यायालय ने 1953 में यह निर्णय दिया कि भारत और पाकिस्तान दोनों 1947 में वार्सा कन्वेंशन के उत्तराधिकारी हुए जो औपनिवेशिक काल में भारत के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा मूलतः स्वीकार की गयी थी।

संधियों के संबंध में राज्य उत्तराधिकार पर वियना अभिसयम, 1978 के भाग -3 (अनु 16-30) में नये स्वतंत्र राज्य, जिन्होंने उपनिवेश शासन से स्वतंत्रता प्राप्त की है; उनके लिए अब (Clean state) का नियम लागू होगा। वे इस हेतु विज्ञप्ति जारी करेंगे कि वे किन-किन सधियों को उत्तराधिकार में लेंगे।

कुछ लेखकों के अनुसार उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की ऐसी संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तराधिकारी होता है जो विशुद्ध रूप से स्थानीय प्रकृति की संधियाँ हैं अर्थात् जिन संधियों का संबंध उत्तराधिकारी राज्य के प्रदेश से हैं। उदाहरणार्थ अमरीका ने ग्रेट ब्रिटेन से स्वतंत्र होने पर पूर्वाधिकारी राज्य की और सब संधियों को तो टुकरा दिया परन्तु उन संधियों को स्वीकार कर लिया जिनमें स्थानीय प्रदेश संबंधी अधिकार और कर्त्तव्यों की व्यवस्था की गयी थी।

जब किसी राज्य की भूमि का कोई भाग किसी दूसरे राज्य के अधीन हो जाता है तो संबंधित राज्यों की संधिव्यवस्था इस नवीन प्राप्त प्रदेश पर भी लागू हो जाती है। अतः आंशिक उत्तराधिकार के फलस्वरूप भी उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी नहीं होता।

(c) संविदा अथवा ठेका विषयक अधिकार और दायित्व - स्टार्क के मतानुसार उत्तराधिकारी राज्य को पूर्वाधिकारी राज्य की संविदाओं के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व का सम्मान करना चाहिए। ओपेनहाइम के मतानुसार अधिकांश ग्रंथकार इस मत का समर्थन करते हैं कि विलयनकर्ता

राज्य लुप्त राज्य की संविदाओं से बाध्य हैं। परन्तु संविदाएं कई प्रकार की होती है और उन सबके प्रति उत्तराधिकार के नियम भिन्न हैं।

कुछ प्रमुख संविदाएँ हैं-

(a) सार्वजनिक संविदा,

(b) वैयक्तिक संविदा,

(c) रियायती संविदा

(a) सार्वजनिक संविदा- सार्वजनिक संविदा के संबंध में प्रायः सभी लेखकों के विचारों में मतैक्य है कि उत्तराधिकारी राज्य, पूर्वाधिकारी राज्य की सार्वजनिक संविदाओं के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी होता है।

(b) वैयक्तिक संविदा - वैयक्तिक संविदा के संबंध में अधिकांश का यह मत है कि उत्तराधिकारी राज्य में पूर्वाधिकारी राज्य की वैयक्तिक संविदाओं के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति आदर का भाव होना चाहिए।

(c) रियायती संविदा - रियायतों से तात्पर्य उन विशेष अधिकारों छूट अथवा विशेष सुविधाओ से हैं जो किसी सरकार द्वारा राज्य के आर्थिक अथवा औद्योगिक विकास के उद्देश्य से व्यक्तियों कंपनियों अथवा निगमों को दी जायें। प्रायः रियायतें लाइसेंस के रूप में दी जाती हैं। उदाहरणार्थ ब्रिटिश शासनकाल में भारत में अनेक विदेशी कंपनियों को खानों से खनिज निष्कासन सबंधी लाइसेंस दिये गये थे। इस संबंध में स्टार्क का यह कहना है कि सामान्यतः व्यवहार और सिद्धान्त इस निष्कर्ष की ओर सकेत करते हैं कि किसी राज्य के विलयन होने पर उसके रियायत विषयक संविदा समाप्त जाते है परन्तु ओपनहाइम ने यह मत प्रकट किया कि यदि रियायत संविदा के विषय में कानूनी प्रक्रिया पूरी हो चुकी हैं तो राज्य प्रदेश होने पर उत्तराधिकारी राज्य के द्वारा इसका आदर किया जाना इस संबंध में कोई सामान्य नियम प्रतिपादित नहीं किया जा ले में तथ्यों को देखकर निर्णय किया जा सकता है। जहाँ

तक भारतीय न्यायालयों के दृष्टिकोण का प्रश्न है भारतीय न्यायालयों का यह मत रहा कि उत्तराधिकारी राज्य के विरुद्ध केवल वही निजी अधिकार न्यायालयों के माध्यम से लागू कराये जा सकते हैं जो वह राज्य स्पष्ट अथवा निहित मान्यता देकर अथवा विधि-निर्मित कर देना स्वीकार करें।

वस्तुतः उत्तराधिकारी राज्य के पूर्वाधिकारी राज्य की संविदाओं के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायित्व के सन्दर्भ में जिस समय संविदा की गयी थी उस समय की आर्थिक स्थिति पर विचार कर निर्णय लेना चाहिए।

(iii) संपत्ति विषयक अधिकार और दायित्व - संपत्ति विषयक दो प्रकार के अधिकार एवं दायित्व उत्पन्न होते हैं प्रथम वैयक्तिक संपत्ति विषयक और द्वितीय सार्वजनिक संपत्ति विषयक। उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की वैयक्तिक संपत्ति विषयक अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी होता है। परन्तु साम्यवादी लेखक इस नियम के विरुद्ध यह आपत्ति उठाते हैं कि इससे उत्तराधिकारी राज्य की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में प्राप्त अथवा हस्तगत किये गये प्रदेश का समन्वय नहीं हो सकेगा। जहाँ एक सार्वजनिक संपत्ति विषयक अधिकार एवं उत्तरायित्व का प्रश्न है, उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी की सार्वजनिक संपत्ति अधिकार एवं दायित्व के प्रति भी उत्तरदायी होता है। पूर्वाधिकारी राज्य की सब सार्वजनिक संपत्ति बैंक सरकारी रोड, सरकारी इमारतें, सरकारी रुपया आदि उत्तराधिकारी राज्य को मिल जाती है।

(iv) ऋण विषयक अधिकार और दायित्व- राज्य उत्तराधिकार के फलस्वरूप ऋण विषयक दो प्रकार के अधिकार और दायित्व उत्पन्न होते हैं। प्रथम वैयक्तिक ऋण विषयक और द्वितीय सार्वजनिक ऋण विषयक। उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की वैयक्तिक ऋण विषयक अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है परन्तु यदि उत्तराधिकारी राज्य तथा ऋण देनेवाले राज्य में कूटनीतिक संबंध में तो ऋण चुकता करना पड़ता है। जहाँ तक सार्वजनिक ऋण विषयक अधिकार एवं दायित्व का प्रश्न है उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की सार्वजनिक ऋण विषयक अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी होता है बशर्ते कि ये ऋण

पूर्वाधिकारी राज्य ने उत्तराधिकारी राज्य के निवासियों को हानि पहुँचाने को या उसके विरुद्ध युद्ध करे आदि के उद्देश्य से न लिये हों। व्यवहार में प्रायः सार्वजनिक ऋण के संबंध में संबंधित राज्य सरकार समझौते के द्वारा व्यवस्था करते हैं।

3.12 राजनयिक प्रतिनिधि

राजनयिक प्रतिनिधि उन्हें कहते हैं जो विदेश में राज्य प्रतिनिधि की हैसियत से रहते हैं तथा जिनका मुख्य उद्देश्य अपने राज्य के राजनीतिक स्वत्वों की रक्षा करना होता है।

3.13 राजनयिक प्रतिनिधि की श्रेणियाँ

राजनयिक संबंधों में 1961 की वियना कन्वेंशन के अनुसार राजनयिक प्रतिनिधि की तीन श्रेणियाँ हैं-

(i) राजदूत

(ii) असाधारण दूत

(iii) कार्यदूत

(i) राजदूत - राजदूत अधिकार पत्र देने वाले राज्य के अध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि माने जाते हैं। इन्हें विशेष सम्मान एवं अधिकार प्रदान किया जाता है। इनका सबसे प्रमुख अधिकार यह है कि ये शासन के अध्यक्ष से सीधा मिल सकते हैं और वार्ता कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन्हें अपने को परमश्रेष्ठ के रूप में संबोधित कराने का अधिकार प्राप्त है। पद, प्रतिष्ठा और पौर्वापर्व के क्रम की दृष्टि से इनका स्थान सर्वोपरि है। पोप द्वारा भेजे गये लीगेट तथा नंशियों नामक राजनयिक प्रतिनिधि भी श्रेणी की दृष्टि से राजदूत के समकक्ष समझे जाते हैं। राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों में परस्पर उच्चायुक्त नियुक्त करने की प्रथा है। ये भी राजदूत के समकक्ष समझे जाते हैं।

(ii) असाधारण दूत- ये दूसरी श्रेणी के राजनयिक प्रतिनिधि होते हैं। इन्हें भेजनेवाले राज्य के अध्यक्ष का वैयक्तिक प्रतिनिधि नहीं माना

जाता। यद्यपि इन्हें अपने को परमश्रेष्ठ के रूप में संबोधित कराने का अधिकार नहीं प्राप्त है फिर भी सौजन्यवश इन्हें परमश्रेष्ठ कहकर संबोधित किया जाता है। पोप द्वारा भेजे गये अन्तरनंशियों भी इसी श्रेणी में आते हैं।

(iii) **कार्यदूत-** इस श्रेणी के राजनयिक प्रतिनिधि सबसे निम्न कोटि के माने जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि ये एक राज्याध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्याध्यक्ष को न भेजे जाकर एक राज्य के विदेश मंत्रालय को भेजे जाते हैं। जबकि राजदूत तथा असाधारण दूत एक राज्याध्यक्ष को भेजे जाते हैं। ये राजदूत तथा आसाधारण दूत अपनी नियुक्ति के प्रत्ययपत्र राज्याध्यक्ष को प्रस्तुत करते हैं जबकि कार्यदूत नियुक्ति के प्रत्यय पत्र विदेश मंत्री को प्रस्तुत करते हैं।

राजनयिक प्रतिनिधियों की तीन श्रेणियों में से किस श्रेणी का राजनयिक प्रतिनिधि किस राज्य में भेजा जायगा यह संबंधित राज्य परस्पर वार्तालाप करके निश्चित करते हैं। यह राज्यों के घनिष्ठता, उनके साधनों तथा महत्व पर निर्भर करता है।

राजनयिक प्रतिनिधियों की इन तीन श्रेणियों को सामूहिक रूप से राजनयिक निकाय कहा जाता है। इस निकाय के सबसे वरिष्ठ राजदूत के डायन अथवा दूतशिरोमणि कहा जाता है। सामान्यतः वेटीकन सिटी (Vatscan city) से आदि राजदूत या धर्मदूत (Nuncio) राजनयिक कार्पस सभी देशों से आये राजदूतों का संघ का अध्यक्ष या डायन (Doyan) बनाया जाता है। जहाँ पर धर्मदूत (Nuncio) नहीं होता वहाँ वरिष्ठतम राजदूत का डायन बनाया जाता है। राजनयिक कार्पस का कार्य होता है कि राजदूतों के दिये गये विशेषाधिकारों का संरक्षण करना।

3.14 राजनयिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति

प्रत्येक राज्य अपने राजनियक प्रतिनिधियों की नियुक्ति में स्वतंत्र है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि कोई योग्यता निर्धारित नहीं करती। इस संबंध में यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा है कि राजनयिक प्रतिनिधि जिस राज्य को भेजा जा रहा है, वहाँ स्वीकारणीय हो। किसी राजनयिक प्रतिनिधि को स्वीकार न करने के तीन मुख्य कारण हो सकते हैं प्रथम तो यह कि राजनयिक

प्रतिनिधि की नियुक्ति या उपस्थिति ग्रहणकर्ता के लिए हानिकारक हो, द्वितीय यह कि राजनयिक प्रतिनिधियों का कार्य शत्रुतापूर्ण हो और तृतीय यह कि राजनयिक प्रतिनिधि ग्रहणकर्ता राज्य का नागरिक हो।

अतः राजनयिक प्रतिनिधि भेजनेवाला राज्य विधिपूर्वक प्रस्तावित व्यक्ति के संबंध में ग्रहणकर्ता राज्य की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करने के पश्चात् ही किसी राजनयिक प्रतिनिधि की नियुक्ति की औपचारिक घोषणा करता है।

3.15 राजनयिक प्रतिनिधियों के कार्य

ओपेनहाइम ने राजनयिक प्रतिनिधियों के तीन मुख्य कार्य बताये हैं प्रथम तो यह कि राजनयिक प्रतिनिधि अपने राज्य के लिए ग्रहणकर्ता राज्य के साथ विभिन्न विषयों पर वार्ता करनेवाला महत्त्वपूर्ण माध्यम है, द्वितीय यह कि इनका मुख्य कार्य ग्रहणकर्ता राज्य की घटनाओं का (विशेषकर उन घटनाओं का जिनसे इनके राज्य पर प्रभाव पड़ता है) निरीक्षण करके उसकी पूरी रिपोर्ट अपनी सरकार को भेजते रहना है और तृतीय यह कि ग्रहणकर्ता राज्य में स्थित अपने राज्य के नागरिकों की संपत्ति, जीवन एवं अन्य हितों की रक्षा करना है। अतः ओपेनहाइम के अनुसार राजनयिक प्रतिनिधियों का तीन मुख्य कार्य वार्ता, निरीक्षण और संरक्षण का है।

वियना कन्वेंशन 1961 के अनुच्छेद 3 के अनुसार राजनयिक प्रतिनिधियों के पाँच कार्य होते हैं-

(i) ग्रहणकर्ता राज्य का प्रतिनिधित्व करना,

(ii) अपने राज्य तथा अपने नागरिकों के हितों की रक्षा करना,

(iii) ग्रहणकर्ता राज्य की सरकार से वार्त्ता करना,

(iv) ग्रहणकर्ता राज्य की घटनाओं की जानकारी प्राप्त करना तथा उनका विवरण अपनी सरकार को भेजना और

(v) ग्रहणकर्ता राज्य और अपने राज्य के मध्य, मैत्री संबंधों की अभिवृद्धि एवं दोनों राज्यों में आर्थिक सांस्कृतिक तथा विज्ञान विषयक संबंधों का विकास करना।

3.16 राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार

राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार इस प्रकार हैं-

(i) व्यक्तिगत सुरक्षा,

(ii) राज्यक्षेत्र बाध्यता।

(iii) आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति

(iv) दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति,

(v) निवास स्थान, संबंधी उन्मक्ति

(vi) गवाही देने के कार्य से उन्मुक्ति

(vii) करों से उन्मुक्ति

(viii) पुलिस से उन्मुक्ति

(ix) सामान के प्रति छूट

(x) उपासना का अधिकार

(xi) पत्र व्यवहार की स्वतंत्रता

(xii) तीसरे राज्य के प्रदेश में होकर निर्दोष गमन का अधिकार

(xiii) राजनयिक प्रतिनिधियों के अनुयायी वर्ग की उन्मुक्ति।

(i) व्यक्तिगत सुरक्षा- ओपेनहाइम के अनुसार राजनयिक प्रतिनिधि उतने ही पवित्र होते हैं, जितने राज्याध्यक्ष। अतः उनकी व्यक्तिगत सुरक्षा का विशेष प्रबंध किया जाना चाहिए और ग्रहण करने वाले द्वारा हर प्रकार के फौजदारी क्षेत्राधिकार से उनको उन्मुक्त समझा जाना चाहिए। वियना कन्वेंशन 1961 के अनुच्छेद 29 के अनुसार राजनयिक प्रतिनिधियों का शरीर पवित्र एवं अनतिक्रम्य माना जाता है। फलस्वरूप राजनयिक प्रतिनिधियों के प्रति शक्ति या हिंसा का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। किन्तु यदि राजनयिक प्रतिनिधि स्वयं संयम के आचरण नहीं करता, यदि वह दूसरों के साथ दुर्व्यवहार होने का

खतरा मोल लेता है, स्थानीय सरकार के विरुद्ध किसी षडयंत्र में भाग लेता है तो ग्रहणकर्ता सरकार अपनी रक्षार्थ उस पर प्रतिबंध लगा सकती है और ऐसी दशा में उसकी रक्षा का दायित्व सरकार पर नहीं रहता।

(ii) **राज्यक्षेत्र बाध्यता** -राजनयिक प्रतिनिधियों के साथ ऐसा व्यवहार करना होता है जिससे ऐसा प्रतीत हो कि वे ग्रहणकर्ता राज्य के प्रदेश के भीतर निवास नहीं करते हैं परन्तु दूतावासों को अपनी इमारत में अपराधियों को संरक्षण प्रदान करने का कोई अधिकार नहीं हैं। किन्तु यदि ऐसा होता है और प्रार्थना करने पर भी दूतावास अपराधी को नहीं देता तो राज्य के सिपाही उसे घेरकर अपराधी को उसमें से बलपूर्वक निकाल सकते हैं।

(iii) **आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति** - राजनयिक प्रतिनिधि स्थानीय आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त होते हैं। परन्तु यदि उसके कार्य से स्थानीय शांति अथवा व्यवस्था भंग हो रही हो तो उसे ऐसा करने से रोका जा सकता है और यदि आवश्यक हो तो तत्काल हिरासत में लिया जा सकता है। किन्त ुउसके विरुद्ध कोई न्यायिक कार्यवाही नहीं की जा सकती। ऐसे राजनायिक प्रतिनिधि को उसकी सरकार से उसके वापस बुलाने की मांग की जा सकती है।

(iv) **दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति**-राजनयिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध स्थानीय न्यायालयों में दीवानी मामलों के संबंध में कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता। परन्तु स्थानीय प्रदेश में स्थित व्यक्तिगत अचल संपत्ति विषयक विवाद, उत्तराधिकार संबंधी विवाद और राजनयिक कार्यो के क्षेत्र में न आनेवाली व्यापार संबंधी क्रियाओं से उत्पन्न विवाद अपवाद हैं।

(v) **निवास स्थान संबंधी उन्मुक्ति** - राजनयिक प्रतिनिधियों के निवास को साधारण दशा में अनुलंघनीय माना जाता है। परन्तु उसे अपना निवास स्थान अपराधियों का अड्डा नहीं बनाने देना चाहिए।

(vi) **गवाही देने के कार्य से उन्मुक्ति** - राजनयिक प्रतिनिधियों को

गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता परन्तु यदि कोई राजनायिक प्रतिनिधि चाहे तो वह इस उन्मुक्ति का त्याग कर सकता है।

(vii) **करों से उन्मुक्ति** - राजनायिक प्रतिनिधियों पर स्थानीय सरकार आयकर तथा अन्य प्रत्यक्ष कर नहीं लगा सकती किन्तु ऐसे अप्रत्यक्ष कर जो साधारणतया वस्तुओं के मूल्यों में सम्मिलित रहते हैं निजी अचल संपत्ति पर कर उत्तराधिकार कर, स्थानीय उद्योगों में लगायी गयी पूँजी पर कर, विशिष्ट सेवाओं के निमित्त कर, अचल संपत्ति के रजिस्ट्रेशन आदि के लिए कर देना होता है।

(viii) **पुलिस से उन्मुक्ति** -राजनयिक प्रतिनिधियों पर पुलिस के आदेश तथा नियमन बाध्यकारी नहीं होते परन्तु सौजन्यवश वे पुलिस नियम का पालन करते हैं।

(ix) **सामान के प्रतिछूट** - राजनयिक प्रतिनिधियों का सामान न तो ऋण लेने के लिए और न सिक्यूरिटी के लिए अधिग्रहण किया जा सकता है। अतः उसको सामान के प्रति छूट प्राप्त है।

(x) **उपासना का अधिकार** - राजनयिक प्रतिनिधि अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार उपासना के लिए मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि का अपने दूतावास में निर्माण कर सकता है। उसे उपासना का अधिकार प्राप्त है।

(xi) **पत्र व्यवहार की स्वतंत्रता**-राजनयिक प्रतिनिधियों को अपनी सरकार के साथ पत्र-व्यवहार की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। उसके पत्रव्यवहार का स्थानीय सरकार द्वारा निरीक्षण नहीं किया जाता।

(xii) **तीसरे राज्य के प्रदेश में होकर निर्दोष गमन का अधिकार**-जब राजनयिक प्रतिनिधियों के प्रेषण एवं ग्रहणकर्ता राज्य पड़ोसी नहीं होते तो उसे तीसरे राज्यों में से होकर गुजरना पड़ता है। तीसरे राज्य यदि प्रेषण या ग्रहणकर्ता राज्य के साथ युद्ध की स्थिति में नहीं हैं तो वे राजनायिक प्रतिनिधि को निर्दोष गमन का अधिकार

देते हैं। परन्तु यदि तीसरे राज्य प्रेषक या ग्रहणकर्ता राज्य के साथ युद्ध की स्थिति में है तो वे राजनयिक प्रतिनिधि को गमन का अधिकार नहीं देते हैं। ऐसी दशा में यदि राजनयिक प्रतिनिधि युद्धकारी राज्य में से होकर गुजरता है तो उसे रोक लिया जाता है तथा युद्धबन्दी समझा जाता है।

(xiii) राजनयिक प्रतिनिधि के अनुयायी वर्ग की उन्मुक्ति-राजनयिक प्रतिनिधियों के अनुयायी वर्ग में चार वर्ग सम्मिलित हैं-

(a) दूतावास में काम करनेवाले कर्मचारी -परामर्शदाता, दुभाषिये, पुरोहित, डाक्टर, सचिव, सहचारी।

(b) राजनयिक प्रतिनिधियों की वैयक्तिक सेवा में लगे व्यक्ति- उसका निजी सचिव उसके बच्चों की शिक्षिका।

(c) राजनयिक प्रतिनिधियों के परिवार के सदस्य- पत्नी, बच्चे तथा अन्य सदस्य जो दूत के साथ रहते हों।

(d) राजनयिक प्रतिनिधियों के निजी सेवक -अनुयायी वर्ग में पहले तथा दूसरे वर्ग को राजनयिक प्रतिनिधियों की भाँति अनतिक्रम्यता, राज्यक्षेत्र बाह्यता, दीबानी तथा आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति के अधिकार होते हैं परन्तु आवश्कयता पड़ने पर राजनयिक प्रतिनिधि इनको दीवानी मामलों में विशेषाधिकारों से वंचित कर सकता है।

अनुयायी वर्ग में तीसरे वर्ग अर्थात् राजनयिक प्रतिनिधि की पत्नी को या पत्नी राजनयिक प्रतिनिधि हो तो उसके पति को सभी विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं।

अनुयायी वर्ग के चौथे वर्ग अर्थात् राजनयिक प्रतिनिधि के निजी सेवकों के संबंध में कोई स्पष्ट नहीं है। फिर भी निजी सेवक दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त समझे जाते हैं किन्तु आपराधिक क्षेत्राधिकार के संबंध में ग्रेट ब्रिटेन का यह कहना है कि निजी सेवकों के द्वारा अपराध यदि राजनयिक प्रतिनिधि के निवास स्थान के बाहर किया जाय तो उन पर

ग्रहणकर्ता राज्य को क्षेत्राधिकार प्राप्त है। वियना कन्वेंशन 1961 के अनुसार वे सेवक जो स्थानीय राज्य के नागरिक अथवा स्थायी निवासी नहीं है अपने कर्त्तव्यों के संबंध में किये गये कार्यों के लिए स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त किये गये हैं। उनको इस कार्य के लिए जो पारिश्रमिक मिलता है उस पर स्थानीय राज्य द्वारा कोई कर या शुल्क नहीं लगाया जा सकता।

राजनयिक प्रतिनिधियों की जिन उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों की चर्चा हुई वे उस राज्य में पहुँचते ही प्रारंभ हो जाती है जिसमें उन्हें नियुक्त किया गया है। यदि राजनयिक प्रतिनिधि अपनी नियुक्ति के समय ग्रहणकर्ता राज्य में ही है तो उसकी उन्मुक्तियाँ उस राज्य के विदेश मंत्रालय को उसकी नियुक्ति की सूचना देने के समय से प्रारंभ होती हैं।

राजनयिक प्रतिनिधियों के उन्मुक्तियों की परिसमाप्ति उसके राज्य द्वारा उसके वापस बुलाने पर हो जाती है परन्तु ये उन्मुक्तियाँ उस समय तक बनी रहती है जब तक कि उसके वापस बुलाने के एक उपयुक्त काल बीतने तक वे अपना कार्य समेट कर वापिस स्वदेश न लौट जायें।

(6) राजनयिक कार्य की समाप्ति -जब राजनयिक कार्य के प्रयोजक की पूर्ति हो जाती है, नियुक्ति पत्र की अवधि की समाप्ति हो जाती है, राजनयिक प्रतिनिधि की मृत्यु हो जाती है, राजनयिक प्रतिनिधि अवांछनीय व्यक्ति घोषित हो जाता है। प्रेषक और ग्रहणकर्ता राज्य के बीच युद्ध छिड़ जाता है राजनयिक प्रतिनिधि जासूसी का कार्य करने लगता है, प्रेषक अथवा ग्रहणकर्ता राज्य का किसी अन्य राज्य में विलय हो जाता है, प्रेषक अथवा ग्रहणकर्ता राज्य के अध्यक्ष की मृत्यु हो जाती है अथवा उसके द्वारा पद त्याग होने पर राजनयिक प्रतिनिधियों को नये नियुक्ति पत्र प्राप्त करने होते हैं, प्रेषक अथवा ग्रहणकर्ता राज्य में क्रांति के कारण अध्यक्ष परिवर्तित हो जाता है, ग्रहणकर्ता राज्य द्वारा राजनयिक प्रतिनिधि को पद से हटा दिया जाता है, राजनयिक प्रतिनिधि को नियुक्त करने वाले राज्य द्वारा पासपोर्ट प्रदान कर दिया जाता है, राजनयिक प्रतिनिधि को बिना स्थानान्तरण किये पदोन्नति कर दी जाती है तो जबतक नया नियुक्ति पत्र प्राप्त नहीं हो जाता है, राजनयिक प्रतिनिधि के त्यागपत्र देने तथा उसकी पदोन्नति होने और प्रेषक

एवं ग्रहणकर्ता राज्य में मतभेद हो जाने आदि के कारण जब प्रेषक राज्य राजनियक प्रतिनिधि को वापिस बुला लेता है जब राजनयिक कार्यकी समाप्ति समझी जाती है।

जहाँ एक वाणिज्य दूत का प्रश्न है यह अपने राज्य के वाणिज्य संबंधी हितों की सुरक्षा के लिए दूसरे राज्यों में नियत किया जाता है। यह अपने राज्य का प्रतिनिधि होते हुए भी राजनयिक प्रतिनिधि नहीं होता है। परन्तु राज्यों की वर्तमान प्रवृत्ति राजनयिक प्रतिनिधियों तथा वाणिज्य दूतों की सेवाएँ सम्मिलित और संयुक्त करने की हैं। अनेक राज्यों में एक व्यक्ति को दोनों कार्य सौंपे जाते हैं।

3.17 सारांश

मान्यता

मान्यता का तात्पर्य किसी नये राज्य अथवा किसी नयी सरकार के अस्तित्व को स्वीकार करना है। इस संबंध में दो मुख्य सिद्धान्त हैं प्रथम निर्माणात्मक तथा द्वितीय घोषणात्मक। निर्माणात्मक सिद्धान्त के अनुसार मान्यता द्वारा ही राज्य का निर्माण होता है जबकि घोषणात्मक सिद्धान्त के अनुसार मान्यता राज्य होने की घोषणा मात्र करना है। किसी नये राज्य को प्रायः संधियों द्वारा दौत्य संबंध द्वारा, एकपक्षीय घोषणा द्वारा, सामूहिक घोषणा द्वारा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रवेश द्वारा, संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है। इसके विभिन्न रूप हैं उदाहरणार्थ स्पष्ट और ध्वनित मान्यता, एकाकी एवं सामूहिक मान्यता वास्तविक तथा कानूनी मान्यता प्रतिबन्धयुक्त मान्यता और अतिक्षिप्र मान्यता। किसी नये राज्य को मान्यता प्रदान करने से अनेक परिणामों का उदय होता है। मान्यता प्रदान होने से नया राज्य अन्य राज्यों के साथ राजनीतिक संबंध स्थापित करने तथा संधियाँ करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है कुछ सीमाओं के अन्तर्गत पहले की गयी संधियाँ पुनर्जीवित तथा प्रवृत्त हो जाती है, मान्यताप्राप्त राज्य,मान्यता प्रदान करनेवाले राज्य के न्यायालयों में संबंधित विषयों पर मुकदमा चलाने का अधिकारी हो जाता है, मान्यता प्राप्त राज्य तथा उसकी संपत्ति को मान्यता प्रदान करनेवाले राज्य के न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से

उन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है, मान्यता प्राप्त राज्य को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि मान्यता प्रदान करने वाले राज्य के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत पूर्व सरकार की संपत्ति पर कब्जा माँग सके और उसे प्राप्त कर सके। मान्यता भूत प्रभावी होती है। यद्यपि राज्य को मान्यता देने का तात्पर्य उसकी सरकार को भी मान्यता देना है किन्तु अवैधानिक उपायों से नयी सरकार की स्थापना होने पर भी उस नयी सरकार को मान्यता दी जाती है उदाहणार्थ चीन की साम्यवादी सरकार को प्रदान की गयी मान्यता। इसके अलावा गृहयुद्ध का प्रभाव पड़ने पर तथा गृहयुद्ध की बर्बरता को दूर करने के लिए युद्धावस्था तथा अभिद्रोह की मान्यता भी प्रदान की जाती है।

राज्य उत्तराधिकार

राज्य उत्तराधिकार का तात्पर्य उस तथ्य से उत्पन्न स्थिति से है जिसमें किसी प्रदेश में एक राज्य का स्थान दूसरा राज्य ले लेता है। इसके दो प्रकार होते हैं। एक तो सम्पूर्ण उत्तराधिकार जिसके अन्तर्गत किसी राज्य को संपूर्ण प्रदेश का विलयन किसी दूसरे राज्य में हो जाता है तथा दूसरा आंशिक उत्तराधिकार जिसके अन्तर्गत किसी राज्य के कुछ ही हिस्से का विलयन हो जाता है। राज्य उत्तराधिकार के परिणामस्वरूप उत्तराधिकार द्वारा प्रभावित होने वाले कुछ प्रमुख अधिकार तथा दायित्व संधि, संविदा सम्पत्ति ऋण आदि से संबंधित है। संपूर्ण उत्तराधिकार के फलस्वरूप उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। किन्तु प्रदेश व्यवस्थापक संधियों के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्वों के प्रति उत्तराधिकारी राज्य उत्तरदायी होता है। जहाँ तक संविदाओं का प्रश्न है, उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की सार्वजनिक संविदाओं के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व के प्रति उत्तरदायी होता है, किन्तु वैयक्तिक संविदाओं के द्वारा उदित अधिकार एवं दायित्व को ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं होता। इसके अलावा उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य की वैयक्तिक तथा सार्वजनिक संपत्ति के लिए उत्तरदायी होता है। किन्तु उत्तराधिकारी राज्य पूर्वाधिकारी राज्य के वैयक्तिक ऋण के लिए उत्तरदायी नहीं होता जबकि सार्वजनिक ऋण के लिए उत्तरदायी होता है। बशर्ते कि ऋण पूर्वाधिकारी राज्य ने उत्तराधिकारी राज्य के निवासियों

को हानि पहुँचाने के या उसके विरुद्ध युद्ध चलाने आदि के उद्देश्य से न लिये हों।

राजनयिक प्रतिनिधि -

राजनयिक प्रतिनिधि से तात्पर्य उनसे है जो विदेश में राज्य प्रतिनिधि की हैसियत से रहते हैं तथा जिनका मुख्य उद्देश्य अपने राज्य के राजनीतिक स्वत्वों की रक्षा करना होता है। 1961 की वियना कन्वेंशन में इसकी तीन श्रेणियाँ निर्धारित हुई- प्रथम राजदूत द्वितीय असाधारण दूत और तृतीय कार्यदूत। राजदूत प्रथम श्रेणी के दूत होते हैं और इन्हें परमश्रेष्ठ के रूप में संबोधित कराने का अधिकार प्राप्त है। राष्ट्रमण्डल के सदस्यों राज्यों में परस्पर उच्चायुक्त नियुक्त करने की प्रथा है। ये अधिकारपत्र देने वाले राज्य के अध्यक्ष के वैयक्तिक प्रतिनिधि माने जाते हैं। असाधारण दूत दूसरी श्रेणी के दूत होते हैं। इन्हें अपने को परमश्रेष्ठ के रूप में संबोधित कराने का अधिकार नहीं प्राप्त है। इन्हें भेजने वाले राज्य का वैयक्तिक प्रतिनिधि नहीं माना जाता। कार्यदूत सबसे निम्न कोटि के दूत होते हैं। राजदूत तथा असाधारण दूत एक राज्याध्यक्ष द्वारा दूसरे राज्याध्यक्ष को भेजे जाते हैं। जबकि कार्यदूत एक राज्य के विदेश मंत्रालय से दूसरे राज्य के विदेश मंत्रालय को भेजे जाते हैं। राजनयिक प्रतिनिधियों के मुख्य कार्य वार्त्ता, निरीक्षण और संरक्षण का है। इन्हें अनेक उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ व्यक्तिगत सुरक्षा राज्यक्षेत्र बाध्यता, आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति, दीवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति, निवासस्थान संबंधी उन्मुक्ति गवाही देने के कार्य से उन्मुक्ति करों से उन्मुक्ति पुलिस से उन्मुक्ति सामान के प्रति छूट उपासना का अधिकार पत्र व्यवहार की स्वतंत्रता, तीसरे राज्य के प्रदेश से होकर गमन का अधिकार आदि। इनके अनुयायी वर्ग को भी अनेक उन्मुक्तियाँ प्राप्त है।

3.18 संबंधित प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

(1) 'केवल मान्यता द्वारा ही कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बनता है। (ओपेनहाइम) इस कथन की व्याख्या करें।

(2) राज्य उत्तराधिकार से आप क्या समझते हैं? इससे संबंधित नियमों की विवेचना करें।

(3) राजनयिक प्रतिनिधि किसे कहते हैं? इनके प्रमुख कार्यों पर प्रकाश डालें।

(4) राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार पर एक निबंध लिखें।

लधुउत्तरीय प्रश्न

(1) मान्यता के संबध में घोषणात्मक सिद्धान्त को स्पष्ट करें।

(2) वास्तविक तथा कानूनी मान्यता में क्या अन्तर हैं?

(3) संपूर्ण उत्तराधिकार क्या है? सोदाहरण बताएँ।

(4) राज्य उत्तराधिकार के परिणामस्वरूप सार्वजनिक ऋण विषयक अधिकार और दायित्व की चर्चा करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) मान्यता के सिद्धान्त प्रचलित हैं :

अ) दो

ब) तीन

स) चार

द) पाँच

(2) भारत मान्यता प्रदान करता है :

अ) संधि करके

ब) घोषणा द्वारा

स) दौत्य संबंध द्वारा

द) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में प्रवेश द्वारा

(3) मुनरो राज्य उत्तराधिकार :

अ) सार्वभौमिक और अपूर्ण उत्तराधिकार की बात कहता है।

ब) सार्वभौमिक और सशर्त उत्तराधिकार की बात कहता है।

स) सार्वभौमिक और दीर्घ उत्तराधिकार की बात कहता है।

द) सार्वभौमिक और आंशिक उत्तराधिकार की बात कहता है

(4) राजदूत :

अ) राजनयिक प्रतिनिधि है

ब) वाणिज्य दूत है

स) असाधारण दूत है

द) कार्य दूत है

(5) राजनयिक प्रतिनिधियों की उन्मुक्तियों का प्रारंभ होता है:

अ) नियुक्ति की सूचना देने पर

ब) राज्य में पहुँचते ही

स) नियुक्ति - पत्र की तिथि के अनुसार

द) ग्रहणकर्त्ता राज्य की इच्छानुसार

3.19 उपयोगी पुस्तक

अन्तर्राष्ट्रीय विधि - हरिमोहन जैन, मैकमिलन प्रकाशन, दिल्ली।

3.20 प्रश्नोत्तर

1 अ

2 स

3 द

4 अ

5 ब

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

3

शान्ति विधि -II

इकाई-1 5
संधि विधि

इकाई-2 27
विवादों का निपटारा

इकाई-3 53
मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

परिमापक

प्रो0 बी0 के0 तिवारी	लखनऊ विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस0 एम0 सईद	अवकाश प्राप्त प्रो0 लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक

प्रो0 जी0 के0 चन्दानी	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खण्ड-3 : खण्ड परिचय - शान्ति विधि - II

इस खण्ड में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उन नियमों का अध्ययन किया जाए जो राष्ट्रों के बीच शांति की स्थिति में लागू होते हैं। इस खण्ड में तीन इकाइयों के बारे में अध्ययन किया जाएगा —

इकाई 1 में संधि–विधि के बारे में चर्चा की जाएगी। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के श्रोत के रूप में संधियों का आधुनिक काल में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि बीसवीं शताब्दी में अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़िगत नियमों को सधिंयों के रूप में संहिताकरण किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संविधान के अनुच्छेद 38 में संधियों को अन्तराष्ट्रीय विधि के श्रोतों में प्राथमिकता दी गई है। संधि द्वारा विभिन्न प्रकार के विधि कृत्य अथवा संव्यवहार द्विपक्षीय समझौतों से लेकर बहुपक्षीय करार राष्ट्रों के बीच में किये गये हैं जिनके उपबन्ध पक्षकारों पर बाध्यकारी होते हैं। संधि विधि के नियम वियना अभिसमय 1969 में उपबन्धित किए गये हैं। इनकी चर्चा इस खण्ड में की जाएगी।

इकाई - 2 में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे के सम्बन्ध में व्याख्या की जाएगी। इनमें विभिन्न ढंगों का उल्लेख किया जाएगा। जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा किया जा सकता है। यह ढंग मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं -

(1) शान्तिपूर्ण ढंग,

तथा (2) बाध्यकारी या प्रपीड़क ।

इकाई - 3 में मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत संरक्षण के बारे में चर्चा की जाएगी । इस खण्ड में मानवाधिकार की अवधारणा का विकास, मानवाधिकार की परिभाषा तथा संयुक्तराष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में किए गये उपबन्धों का उल्लेख किया जाएगा। मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा 1948 एवं सिविल और राजनैतिक अधिकार तथा आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर की गई अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं आदि का विस्तार से वर्णन किया जाएगा।

इकाई -1 : संधि-विधि

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 संधि का अर्थ

1.3 संधि के रूप

1.4 संधियों का निर्माण

1.5 संधि-विधि के सामान्य नियम

1.6 संधियों का पुनरीक्षण तथा संशोधन

1.7 संधियों की अमान्यता

1.8 संधियों की समाप्ति

1.9 संधियों का निर्वचन

1.10 सारांश

1.11 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1.12 सम्बन्धित प्रश्न

1.13 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में संधि-विधि के बारे में सविस्तार चर्चा की जाएगी। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः

- संधि की प्रकृति के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- संधि के निर्माण की प्रक्रिया का परीक्षण कर सकेंगे,
- संधि की अमान्यता की दशाओं की व्याख्या कर सकेंगे,
- संधि की समाप्ति के विभिन्न पक्षों की चर्चा कर सकेंगे,
- संधि के निर्वचन के बारे में टिप्पणी कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

संधि विधि पर वियना अभिसमय, 1969 के पूर्व शांति सम्बन्धी अर्न्तराष्ट्रीय विधि रूढ़िगत नियमों से ही अधिकांशतः नियन्त्रित होती थी। इन नियमों का इस अभिसमय द्वारा काफी मात्रा में संहिताकरण किया गया है। यद्यपि अब भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़िगत नियम इन मामलों में लागू होंगें जो इस अभिसमय के उपबन्धों के अन्तर्गत नहीं आते। जैसा कि उद्देशिका में कहा गया है। यह अभिसमय 23 मई 1969 को बनाया गया था और 27 जनवरी 1980 को 35 अनुसमर्थन प्राप्त होने पर लागू किया गया, जैसा कि अनुच्छेद 84 पर प्राविधान था।अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत एक ऐसा उपकरण है जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को विकसित करने के उद्देश्य से अर्न्तराष्ट्रीय समुदाय द्वारा प्रयोग किया जाता है। संधि द्वारा विभिन्न प्रकार के विधिक कृत्य अथवा संव्यवहार द्विपक्षीय समझौतों से लेकर बहुपक्षीय संवैधानिक लिखित द्वारा मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के निर्माण हेतु किये जाते हैं, जैसे संयुक्त राष्ट्र का चार्टर, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का संविधान आदि। इस अभिसमय में नियमों के संहिताकरण के अलावा संधि-विधि के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास भी किया गया है और नये नियम भी उपबन्धित किये गये हैं। अभिसमय उन संधियों पर लागू होता है जो राज्यों द्वारा अभिसमय के लागू होने के पश्चात् की गई है।

1.2 संधि का अर्थ

संधियाँ राज्यों के बीच संविदा के प्रकृति के समझौते हैं, जिससे पक्षकारों के बीच अधिकार एवं बाध्यताओं का सृजन होता है।

वियना अभिसमय के अनुच्छेद-2 में संधि की परिभाषा इस प्रकार दी गई है -

"सन्धि एक ऐसा करार है जिसके द्वारा दो या दो से अधिक राज्यों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा शासित होता है।"

किसी भी प्रकार का लिखित अथवा मौखिक समझौता जो दो या दो

से अधिक राज्यों के बीच में किसी कार्य को करने के लिए किया जाता है उससे संधि का निर्माण होता है। संधियां अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं राज्यों के बीच भी की जाती है परन्तु ऐसी सन्धियों पर वियना अभिसंमय के उपबन्ध नहीं लागू होते क्योंकि ये उपबन्ध केवल ऐसी सन्धियों पर ही लागू होते हैं जो राज्यों के बीच लिखित रूप से की जाती है। संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य विशिष्ट अभिकरणों के निर्मित होने के बाद उनके बीच संव्यवहारों की संख्या में बढ़त हुई है। ये मामले अब वियना अभिसमय 1986 जो राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच की गई संधियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

संधियों का उद्देश्य राज्यों पर उनके पक्षकार हैं। बन्धनकारी बाध्यताओं को लागू करना है। यह लैटिन सिद्धान्त 'संविदा सर्वथा पालनीय' (''पैक्टा सन्ड सर्वेन्डा'') पर आधारित है जिसका अर्थ यह है राज्य संधि के अन्तर्गत ली गई बाध्यताओं को सद्भावनापूर्वक निर्वहन करेंगे। यदि कोई राज्य संधि के अन्तर्गत किये गये समझौते से बाध्यता स्वीकार करता है तो उस बाध्यता को वापस बिना अन्य पक्षकारों की स्वीकृति के वापस नहीं ले सकता।

संधि को अन्तर्राष्ट्रीय संविदा से विभेद करना होगा जब कि अन्तर्राष्ट्रीय संधियां राज्यों के बीच की जाती हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय संविदाएं राज्य या किसी अन्य राज्य के नागरिक या निगम के बीच की जाती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संविदा संधि नहीं होती और अन्तर्राष्ट्रीय संधि विधि के नियम उन पर लागू नहीं होते। (Anglo Iranian Oil Co. का मामला) ICJ. 952.

1.3 संधियों के रूप

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत संधियों के प्रारूपों में विविधिता है और उनमें कोई एकरूपता नहीं है। इसका मुख्य कारण प्राचीन राजनैतिक कथायें हैं जिनके अन्तर्गत यह संधियाँ की जाती थीं। संधियों के प्रमुख प्रारूप इस प्रकार से हैं -

(1) राज्यों के अध्यक्षों के बीच किया गया संधि प्रारूप जिसके अन्तर्गत राज्यों के अध्यक्ष के नाम से की जाती है जैसे - ब्रिटिश सम्राट तथा संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति के बीच।

(2) अन्तरसरकारी प्रारूप - इसके अन्तर्गत राज्यों की सरकारों के बीच किये गये समझौते आते हैं । यह प्रारूप मुख्यतया तकनीकि अथवा गैर राजनैतिक समझौतों में प्रयोग किया जाता है।

(3) अन्तरराज्यीय प्रारूप - यह राज्यों के बीच किये गये समझौते के सम्बन्ध में है जैसे इन्डो- यू.एस.ए. के बीच संधि।

(4) अन्तरविभागीय प्रारूप - जिसमें सरकारी विभागों के बीच संधि की जाती है। जैसे - विभिन्न देशों के वाणिज्य विभागों के बीच की गई सन्धि ।

(5) मंत्रियों के बीच की गई संधियाँ - जैसे राज्यों के विदेश विभाग के मंत्रियों द्वारा की गई संधियाँ ।

(6) देशों राजनैतिक अध्यक्षों के नाम से की गई संधियाँ - जैसे हांगकांग को चीन की संप्रभुता में रखने के सम्बन्ध में 19 दिसम्बर, 1984 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्रीमती थैचर तथा चीन के प्रधानमंत्री जियांग के बीच में की गई संयुक्त घोषणा।

संधि भले ही किसी भी प्रारूप में की गई हो परन्तु इनका संधि के बाध्यकारी प्रभाव पर कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

संधि भले ही मौखिक हो वह उसी प्रकार से बाध्यकारी होती है जैसे औपचारिक लिखित संधि ।(ईस्टर्न ग्रीन लैण्ड वाद) (1937) P.C.I.J.

संधियों के विभिन्न नाम

(1) अभिसमय (कन्वेक्शन) जो एकबहुपक्षीय औपचारिक लिखत के रूप में होती है।

(2) नयाचार (प्रोटोकाल) - यह औपचारिक संधि से निम्न प्रकार का समझौता है। उदाहरण के लिए अभिसमय का पूरक लिखित।

(3) करार (ऐग्रीमेन्ट) - यह पक्षकारों के बीच में एक सीमित क्षेत्र के समझौते हेतु किया जाता है।

(4) व्यवस्था (ऐरेन्जमेन्ट) - यह एक अस्थाई संव्यवहार के लिए किया जाता है।

(5) स्टेट्यूट - जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के नियम दिये रहते हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्टेट्यूट।

(6) घोषणा (डिक्लेरेशन) - जिसमें राजनैतिक कान्फ्रेन्स में अपनाये गये सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है। जिनका संबंधित राज्यों द्वारा पालन जायेगा। जैसे मानवीय पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा-1972

(7) अन्तिम एक्ट (फाइनल ऐक्ट) - जो किसी कान्फ्रेन्स की कार्यवाही के अन्तिम रूप देने हेतु लिखत तैयार किया जाता है।

(8) सामान्य ऐक्ट (जनरल ऐक्ट) - यह औपचारिक कान्फ्रेन्स में किया गया एक करार है जो कि वास्तव में संधि का रूप धारण करती है।

(9) नोट्स का आदान प्रदान (एक्सचेन्ज आफ नोट्स) - यह एक अनौपचारिक तरीका है जो आधुनिक काल में अधिकतर अपनाया जाता है। जिसमें राज्य बाध्यताओं को मान्यता देते हैं।

1.4 संधियों का निर्माण

सन्धि बनाने के विभिन्न प्रक्रम होते हैं जो सामान्यतः राज्य संधि को निर्मित करने हेतु अपनाते हैं।

1. **संविदाकारी राज्यों द्वारा व्यक्तियों को वार्ता प्रारम्भ करने हेतु प्रत्यायन (Accrediting of persons by the Contracting states)** - जब कोई राज्य दूसरे राज्य से वार्ता प्रारम्भ करने अथवा एक विशिष्ट सन्धि करने हेतु निर्णय लेता है तो सर्वप्रथम अपने प्रतिनिधि की नियुक्ति करता है जो कि उस सम्बन्ध में वार्ता करें। यह आवश्यक है कि प्रतिनिधियों को राजनैतिक पद हेतु आवश्यक प्राधिकार से युक्त होना चाहिए तथा उन्हें वार्ता करने और संधि को अंतिम रूप देकर उस पर हस्ताक्षर करने की शक्ति होनी चाहिए। उसे सम्पूर्ण शक्ति की लिखत दी जाती है। बहुपक्षीय संधियों के सम्बन्ध में एक सम्पूर्ण शक्ति की समिति नियुक्त की जाती है जो संधि के सम्बन्ध में वार्ता कर सकती है तथा उसे अन्तिम रूप दे सकती है।

2. **वार्ता तथा अंगीकरण** - संविदाकारी राज्यों द्वारा प्रत्यापित व्यक्ति जिन्हें सम्पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है वार्ता की कार्यवाही करते हैं। ये व्यक्ति

अपनी सरकार के सम्पर्क में रहते हैं तथा उनसे वार्ता के दौरान निर्देश भी प्राप्त कर सकते हैं। संधि के अंतिम पाठ पर हस्ताक्षर करने से पूर्व वे फिर से निर्देश प्राप्त कर सकते है।

जब राज्य इस पाठ के प्रति अपनी सहमति व्यक्त कर देते हैं तो एक प्रकार से कहा जाता है कि वे इसे स्वीकार कर रहे हैं । द्विपक्षीय संधि का अंगीकरण प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर से हो जाता है परन्तु जहाँ कई राज्यों के बीच में संधि का मामला होता है तो सामान्यतः सभी राज्यों की सहमति द्वारा पाठ का अंगीकरण होता है। परन्तु वियना अभिसमय के अनुच्छेद 9 के अन्तर्गत उपबन्ध किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में तैयार किये गये पाठ के लिए उक्त सम्मेलन में उपस्थित और मतदान करने वाले राज्यों के दो तिहाई मतों द्वारा पाठ स्वीकार किया जायेगा तथा अंगीकृत किया जायेगा।

3. **हस्ताक्षर द्वारा सहमति तथा टिप्पणी के आदान-प्रदान द्वारा सहमति** - जब सन्धि के अंतिम आलेख के सम्बन्ध में सहमति हो जाती है लिखित हस्ताक्षर के लिये तैयार हो जाता है। हस्ताक्षर के पूर्व संधि के पाठ को सार्वजनिक किया जाता है। हस्ताक्षर का कृत्य अत्यन्त औपचारिक विषय है। बहुपक्षीय संधियों में संधि का पाठ सत्र के अंतिम सत्र में मेज पर रख दिया जाता है और प्रत्येक प्रतिनिधि वहाँ पर आकर अपने राज्य के अध्यक्ष की तरफ से हस्ताक्षर कर देता है। हस्ताक्षर के उपरान्त लिखत को प्रतिनिधि द्वारा आदान-प्रदान किया जाता है।

4. **अनुसमर्थन (Ratification)** - प्रतिनिधियों द्वारा संधि पर हस्ताक्षर करने के उपरान्त अगला प्रक्रम है कि संधि को सरकारों द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने के लिए भेजा जाता है। अनुसमर्थन राज्य के अध्यक्ष अथवा सरकार द्वारा सन्धि पर प्रतिनिधि द्वारा किये गये हस्ताक्षर की पुष्टि के कृत्य को कहा जाता है।

यह अन्तर्राष्ट्रीय संधि के पक्षकारों द्वारा अंतिम पुष्टि की प्रक्रिया है। अनुसमर्थन द्वारा ही संधि आबद्धकारी होती है। यदि अनुसमर्थन से इन्कार किया जाता है तो संधि लागू नहीं होती। वियना अभिसमय के अनुच्छेद

2(1) (ख) के अनुसमर्थन की परिभाषा इस प्रकार दी गई है -

''अनुसमर्थन वह अन्तर्राष्ट्रीय कृत्य है जिसके द्वारा राज्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संधि से आबद्ध होने की सहमति देता है।''

पूर्व में अनुसमर्थन अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था जिसके बिना संधि निष्प्रभावी समझी जाती थी। आज यह मत स्वीकार किया जाता है कि अनुसमर्थन पक्षकारों के आशय को ही दर्शाता है कि संधि को आबद्धकारी रूप देने के लिए अनुसमर्थन करने की आवश्यकता है अथवा नहीं। अनुसमर्थन सभी मामलों में विधिक आवश्यकता नहीं होती। कई ऐसे कम महत्व के करार होते हैं जिसमें यह युक्ति युक्त औपचारिकता नहीं मानी जायेगी।

वियना अभिसमय के अनुच्छेद 14 में यह स्पष्ट रूप से उपबन्ध कर दिया गया है कि राज्य संधि से अनुसमर्थन द्वारा तब आबद्ध होगा -

(क) यदि संधि में उसका स्पष्ट उपबन्ध है।

(ख) पक्षकार राज्य अन्यथा इस बात के लिए सहमत है कि अनुसमर्थन आवश्यक है,

(ग) यदि संधि पर हस्ताक्षर इस शर्त पर किये जाते हैं कि उसका अनुसमर्थन होगा।

(घ) यदि सम्पूर्ण शक्ति में ही इस बात का आशय हो कि हस्ताक्षर अनुसमर्थन के अधीन है।

अनुसमर्थन का कारण

(1) अनुसमर्थन द्वारा राज्यों को यह अवसर प्राप्त होता है कि संधि के अन्तर्गत बाध्यता लेने से पूर्व संधि के लिखत का पुनः परीक्षण एवं पुनरावलोकन किया जाए। संधि प्रायः विषम तथा महत्वपूर्ण मामलों से सम्बन्धित होती है जो राज्य के हितों को प्रभावित करते है।

(2) यह भी एक जनतांत्रिक नियम हैं कि सरकार पहले जनमत प्राप्त कर ले। यदि जनमत संधि के विरूद्ध है तो राज्य उसे अनुसमर्थन नहीं कर सकता है।

(3) कुछ राज्यों की संवैधानिक विधि के अनुसार संधियाँ तभी आबद्धकारी होती हैं जब संसद द्वारा उन्हें पारित किया जाये। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रपति को अनुसमर्थन की शक्ति सीनेट की सहमति के अधीन होती है। भारत में यह कार्य संसद का है।

अनुसमर्थन युक्तियुक्त समय में किया जाना चाहिए। अनुसमर्थन या तो किया जाय अथवा नहीं किया जाता। अनुसमर्थन अस्वीकार किये जाने की शक्ति राज्य की सम्प्रभुता में निहित है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अनुसमर्थन करने का न तो विधिक अथवा न ही नैतिक कर्तव्य है।

अनुसमर्थन की लिखत द्विपक्षीय संधियों में केवल आदान-प्रदान द्वारा की जाती है। बहुपक्षीय संधियों के मामले में अनुसमर्थन की लिखत केन्द्रीय मुख्यालय में जमा की जाती है उदाहरण के लिए उस देश के विदेश कार्यालय में जहाँ पर संधि पर हस्ताक्षर किये गये थे। आजकल अनुसमर्थन की लिखत संयुक्त राष्ट्र के कार्यालय में जमा की जाती है।

आरक्षण - (Reservation) अनुसमर्थन शर्तयुक्त अथवा आंशिक संभव नहीं है परन्तु आरक्षण किये जा सकते है। यदि कोई पक्षकार राज्य संधि को स्वीकार करते हैं परन्तु उसके कुछ प्राविधानों से अलग रहना चाहता है तो आरक्षण कर सकते हैं। ऐसा माना जाता है कि राज्य ने संधि को आरक्षण के साथ स्वीकार किया है। ऐसा प्रायः बहुपक्षीय संधियों में किया जाता है, जहाँ कई राज्य पक्षकार होते हैं और कुछ मानक (Norms) निर्धारित किये जाते हैं। और उन मानकों से कोई पक्षकार राज्य जैसे कि विकासशील राज्य अलग होना चाहता है। और उस राज्य के लिए कुछ अलग मानकों का प्रावधान किया जाता है। अतः संधि विधि के अन्तर्गत आरक्षण अनुमन्य है। आरक्षण मुख्यरूप से संधि में किये गये स्पष्ट प्रावधान से होता है। या पक्षकार राज्यों द्वारा दी गयी सहमति से, या करार से हो सकता है।

आरक्षण की परिभाषा वियना अभिसमय के अनु. 2(1) (घ) में दी गयी है। इसके अनुसार आरक्षण का तात्पर्य ऐसे एकपक्षीय कथन से है जो राज्य द्वारा किसी संधि पर हस्ताक्षर करने या उसका अनुसमर्थन करने या

उसे स्वीकार करने के समय किया गया हो। इसके द्वारा राज्य का आशय संधि के कुछ प्रावधानों को उस राज्य पर लागू होने से उसके विधिक प्रभाव को अलग करता है। अतः आरक्षण संधि विधि द्वारा प्रतिषिद्ध नहीं हैं।

संधि में किसी पक्षकार द्वारा किया गया आरक्षण किसी समय वापस लिया जा सकता है। (अनु. 22)।

5. **स्वीकृति तथा संशक्ति** - व्यवहारिक रूप से जब संधि पर राज्य हस्ताक्षर नहीं करते तो वे उस संधि की बाद में स्वीकृति अथवा संशक्ति देकर उसके पक्षकार बन सकते हैं। वियना अभियमय के अनुच्छेद 2(1) (ख) के अनुसार स्वीकृति का अर्थ है कि जब कोई राज्य उस संधि का पक्षकार बनने की स्वीकृति देता है। स्वीकृति वह ढंग है जिसके द्वारा राज्य संधि से आबद्ध होने की अपनी सहमति देता है। स्वीकृति शब्द का प्रयोग उस मामले में भी किया जाता है जब किसी बहुपक्षीय संधि को निर्धारित संख्या में अनुसमर्थन प्राप्त हो जाते हैं तो उस संधि को बाद में कोई राज्य स्वीकृति दे देता है और वह उसका पक्षकार बन जाता है। उदाहरण - बच्चों के अधिकारों के संबंध में संयुक्त राष्ट्र अभिसमय 1989 में यह उपबन्ध था कि जब बीस राज्यों से अनुसमर्थन प्राप्त हो जायेगा तो यह संधि लागू हो जायेगी। जब बीस राज्यों ने एक वर्ष के अन्दर अपने अनुसमर्थन संयुक्त राष्ट्र सचिवालय में जमा कर दिये तब बाकी राज्यों ने इस अभिसमय पर अपनी स्वीकृति दे कर तब वे पक्षकार बनें। सामान्यतः संधि में यह विशिष्ट स्वीकृति खण्ड का प्रावधान किया जाता है जिसके द्वारा संधि पर हस्ताक्षर करने के बाद दूसरे राज्य उसे स्वीकृति देकर पक्षकार बन सकते हैं अन्यथा नियम यह है कि राज्य द्वारा संधि की स्वीकृति लिखत को केवल निरपेक्ष करने से वह उस संधि का पक्षकार नहीं बनता जब तक कि अन्य पक्षकारों की सहमति न हो। यह नियम इस कारण है कि दूसरे राज्य पक्षकार को यह जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है कि ऐसे कौन से नये पक्षकार हैं कि वे उस संधि के लिए अपनी स्वीकृति दे रहे हैं ताकि संदर्भित संधि के अन्तर्गत अधिकारों और बाध्यताओं में समन्वय बना रहे। व्यवहारिक रूप से स्वीकृति का वही अर्थ है जो अनुसमर्थन का है।

संशक्ति शब्द का अर्थ वही है जो स्वीकृति का है। हालांकि पहले

राज्य द्वारा संधि के आंशिक स्वीकृति के लिए संशक्ति तथा पूर्ण स्वीकृति के लिए स्वीकृति का शब्द प्रयोग करते थे। परन्तु राज्यों के व्यवहार में अब दोनों को पूर्ण स्वीकृति माना जाता है। वियना अभिसमय द्वारा सवीकृति का प्रयोग किया गया है न कि संशक्ति का।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में स्वीकृति की लिखत का कोई निर्धारित प्रारूप नहीं है। सामान्यतः यह वही है जो अनुसमर्थन का लिखित होता है। एक साधारण इस आशय की विज्ञप्ति कि यह संधि का पक्षकार बनना चाहता है, एक पर्याप्त स्वीकृति की लिखत मानी जायेगी।

(6) संधियों का लागू होना - कुछ संधियाँ हस्ताक्षर करने के दिनांक से ही लागू हो जाती है परन्तु जहाँ संधि के लागू होने के लिए अनुसमर्थन की आवश्यकता है वहाँ तभी लागू होगी जब अनुसमर्थन का आदान-प्रदान पक्षकार राज्यों के बीच में किया गया हो अथवा अनुसमर्थन का निक्षेप कर दिया गया हो। वियना अभिसमय के अनुच्छेद 24 के अनुसार संधि का लागू होना उसके प्रावधानों के अनुसार होता है। बहुपक्षीय संधियाँ अब सामान्यतः उस तिथि से लागू होती हैं जब निर्धारित संख्या में अनुसमर्थन की स्वीकृति प्रदान कर दी गयी हो। कभी-कभी अनुसमर्थन की संख्या के लिए बिना संधि के लागू होने की निर्धारित तिथि निश्चित कर दी जाती है। कभी यह भी प्रावधान कर दिया जाता है कि किसी घटना के घटित होने पर ही संधि लागू होगी। जैसे - लोकार्नो ट्रीटी आफ म्यूचुअल गारन्टी 1925 में यह उपबन्ध किया गया था कि यह संधि तब लागू होगी जब राष्ट्र संघ का जर्मनी सदस्य बन जायेगा।

(7) पंजीकरण तथा प्रकाशन - संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 102 में यह उपबन्ध किया गया है कि सभी संधियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय करारों को जो सदस्य राज्यों द्वारा किए गये है को यथासम्भव संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय में पंजीकृत करा दिया जाये और सचिवालय उसे प्रकाशित करेगा। यदि संधि अथवा करार को पंजीकृत नहीं कराया गया है तो पक्षकार संयुक्त राष्ट्र के किसी अंग के समक्ष उस संधि या करार का अवलम्ब नहीं ले सकता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बिना सन्धि के पंजीकरण के कोई पक्षकार संधि के अन्य पक्षकारों के विरूद्ध संधि से उत्पन्न अपने

अधिकारों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, महासभा अथवा सुरक्षा परिषद के समक्ष नहीं ले जा सकता। अनुच्छेद 102 के प्राविधान का उद्देश्य यह है कि राज्यों को गोपनीय करारों को करने से रोका जाय तथा पक्षकारों के लिए संधि के प्रावधानों को आसानी से उल्लंघन करना संभव न हो क्योंकि उसे प्रकाशित किया गया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संधि के प्रकाशित न होने से वह अप्रवर्तनीय नहीं हो जाती। यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि संधि का पंजीकरण हुआ है या नहीं, इस बात का संधि की वैधता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केवल बिना पंजीकृत संधि को अनुच्देद 102(2) के प्रावधान के अनुसार उसे संयुक्त राष्ट्र के सामने पक्षकार अवलम्बन नहीं ले सकते।

1.5 संधि विधि के सामान्य नियम

संविदा सर्वथा पालनीय - संधियों का यह एक सामान्य सिद्धान्त है, ओपन हाइम के अनुसार संधियाँ विधितः आद्धकारी होती हैं क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह रूढ़िगत नियम है इस सिद्धान्त का बाध्यकारी प्रभाव एक मूलभूत सिद्धान्त पर आधारित है कि संविदा सर्वथा पालनीय है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्य संधियों के अधीन बाध्यताओं को सद्भावनापूर्वक पालन करने हेतु बाध्य हैं। यह उनका एक कर्तव्य है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग द्वारा राज्यों का अधिकार तथा कर्तव्य घोषणा प्रारूप के अनु. 13 के अधीन प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक राज्य का संधियों से उत्पन्न बाध्यताओं का सद्भाव से पालन करने का कर्तव्य है।

वियना अभिसमय की उद्देशिका में यह कहा गया है कि संविदा सर्वदा पालनीय सार्वभौम मान्यता है। अभिसमय के अनु. 26 में भी यह प्रावधान किया गया है कि प्रत्येक प्रवृत्त संधि उसके पक्षकारों पर बाध्यकारी है। और उसका सद्भाव पूर्वक पालन करना चाहिए।

इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी परमाणु परीक्षण वाद (आस्ट्रेलिया बनाम फ्रांस) I.C.J. Report 1974 में स्वीकार किया है। संविदा सर्वदा पालनीय नियम का आधार है कि जब तक राज्य संधियों को आबद्धकारी नहीं मानेंगे सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जीवन अस्त व्यस्त हो जायेगा

क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन इस बात पर आधारित है कि राज्यों द्वारा की गई संधियों में दी गई बाध्यताओं का पालन सद्भाव पूर्वक किया जाय। यदि वे इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त का अनुपालन करने में असमर्थ रहते हैं तो संधियां जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सबसे अत्यधिक महत्वपूर्ण श्रोत मान जाती है, संदिग्ध हो जायेगी।

संधियाँ केवल संविदाकारी पक्षकारों पर ही आबद्धकर होती है।

इसका अर्थ है कि संधि के अन्तर्गत अधिकार तथा बाध्यतायें केवल संधि के पक्षकारों पर आबद्धकर होती है न कि तीसरे राज्यों पर । यह सिद्धान्त संविदा विधि के सामान्य अवधारणा पर आधारित है और राज्यों के प्रभुत्व-सम्पन्नता तथा स्वतंत्रता पर भी निर्भर है। वियना अभिसमय के अनु. 34 के अन्तर्गत प्रावधान किया गया है कि कोई संधि किसी तीसरे राज्य के लिए बाध्यताओं या अधिकारों का सृजन उसकी सहमति के बिना नहीं करती है।

परन्तु वियना अभिसमय के अनु. 35 में यह प्रावधान किया गया है कि यदि किसी संधि के पक्षकारों का आशय उसके किसी प्रावधान को किसी तीसरे राज्य की बाध्यता स्थापित करने का है और तीसरे राज्य ने उस बाध्यता को लिखित रूप में अभिव्यक्त रूप से स्वीकार कर लिया है तो संधि के ऐसे प्रावधान से उस तीसरे राज्य के लिए बाध्यता उत्पन्न हो जायेगी।

वियना अभिसमय के अनु. 38 में यह प्रावधान है कि यदि किसी तीसरे राज्य में संधि के अर्न्तगत बाध्यताओं को स्वीकार नहीं किया है परन्तु वह सन्धि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़िगत नियम का निर्माण करती है, तो ऐसी संधि तीसरे राज्य पर भी बाध्यकारी हो सकती है। उदाहरणार्थ संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धान्त गैर राज्यों पर भी बाध्यकारी है जैसे चार्टर का अनुच्छेद 2(6) । इसमे यह उपबंधित है कि संगठन यह सुनिश्चित करेगा कि जो राज्य संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं वे जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए आवश्यक हो, इन सिद्धान्त के अनुसार कार्य करें। अन्य शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना,

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का रूढ़िगत नियम है और इससे वे अन्य राज्य भी आबद्ध हैं जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं है। पुनः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने जाति संघार अभिसमय के आरक्षण मामले में निर्णय दिया था कि मानवीय प्रकृति की संधि से उत्पन्न बाध्यताओं का सम्मान करना भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का रूढ़िगत नियम है। अतः यह नियम उन राज्यों पर भी बाध्यकारी है जो ऐसी संधियों के सदस्य नहीं है।

1.6 संधियों का पुनरीक्षण तथा संशोधन

पुनरीक्षण अथवा संशोधन संधि के प्रावधानों को बदलने के लिए किए जाते हैं। संधि-विधि पर वियना अभिसमय 1969 के अनुच्छेद 39 में प्रावधान किया गया है। कि संधि में संशोधन पक्षकारों की सहमति से ही किए जायेंगे। इस अभिसमय के अनुच्छेद 40 व 41 में बहुपक्षीय संधियों के संशोधन के बारे में सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है जैसे कि संशोधन सभी राज्य पक्षकारों को सूचित किए जायेंगे तथा उन्हें संशोधन की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार होगा।

असंगत संधियाँ - संधियों पर विधि संबंधी वियना कन्वेन्शन के अनुच्छेद 30 में प्रावधान किया गया है कि जहाँ पर पक्षकारों द्वारा की गयी सन्धि पूर्व में की गयी संधि से असंगत है तो बाद में की गई संधि में किये गये उपबन्ध जो पूर्व में गई संधि के उपबन्धों से असंगत है, ही अधिभागी होंगे, परन्तु संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 103 में असंगति के बारे में अलग ही नियम है जो उक्त सामान्य नियम के, अपवाद में है। चार्टर के इस अनुच्छेद में यह प्रावधान किया गया है कि यदि चार्टर के अन्तर्गत सदस्य राज्यों के बाध्यताओं और उनके द्वारा संधियों के अन्तर्गत दी गई बाध्यताओं के बीच कोई किसी प्रकार का विरोध है तो चार्टर के अन्तर्गत बाध्यताएं अधिभागी होंगी।

1.7 संधियों की अमान्यता

वियना अभिसमय के अनुच्छेद 46 से 53 में संधियों की अमान्यता के विभिन्न आधार बताये गये हैं। जो इस प्रकार है -

(1) संधि करने की असमर्थता (अनुच्छेद 46)- प्रतिनिधि के प्राधिकार के अभाव के आधार पर संधि की अमान्यता केवल उन मामलों में उत्पन्न होती है जिनमें संधि हस्ताक्षर होने पर बाध्यकारी हो जाती है। तथा हस्ताक्षर करने वाले प्रतिनिधि में प्राधिकार का अभाव होता है। परन्तु जहाँ पर अनुसमर्थन के बिना संधि बाध्यकार नहीं होती है वहाँ प्रतिनिधि द्वारा प्राधिकार का अधिक्य स्वतः अनुसमर्थन के प्रक्रम पर दूर कर दिया जाता है। यदि संधि का अनुसमर्थन वह राज्य कर देता है तो यह माना जायेगा कि वह प्रतिनिधि के अप्राधिकृत कार्य को स्वीकार कर लेता है।

(2) त्रुटि - वियना अभिसमय के अनुच्छेद 48 के अनुसार राज्य पक्षकार संधि में त्रुटि होने के आधार पर संधि को अभियोजन करा सकता है। परन्तु वह गलती उस तथ्य या स्थिति से संबंधित हो जिसे राज्य द्वारा उस समय अस्तित्व में होना माना था जब संधि की गई थी और ऐसा तथ्य या स्थिति संधि द्वारा आबद्ध होने की उसकी सहमति का आवश्यक आधार था। परन्तु यदि गलती उस पक्षकार के अपने आचरण द्वारा होती है जो गलती की दलील पर संधि को अविधिमान्य कराना चाहता है तो गलती के कारण अविधिमान्य नहीं होगी।पुनः केवल संधि के पाठ की शब्दावली से संबंधित गल्ती उसकी विधिमान्यता को प्रभावित नहीं करती। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनुच्छेद 48 में विधि की गलती को कोई बात नहीं कही गई है।

(3) कपट - वियना अभिसमय के अनु. 49 के अनुसार अविधिमान्यता का आधार वहाँ पर भी लागू होगा जहाँ किसी राज्य को किसी अन्य राज्य के कपटपूर्ण आचरण द्वारा संधि करने के लिए उत्प्रेरित किया गया हो।

(4) भ्रष्टाचार - अनुच्छेद 50 प्रावधान करता है कि यदि किसी राज्य की सहमति, किसी राज्य द्वारा उसके प्रतिनिधि की प्रत्यक्ष सा अप्रत्यक्ष रूप से भ्रष्ट करके प्राप्त की गयी है तो पूर्ववर्ती राज्य उस संधि को अविधिमान्य करार कराने के लिये हकदार होगा।

(5) प्रपीड़न - अनुच्छेद 51 के अनुसार यदि किसी राज्य के प्रतिनिधि को ऐसा कोई कार्य करके या भय दिखा कर उससे सम्मति प्राप्त करने के

लिए प्रपीड़न किया जाता है तो संधि अविधिमान्य होगी। इसी प्रकार अनुच्छेद 52 प्रावधान करता है कि वह संधि अविधिमान्य होगी जो संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में समाविष्ट अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तों का उल्लंघन करके बल प्रयोग का भय दिखाकर बल प्रयोग द्वारा प्राप्त की गई हो।

(6) अवश्य पालनीय सिद्धान्तों के विरूद्ध - वियना अभिसमय के अनुच्छेद 53 के अनुसार यदि संधि अवश्य पालनीय सिद्धान्त के विरूद्ध है तो वह अविधिमान्य होगी। संधि को संधि कर लेने में प्राधिकार के अभाव अथवा गलती अथवा कपट या भ्रष्टाचार के आधार पर अविधिमान्य घोषित करने का अधिकार समाप्त हो जाता है यदि पक्षकार राज्य इस बात के लिए सहमति दे देता है कि वह उस सन्धि को विधिमान्य मानेगा अथवा सन्धि लागू रहती है अथवा आचरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने संधि की विधिमान्यता के बारे में स्वीकृति दे दी है।

केवल अवश्य पालनीय सिद्धान्त के विरोध या प्रपीड़न के मामले में संधि स्वतः शून्य हो जाती है। अविधिमान्य या शून्य सन्धि का कोई विधिक बल नहीं होता । (अनुच्छेद 69)

1.8 संधियों की समाप्ति

संधियों की समाप्ति दो प्रकार से होती है -

(1) विधि की क्रिया द्वारा

(2) पक्षकारों के कृत्य द्वारा

(1) विधि की क्रिया द्वारा

1. द्विपक्षीय संधि में कोई एक पक्षकार के निर्वापन अथवा संधि में विषय वस्तु के निर्वापन होने पर ।

2. पक्षकारों के बीच युद्ध छिड़ जाने पर संधियों का क्रियान्वयन समाप्त हो जाता है। तथा कुछ मामलों में युद्ध के दौरान स्थगित रहती है।

3. द्विपक्षीय संधियों में एक पक्षकार द्वारा संधि के उपबन्धों का तात्विक भंग द्वारा दूसरे पक्षकार को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि संधि को भंग कर दे या उसका क्रियान्वयन स्थगित कर दे। बहुपक्षीय संधियों में

एक पक्षकार द्वारा तात्विक भंग का परिणाम सभी पक्षकारों के लिए संधि की समाप्ति मानी जायेगी। (वियना अभिसमय का अनुच्छेद 60)

तात्विक भंग की परिभाषा अनु. 60(3) में दी गई है जिसका तात्पर्य यह है संधि का ऐसा निराकरण जिसकी स्वीकृति वियना अभिसमय द्वारा नहीं दी गई है। अथवा संधि में उद्देश्य या प्रयोजन की पूर्ति करने के लिए आवश्यक प्रावधान का उल्लंघन करती है।

4. संधि में पालन की असंभवता - किसी पक्षकार का लुप्त हो जाना अथवा संधि की वस्तु का नष्ट हो जाना या स्थायी रूप से लुप्त हो जाने पर संधि समाप्त हो जाती है।

5. परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन - वियना अभिसमय अनु. 62 प्राविधान करता है कि परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन होने के कारण संधि समाप्त हो जाती है।

यह एक ऐसा कारण है कि जिसके आधार पर संधि को समाप्त किया जा सकता है। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि परिस्थितियों में अनवेक्षित परिवर्तन हो जाता है। जिसके कारण पक्षकार द्वारा संधि में प्राविधानित बाध्यताओं का पालन करने से पक्षकार के किसी महत्वपूर्ण विकास अथवा उसके अस्तित्व को खतरा पहुँचाता है तो उसे सन्धि की बाध्यताओं से मुक्ति पाने के लिए अपने अधिकार को दूसरे पक्षकारों से मांग कर सकता है। प्रत्येक संधि में इस सिद्धान्त का विवक्षित खण्ड निहित होता है। फ्रिशरीज मामले में आई.सी.जे. रिपोर्ट 1973 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि यदि परिस्थितियां जो पक्षकारों को संधि में स्वीकृत करने के लिए प्रवृत्त करती है, में मूलभूत परिवर्तन कतिपय दशाओं के अधीन प्रभावित पक्षकारों को संधि के समापन या निलम्बन का आश्रय देने के लिए आधार प्रदान करती है। न्यायालय ने यह भी कहा कि रिबस सिक स्टेन्टीबस का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि का रूढ़िगत नियम है।

रिबस सिक स्टैन्टीबस का सिद्धान्त संधियों के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्त पैक्टा सण्ड सरवन्डा का अपवाद है क्योंकि जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि संधियों का पालन सद्भाव से कड़ाई के साथ किया जाना

चाहिए।

अब यह सिद्धान्त वियना अभिसमय के अनु. 62 के अन्तर्गत परिस्थितियों में मूलभूत परिवर्तन शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है। यह अनुच्छेद निम्नलिखित प्राविधान करता है।

(1) ऐसी परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन जो संधि करते समय विद्यमान परिस्थितियों में सम्बन्ध में हुआ हो और जिसका पक्षकारों द्वारा पूर्वानुमान नहीं किया गया था संधि को समाप्त करने के लिए आश्रय केवल तभी दिया जा सकेगा कि परिवर्तन का प्रभाव संधि में अधीन अनुपालन की जाने वाली बाध्यताओं के विस्तार में भारी परिवर्तन करना हो।

(2) परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन का सिद्धान्त संधि को समाप्त करने या उससे निकलने के लिए आधार के रूप में आश्रय, उन दशा में ही किया जा सकता है जब ऐसा मौलिक परिवर्तन, उसका अवलम्ब करने वाले पक्षकार द्वारा संधि के अधीन बाध्यता का या संधि के किसी अन्य पक्षकार के प्रति किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता का उस पक्षकार या भंग किये जाने के परिणाम स्वरूप हुआ है। परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन संधि किये जाने के बाद किसी समय भी हो सकता है। और इसका आश्रय लिया जा सकता है परन्तु संधि के इस सिद्धान्त का लाभ अपने दोषपूर्ण कार्य में कारण नहीं ले सकता ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मूलभूत परिवर्तन के सिद्धान्त का अवलम्बन लेने वाला पक्षकार के लिए आवश्यक है कि वह संधि के अन्य पक्षकारों को इसकी सूचना दे। क्योंकि परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन का सिद्धान्त स्वयं संधि को समाप्त नहीं करता । संधि के पक्षकार द्वारा वियना अभिसमय के अनु. 65 तथा 66 के अधीन प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है।

(6) यदि संधि एक निर्धारित अवधि के लिए की गई है तो उस समय में समाप्त हो जाने पर, संधि समाप्त हो जाती है।

(7) वियना अभिसमय के अनु. 64 के अनुसार यदि अवश्य पालनीय सिद्धान्त का कोई नया मान उदय होता है तो कोई भी विद्यमान संधि जो

उस मान के विरोध में है शून्य मानी जाती है और समाप्त हो जाती है।

(3) पक्षकारों के कृत्य द्वारा

1. संधि सभी पक्षकारों की सहमति से किसी भी समय समाप्त हो सकती है। (वियना अभिसमय के अनु.54)

2. संधि प्रत्याख्यान द्वारा भी समाप्त हो जाती है परन्तु संधि में प्रत्याख्यान के लिए प्रावधान होना चाहिए और प्रत्याख्यान संधि के प्रावधानों के अनुसार किया जाता है उन संधियों में जिनमें प्रत्याख्यान के लिए प्रावधान नहीं किया गया है वियना अभिसमय के अनु. 56 के अनुसार किया जा सकता है। परन्तु ऐसा तब सम्भव है जब ऐसा करने के लिए अन्य पक्षकार इसकी सहमति दें।

3. संधि के सभी पक्षकार यदि उसी विषयवस्तु के सम्बन्ध में कोई अन्य संधि कर लेते हैं तो पहली संधि समाप्त हो जाती हैं (अनु. 59)।

1.9 संधियों का निर्वचन

संधियों का निर्वचन न्यायालयों द्वारा जैसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जा सकता है। यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी संगठनों द्वारा जैसे श्रम सम्बन्धी प्रश्नों का अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा भी किया जाता है । निर्वचन किसी विधि वेत्ताओं की तदर्थ समिति को निर्दिष्ट करके भी जाता है। जहाँ संधि दो या अधिक भाषाओं में की जाती है तो वहाँ उसे बात का उल्लेख किया जा सकता है कि वे सभी भाषायें प्रमाणिक होंगी। यह भी कहा जा सकता है कि उनमें से कौन सी भाषा अविभावी होगी। संयुक्त राष्ट्र चार्टर 1945 पांच भाषाओं में लिखा गया था । चाइनीज, फ्रेंच, रूसी, इंग्लिश तथा स्पेनिश । चार्टर के अनु. 111 में यह प्रावधान किया गया कि सभी पार्ट समान रूप से प्रमाणित हैं।वियना अभिसमय के अनु. 33 में यदि संधि कई भाषाओं में है तो सभी पार्ट समान रूप से प्रमाणित माने जायेंगे जब तक कि संधि में सह उपबन्ध न किया गया हो कि एक विशिष्ट पाठ निर्वचन के समय अविभावी होगा।

अब यह सामान्य प्रचलन हो गया है कि बहुपक्षीय संधियों में विवाद खण्ड का उपबन्ध किया जाता है जिसमें निर्वचन सम्बन्धी विवादों के निपटारे हेतु ढंग दिये रहते है। जैसे -पक्षकारों के बीच वार्ता द्वारा, विवाचन द्वारा सुलह द्वारा अथवा न्यायिक निर्धारण द्वारा ।

1.10 सारांश

संधि के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम 'संधि विधि पर वियना अभिसमय 1969 में उपबंधित कर दिये गये है। जो 27 जनवरी 1980 से लागू किया गया है। इस अभिसमय के अनुसार संधि एक ऐसा करार है जिसके द्वारा दो या दो से अधिक राज्यों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा शामिल होता है। संधि का उद्देश्य पक्षकारों पर बन्धकारी बाध्यताएं लागू करना है।

संधियां कई रूप में की जाती हैं और यह लिखित या मौखिक हो सकती है। संधि का कोई भी प्रारूप हो या भले ही वह मौखिक, इनका संधि के बाध्यकारी प्रभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । संधि कई नामों से की जाती है।

संधि के निर्माण के कई प्रक्रम होते हैं। संधि पर वार्ता, अंगीकरण, हस्ताक्षर, अनुसमर्थन, स्वीकृति तथा संशक्ति, लागू होना पंजीकरण तथा प्रकाशन।

संधियां विधितः आबद्धकारी होती हैं क्योंकि इन पर संविदा सर्वदा पालनीय सिद्धान्त लागू होता है। संधियों का पुनर्रात्ताप तथा संशोधन हो सकता है।

संधि करने वाले प्रतिनिधि को प्राधिकार के अभाव, कपट भ्रष्टाचार, प्रपीड़न , अवश्य पालनीय संगति के विरूद्ध होने के कारण संधि अमान्य होती है।

संधि की समाप्ति या तो विधि की क्रिया द्वारा होती है या पक्षकारों के कृत्य द्वारा। विधि की क्रिया में विधि के एक पक्षकार का निर्वापन, पक्षकारों के बीच युद्ध छिड़ जाना, पक्षकार द्वारा संधि के उपबन्धों का

तात्विक योग संधि के पालन में असम्भवता तथा परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन आते हैं। पक्षकारों के कृत्य द्वारा भी संधि की समाप्ति होती है। यह उनकी पद्धति द्वारा या प्रत्याख्यान द्वारा या ऊर्जा विषयवस्तु पर नयी संधि किये जाने पर हो सकता है।

संधि का निर्वचन अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा, या विवाचन द्वारा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी संगठनों द्वारा किया जाता है।

1.11 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

1. J.G. Starke - "Introduction to International Law."
2. Oppenheim - "International Law" Vol. I
3. Harris - "Cases and Materials on International Law".
4. Brownlie - "Principles of Public International Law".
5. K.C. Joshi - "International Law & Human Rights"
6. डा. एच. ओ. अग्रवाल- ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि ''

1.12 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संधि के निर्माण के विभिन्न प्रक्रमों का उल्लेख कीजिए।
2. संधियों के सम्बन्ध में ''पैक्टा-सन्ट-सरवान्डा'' तथा ''रिबस-सिक-स्टैन्टिबस'' सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
3. संधि की प्रकृति से आप क्या समझते हैं? संधि कब अविधिमान्य होगी?
4. संधि विधि के सामान्य नियम क्या हैं? संधि की समाप्ति कैसे होती है?

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. संधियों का अनुसर्थन समझाइये।
2. आरक्षण से आप क्या समझते हैं?

3. संधियों की स्वीकृति तथा संशक्ति में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

4. संविदा सर्वथा पालनीय सिद्धान्त क्या है?

5. संधियों के निर्वचन के बारे में चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सन्धि की परिभाषा, सन्धि विधि पर वियना अभिसमय के किस अनुच्छेद में दी गयी है -

   (अ) 1 (ब) 2 (स) 3 (द) 4

2. राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के बीच किये गये समझौते नियन्त्रित होते हैं?

   (अ) वियना अभिसमय 1969 द्वारा

   (ब) वियना अभिसमय 1986 द्वारा

   (स) वियना अभिसमय 1979 द्वारा

   (द) इनमें किसी से नहीं।

3. मौखिक संधियाँ -

   (अ) बाध्यकारी होती हैं। (ब) बाध्यकारी नहीं होती हैं।

   (स) कुछ बाध्यकारी होती हैं।

   (द) बाध्यकारी होती हैं यदि राज्यों के अध्यक्षों द्वारा की जाये।

4. संधियों के अनुसमर्थन संबंधी उपबन्ध वियना अभिसमय 1969 के किस अनुच्छेद में किया गया है।

   (अ) 10 (ब) 14 (स) 28 (द) 32

5. संधियों का पंजीकरण होता है।

   (अ) संयुक्त राष्ट्र की महासभा में

   (ब) संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में

   (स) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में

   (द) संयुक्त राष्ट्र के सचिवालय में

1.13 प्रश्नोत्तर

(1) ब

(2) ब

(3) अ

(4) ब

(5) द

इकाई - 2 : विवादों का निपटारा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 विवादों के निपटारे के शान्तिपूर्ण ढँग

2.3 संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में विवादों का निस्तारण

2.4 बाध्यकारी या अवपीड़क उपाय

2.5 सारांश

2.6 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

2.7 सम्बन्धित प्रश्न

2.8 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे के विभिन्न मैत्रीपूर्ण या शांतिपूर्ण ढंगों तथा बाध्यकारी या अवपीड़क ढंगों की चर्चा की जाएगी। इसके अध्ययन से आपः

- शांतिपूर्ण ढंगों (1) वार्ता (2) सेवाएं तथा मध्यस्थता (3) जांच व सुलह (4) माध्यस्थ्य एवं (5) न्यायिक निर्णय द्वारा विवादों के निपटारे की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- विवादों के निपटारे के बाध्यकारी उपायों (1) प्रतिकार (2) प्रतिशोध (3) शांतिपूर्ण नाकेबंदी (4) मध्यक्षेप तथा (5) घाटबंदी का परीक्षण कर सकेंगे,

2.1 प्रस्तावना

'अन्तर्राष्ट्रीय विवाद' के अन्तर्गत राज्यों के बीच विवाद आते हैं, परन्तु ऐसे भी कई विवाद होते हैं जो एक राज्य के और दूसरे राज्य के व्यक्तियों,

निगमित निकायों एवं गैर - राज्य इकाइयों के बीच उत्पन्न होते हैं? परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे के अन्तर्गत हम केवल राज्यों के बीच सम्बन्धित विवादों का ही अध्ययन करते हैं।

विधि या तथ्य के प्रश्न पर सहमत न होने के कारण विवाद उत्पन्न होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में केवल विधि के विवादों के समाधान के लिए प्रक्रिया निर्धारित की गई है न कि राजनैतिक विवादों के लिए। ओपेनहाइम के अनुसार विधिक विवाद वे हैं जिनमें विवाद के पक्षकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अन्य आधारों पर अपने दावों तथा तर्कों को आधारित करते हैं। जब एक पक्षकार 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि में किसी नियम के उल्लंघन पर आधारित दावा दूसरे पक्षकार को पेश करता है और दूसरा उसे निरस्त कर देता है तो अन्तर्राष्ट्रीय विवाद उत्पन्न हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह उद्देश्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को यथासम्भव जल्दी एवं उचित और न्यायसंगत निपटारा हो जाय। संयुक्तराष्ट्र के चार्टर का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि राज्यों के मध्य मतभेदों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाया जा सके। संयुक्त राष्ट्र का चार्टर अनु. 2(3) अधिकथित करता है कि सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांतिपूर्ण साधनों द्वारा करेंगे। राष्ट्र संघ (League of Nations) का भी मुख्य उद्देश्य यही था कि विवादों का निस्तारण शांतिपूर्ण ढंग (Amicable means or Pacific Means) से किया जाये। मुख्यतः विवादों का निपटारा दो प्रकार से किया जा सकता है। निपटाने का मैत्रीपूर्ण ढंग या शांतिपूर्ण ढंग और बाध्यकारी अथवा अवपीडक ढंग (Compulsive or Coercive means)।

2.2 विवादों के निपटारे के मैत्रीपूर्ण या शांतिपूर्ण ढंग

विवादों का निपटारा निम्न प्रकार के शान्तिपूर्ण ढंगों द्वारा किया जा सकता है।

(1) वार्ता (Negotiation) - वार्ता का अर्थ है कि विवादग्रस्त पक्षकारों के बीच विचार विमर्श किया जाए और बैठकर उन विवाद पर निर्णय लिया

जाए। राज्य दूसरे ढंगों द्वारा विवादों के निस्तारण से पूर्व वार्ता द्वारा विवाद का निपटारा करने का प्रयास करते हैं। कई अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निस्तारण के लिए यह पहला प्रक्रम माना है। उदाहरण के लिए (N.A.T.O.) की संधि । कई विवाद वार्ता द्वारा निपटाये गये हैं। जैसे भारत तथा पाकिस्तान ने 1976 में अपने विवादों को इस तरीके से निपटाया और फरक्का बाँध विवाद भी 1977 में भारत तथा बांग्लादेश के बीच वार्ता द्वारा निपटाया गया था।

यह विवादों के निपटाने का अच्छा ढंग है क्योंकि पक्षकारों के बीच स्वतंत्र एवं खुलकर बातचीत हो सकती है। यही केवल ऐसा ढंग है जिसमें तीसरे पक्षकार का कोई दखल नहीं हैं फिर, वार्ता गोपनीय रह सकती है।

(2) एण्ड (3) : सत्प्रयत्न (सेवायें) तथा मध्यस्थता (Good Offices & Mediation) - जहाँ पर पक्षकार वार्ता करने के इच्छुक नहीं हैं अथवा वार्ता का प्रभाव निष्प्रभावी रहा है, वहाँ तीसरा राज्य अपने सत्प्रयत्नों के या मध्यस्थता द्वारा उनके बीच विवाद का विपटारा करने में समर्थ हो सकता है। सत्प्रयत्न अथवा मध्यस्थता में तीसरे राज्य का दखल केवल मैत्रीपूर्ण हो सकता है। और वह बाध्यकारी प्रकृति का नहीं होगा।

सत्प्रयत्न तथा मध्यस्थता में अन्तर है। सत्प्रयत्न में तीसरा राज्य विवादी राज्यों को कान्फ्रेस मेज पर बैठाता है कि वे आपस में वार्ता करके विवाद का निपटारा करें परन्तु वह स्वयं वार्ता में भाग नहीं लेगें। उदाहरण के लिए ताशकन्द घोषणा 1966 में सोवियत संघ द्वारा सेवायें प्रदान की गई थी। जिसमें भारत तथा पाकिस्तान के बीच 1965 में हुये युद्ध से उत्पन्न विवादों को निपटारा और बल प्रयोग का परित्याग का निर्णय लिया गया था। मध्यस्थता में मध्यस्थ राज्य, विवादों के राज्यों के बातचीत में प्रभावी ढंग से भाग लेता है।और विवाद के निस्तारण हेतु अपने सुझाव भी देता है। वह उनके बीच समझौता करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

(4) एण्ड (5) जॉच और सुलह (Inquiry and conciliation) - सुलह विवाद के निपटारे की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक आयोग को विवाद निर्दिष्ट किया जाता है कि वह तथ्यों की जांच करके अपने सुझावों

के साथ रिपोर्ट करें ताकि पक्षकार विवाद को हल कर सके। जज मेनली हडसन के अनुसार सुलह, तथ्यों की जांच के उपरान्त विवाद के निपटारे हेतु सुझावों को बनाने की एक प्रक्रिया है और प्रतिविरोधात्मक दावों का समाधान करने का प्रयास है। पक्षकार इन सुझावों को मानने या न मानने लिए स्वतंत्र हैं यह जांच से भिन्न हैं जाँच का मुख्य उद्देश्य है कि सही तथ्यों का पता लगाया जाए ताकि तदनुसार विवाद का निस्तारण किया जा सके। सुलह में आयोग न केवल तथ्यों का पता लगाता हैं बल्कि अपने सुझाव भी देता है ताकि पक्षकार आपस में समझौता कर लें।

सुलह, माध्यस्थम तथा न्यायिक निपटारा से भी भिन्न है। सुलह में आयोग द्वारा विवाद के निस्तारण के लिए दिए गये सुझावों को पालन करने के लिए पक्षकार बाध्य नहीं होते । जबकि विवाचन और न्यायिक निपटारे में दिये गये पंचाट अथवा विनिश्चय से पक्षकार विधिक रूप से बाध्य हैं।

सुलह मध्यस्थता से भिन्न हैं। मध्यस्थता में एक तीसरा राज्य विवादी पक्षकारों के बीच वार्ता करा कर उन्हें समझौता कराने का प्रयास करता है जबकि सुलह में पक्षकार अपने विवाद को आयोग को निर्दिष्ट कर देते हैं ताकि सही तथ्यों को सुनिश्चित किया जाए और विवाद के निपटारे हेतु सुझाव दिये जायें।

हेग-अभिसमय 1899 तथा 1907 में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे में सुलह आयोगों का प्रावधान किया गया था। यह आयोग पक्षकारों के विशेष समझौतों द्वारा गठित किये जा सकते थे। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा की गयी ब्रयान संधियों (Bryan Treaties) 1913 में भी सुलह आयोगों का गठन किया गया था इसका प्रावधान ब्रूसेल संधि 1948 तथा पैक्ट आफ बोगोटा (Pact of Bogota) 1948 में किया गया था। इसका प्रावधान राष्ट्रसंघ के कोवेनैन्ट (Covenant) तथा संयुक्त राष्ट्र चार्टर में भी किया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा की गयी ब्रयान संधियों (Bryan Treaties) 1913 में भी सुलह आयोगों का गठन किया गया था। इसका प्रावधान ब्रूसेल संधि 1948 तथा पैक्ट आफ बोगोटा Pact of Bogota 1948 में किया गया था। इसका प्रावधान राष्ट संघ की प्रसंविदा (Cov-

enant) तथा संयुक्त राष्ट्र चार्टर में भी किया गया है। राज्य सुलह की प्रक्रिया को अधिक महत्व देते है। जैसे कि 1965 के राज्यों तथा अन्य राज्यों के राष्ट्रों के बीच निवेश का निपटारे में प्रावधान किया गया है। (Settlement of Investment Disputes between states and National of other states) इस ढंग की उपयोगिता को मानते हुए महासभा के 18 दिसम्बर 1967 के प्रस्ताव द्वारा सदस्य राज्यों से आग्रह किया था कि सुलह द्वारा शान्ति पूर्ण निपटारे का प्रभावी प्रयोग करें और महासचिव से अनुरोध किया था कि वे इस संबंध में विशेषज्ञों की एक पंजिका तैयार करें ताकि उनका उपयोग विवादों के निर्धारण हेतु किया जा सके। महासचिव द्वारा विशेषज्ञों की एक पंजिका तैयार की गई है। और प्रत्येक वर्ष विशेषज्ञों की सूची सदस्य राज्यों को भेज दी जाती है। राज्य इस सूची से सुलह हेतु विशेषता का आयोग गठित कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से निपटाने की ओर महासभा ने मनीला घोषणा, 1982 में राज्यों का ध्यान पुनः आकर्षित किया है।

6. माध्यस्थम (Arbitration) - मध्यस्थम पक्षकारों द्वारा विवादों के विनिश्चय के लिये उनके द्वारा चुने गये मध्यस्थ को सौपा जाता है। जो कड़ी विधिक आवश्यकताओं से बाध्य हुए बिना पंचाट (Award) देता है। परन्तु राज्यों के व्यवहार से दर्शित होता है कि कई विवाद जो पूर्ण रूप से विधिक प्रश्नों से सम्बन्धित होते हैं उन्हें विधिक आधार पर निपटारा करने हेतु मध्यस्थ को सौंपे गये हैं। कई संधियों में जहाँ यह प्राविधान किया जाता है कि विवाद को माध्यस्थम को सौंपा जायेगा। प्रायः यह निर्देशित किया जाता है कि पंचाट न्यायोचित या साम्य या सुनीति और न्याय के अलावा, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार किया जायेगा।

माध्यस्थम द्वारा विवादों का निपटारा प्राचीन काल से ही प्रचलन में है। आधुनिक काल में 1794 में ग्रेट ब्रिटेन, इंग्लैण्ड और अमरीका के बीच जे (Jay) सन्धि के अन्तर्गत तीन आयोगों को स्थापित किया गया जिसके द्वारा कुछ मतभेदों को सुलझाया जा सके। बाद में इन्हीं राज्यों के बीच 1872 में अलावामा दावा पंचाट (Alawama claims arbitration) द्वारा माध्यस्थम को प्रोत्साहन मिला और तत्पश्चात न्यायाधीश हडसन के

अनुसार करीब एक शतक मामले माध्यस्थ न्यायाधिकरणों (arbitration tribunal) द्वारा निपटाये गये। यह माध्यस्थम के पक्षकार इंग्लैण्ड अमरीका, यूरोप तथा लैटिन अमरीका द्वारा पारस्परिक मतभेदों के निपटारे हेतु किये गये थे। इस सम्बन्ध में हेग सम्मेलन 1899 महत्वपूर्ण है जिसके द्वारा न केवल माध्यस्थम सम्बन्धी विधि का संहिताकरण किया गया था बल्कि स्थायी माध्यस्थम न्यायालय (Permanent court of Arbitration) की हेग में स्थापना की गई थी। इस न्यायालय द्वारा दो दशकों में काफी मामले निपटाये गये और यह एक महत्वपूर्ण न्यायालय था। क्योंकि उस समय कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नहीं बना था। हालांकि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने स्थायी माध्यस्थम न्यायालय को अधिकृत (supersede) नहीं किया परन्तु 1932 के बाद उसको कोई मामला निर्दिष्ट नहीं किया गया। इस न्यायालय द्वारा 20 मामलों में पंचाट दिये गये, यह आज भी विद्यमान है।

माध्यस्थम न्यायालय को न्यायालय कहना उचित न होगा क्योंकि यह न्यायालय नहीं है। केवल पक्षकार को माध्यस्थम द्वारा अपना मामले का निपटारा कराना चाहते हैं तो न्यायाधिकरण के सदस्य माध्यस्थम के पास विशेषज्ञों की सूची से नामांकित कर सकते है। इस न्यायालय के पास न्यायालय के सदस्य राज्य चार व्यक्तियों की सूची भेज देते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विशेषज्ञ होते हैं और जिनकी उच्चतम नैतिक ख्याति हो तथा माध्यस्थम का कार्य करने के लिए सहमति दे। प्रत्येक व्यक्ति छः वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त किया जाता था किन्तु अवधि पूरी होने पर उनकी नियुक्ति पुनः की जा सकती है। यह कहना उचित होगा कि यह न्यायालय एक माध्यम है जिसके द्वारा तदर्थ न्यायाधिकरणों की नियुक्ति की जा सकती है। इसे न्यायालय अथवा स्थायी न्यायालय का नाम देना भ्रामक है।

माध्यस्थम को विवादों के निपटारे के ढंग के रूप में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनु. 33(1) में मान्यता दी गयी है संयुक्त राष्ट्र के अधिकांश विशिष्ट अभिकरणों के विकल्प में माध्यथ्य द्वारा विवाद के निपटारे का प्रावधान करते हैं। वास्तव में न्यायिक निर्णय की तुलना में माध्यस्थम द्वारा विवादों के निस्तारण में कुछ लाभ है। क्योंकि मध्यस्थ को मामले से

संबंधित तकनीकी ज्ञान हो सकता है। इनकी प्रक्रिया तीव्रगामी, अल्पव्ययी तथा सरल होती है।

माध्यस्थम द्वारा विवाद के निस्तारण की बाध्यता इस प्रकार हो सकती है। विवाद को सौंपने से पूर्व के बाद में पक्षकारों की सहमति आवश्यक रूप से प्राप्त की जा सकती है। पक्षकारों के मध्य विवाद उत्पन्न होने के बाद विशेष करार में अभिव्यक्ति हो सकती है। विशेष करार (Special Agreement) को सामान्यतः समझौता कहा जाता है। जिसमें विवाद की विषय वस्तु और प्रयुक्त होने योग्य विधि भी निर्धारित होती हैं। उदाहरण के लिए - भारत और पाकिस्तान के मध्य कच्छ विवाद को माध्यस्थम अधिकरण को निर्दिष्ट किया गया था। विवाद के अस्तित्व में आने से पूर्व भी पक्षकारों की सम्मति प्राप्त की जाती है। उदाहरण के लिए भले ही संधि व्यापार और वाणिज्य के सम्बन्ध में हों उसमें एक खण्ड का प्राविधान किया जाता है इस संधि के सम्बन्ध में भविष्य में कोई मतभेद का माध्यस्थम द्वारा निपटारा किया जायेगा। ऐसी सम्मति उन सामान्य विवाचन सन्धियों में अभिव्यक्ति की जा सकती है जिनके द्वारा पक्षकार अपने मध्य भविष्य विवादों में से सभी या कुछ विशिष्ट प्रकार के माध्यस्थम को सौंपने का वचन देते हैं। राज्य जब विवाचन संधि करते हैं तो वे विवाचकों की नियुक्ति भी करते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि माध्यस्थम द्वारा दिया गया पंचाट पक्षकारों पर बाध्यकारी होता है। परन्तु ऐसा कोई केन्द्रीय प्राधिकारी नही है जो पंचाट का निष्पादन करा सके। अगर एक पक्षकार पंचाट में दिये गये निर्णय को मानने से मना करता है तो दूसरा पक्षकार को यह अधिकार है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत दिये गये बाध्यकारी ढंगों से उसका क्रियान्वयन कराये। परन्तु पूर्व अनुभव से यह प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय प्राधिकरणों द्वारा दिये गये विनिश्चयों के लागू होने पर समस्या नहीं होती। परन्तु राज्य आसानी से विवादों को माध्यस्थम को देने में हिचकिचाते हैं।

पूर्व में यह भी उदाहरण है कि माध्यस्थम द्वारा दिये गये पंचाट के विरूद्ध अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अपील की गई । चेकेस्लोवाकिया तथा हंग्री 1930 में सहमत हो गये कि माध्यस्थम पंचाट की अपील स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में की जाए।

पहले एक माध्यस्थम की नियुक्ति की जाती थी परन्तु वर्तमान में अधिकरण में 3 या 5 सदस्य होते हैं । इनकी नियुक्ति पक्षकार स्वयं करते हैं यदि वे असफल हो जाते हैं तो संधि प्रावधानों के अनुसार अन्तर्गत न्यायालय के अध्यक्ष द्वारा या संयुक्त राष्ट्र के महासचिव द्वारा की जा सकती है। भारत तथा पाकिस्तान के मध्य कच्छ- विवाद का विनिश्चय तीन मध्यस्थलों द्वारा किया जाना था, जब तीसरे मध्यस्थल के नामांकन पर सहमति न हो पायी तो यह तय किया गया कि संयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा नामित व्यक्ति से होगी।

5. **न्यायिक निर्णय (Judicial Settlement)** - इसका तात्पर्य है अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा विवादों का निपटारा । क्योंकि विवादों के निपटारे के लिए पूर्व में केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक ही न्यायालय था। सम्प्रति सागर विधि सन्धि 1982 में सागर संबंधी रिकार्डो के निस्तारण के लिए अभिकरण और मानवाधिकारों और युद्ध अपराधों के विचारण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दंड न्यायालय है जो 2003 से कार्यरत है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना के पूर्व राज्यों के विवाद स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णीत किये जाते थे, इसकी अधिकारिता पक्षकारों की सहमति पर आधारित थी। इसकी स्थापना 1922 में हुई थी। इसमें 1922 से 1945 तक 29 विवादास्पद मामलों का निपटारा किया। इस न्यायालय ने राष्ट्रसंघ (League of Nations) की परिषद (Council) द्वारा प्रस्तुत किए गये 28 मामलों पर सलाहकारी राय भी प्रदान को। 1946 में राष्ट्रसंघ के विघटन के परिणाम स्वरूप यह विघटित कर दी गयी। परन्तु संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्माण हुआ जिसे स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का उत्तराधिकारी न्यायालय माना गया है और उसकी सभी सम्पत्ति आदि का वर्तमान न्यायालय में उत्तराधिकार में लिया है।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, राष्ट्रसंघ (league of Nation) का अंग नहीं था परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र का अंग है। संयुक्तराष्ट्र के चार्टर के अनु. 92 में यह प्रावधान है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्टेट्यूट चार्टर का अभिन्न अंग है। संयुक्तराष्ट के सभी सदस्य स्वतः

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेट्यूट के पक्षकार होंगे। चार्टर का अनु0 93(1) संयुक्त राष्ट्र के गैर सदस्य भी स्टेट्यूट के पक्षकार बन सकते हैं। परन्तु वे सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा लगाई गई शर्तों के अधीन होंगे। (अनु. 93(2))

''न्यायालय का गठन'' (Composition of the Court) - स्टेट्यूट के अनुच्छेद 3(1) के अनुसार न्यायालय के पन्द्रह सदस्य होते हैं जो न्यायाधीश कहलाते हैं। दो न्यायाधीश एक ही राज्य में राष्ट्रीय (National) नहीं हो सकते। न्यायालय के न्यायाधीश महासभा और सुरक्षा परिषद द्वारा स्वतंत्र रूप से निर्वाचित किये जाते हैं। जो अभ्यर्थी महासभा तथा सुरक्षा परिषद में मतों का बहुमत कर लेते हैं वे निर्वाचित माने जाते है। इनकी नियुक्ति नौ वर्ष की अवधि के लिए होती है और एक तिहाई प्रत्येक तीन वर्ष में सेवानिवृत्त होते हैं। परन्तु उन्हें पुर्नर्वाचित किया जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों को ही न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किया जाता है जिनका उच्च नैतिक चरित्र हो और वे ऐसी योग्यता धारण करें जो उनके अपने अपने देशों में उच्चतम न्यायिक पदों पर नियुक्ति के लिए आवश्यक हो या वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि में मान्यता प्राप्त सक्षम, विधि वेत्ता हों (स्टेट्यूट का अनु. 2)। इन योग्यताओं के अतिरिक्त निर्वाचन के समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि न्यायालय अपने सम्पूर्ण स्वरूप में विश्व की प्रमुख सभ्यताओं का और प्रमुख विधिक पद्धतियों का प्रतिनिधित्व करें। इस सिद्धान्त को पालन करने हेतु यह तय हो गया है कि न्यायाधीशों की संख्या भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से की जाए और इसका वितरण क्षेत्रीय आधार पर किया जाये। अतः अफ्रीका से तीन, लैटिन अमेरिका से 2, एशिया से 3, पश्चिमी यूरोप व अन्य राज्यों से 5, और पूर्वी राज्यों से 2 निर्वाचित किए जाते हैं।

न्यायाधीश अपने व्यक्तिगत क्षमता में कार्य करते हैं और वे कोई राजनैतिक या प्रशासनिक कार्य नहीं कर सकता या वृत्तिक (Professional) प्रकृति की किसी अन्य उपजीविका में संलग्न नहीं हो सकता (अनु0 16(1)। न्यायालय का कोई भी सदस्य किसी मामले में अभिकर्ता, परामर्श या अधिवक्ता के रूप में कार्य नहीं कर सकता।

वह ऐसे मामले के निर्णय में भी भाग नहीं ले सकता जिसमें उसने पहले किसी पक्ष की ओर से अभिकर्ता, परामर्शी या अधिवक्ता के रूप में कार्य किया हो। (अनु. 16 व 17)

यदि इन शर्तों का पालन नहीं होता तो ऐसे किसी सदस्य को पदच्युत किया जा सकता है यदि अन्य सदस्यों की यह सर्वसम्मत राय हो कि वह अपेक्षित शर्तें पूरी नहीं करता है। (अनु. 18) लेकिन अभी तक न्यायालय का कोई भी सदस्य पदच्युत नहीं किया गया है।

न्यायालय के कोरम के लिए नौ सदस्यों की संख्या आवश्यक है यदि कोई न्यायाधीश त्यागपत्र दे देता है तो उसके स्थान पर उसी राष्ट्र का दूसरा सदस्य, अपने पूर्ववर्ती सदस्य शेष अवधि तक पद धारण कर सकता है । और उसका चुनाव महासभा तथा सुरक्षा परिषद द्वारा किया जायेगा। स्टेट्यूट के अनु0 21 के अनुसार न्यायालय अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का चुनाव करता है जिसकी अवधि तीन वर्ष होती है वे अवधि के समाप्ति पर पुनः चुने जा सकते हैं।

न्यायालय विशेष मामलों का निपटारा करने के लिए तीन या अधिक न्यायाधीशों वाले अनुपीठ (Chamber) का गठन कर सकता है। संयुक्त राज्य और कैनाडा के बीच मेन की खाड़ी के मामले (Gulf of main Case) में पक्षकारों के अनुरोध को स्वीकार करके पहली बार 15 जनवरी 1982 को विशेष अनुपीठ का गठन किया था। 1993 में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने पर्यावरण सम्बन्धी मामलों के लिए सात सदस्यीय विशेष अनुपीठ का गठन करने का निश्चय किया था। न्यायाधीशों के, अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्टेट्यूट अनु. 31(2) के प्रावधान के अनुसार तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्राविधान है जिन मामलों में किसी पक्षकार का न्यायालय में न्यायाधीश नहीं है, उन मामलों में न्यायालय तदर्थ न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकता है हालांकि यह प्रावधान उचित नहीं है क्योंकि इन विधिक सूत्र के विरूद्ध है कि कोई भी व्यक्ति अपने मामले का स्वयं निर्णायक नहीं हो सकता अतः तदर्थ न्यायाधीश स्वतंत्र नहीं होते।

स्टेट्यूट के अनु. 38 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विवादों का

निस्तारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार करेगी और वादों के निर्णय हेतु निम्नलिखित को लागू करेगी।

(1) सामान्य या विशिष्ट अभिसमय (General or Particular international Convention) जिनमें प्रतिपादित नियमों को संबंधित राज्यों द्वारा नियम माना जाता है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियां (International Custom) सामान्य व्यवहार में विधि के रूप में स्वीकृत साक्ष्य है।

(3) सभ्यराज्यों द्वारा मान्यता प्राप्त विधि के सामान्य सिद्धान्त (General Principle of Law)।

(4) विधि के नियमों को निर्धारित करने के लिए गौण-साधनों (Subsidiary means) के रूप में न्यायिक निर्णय (Judicial decision) एवं विभिन्न राज्यों के महान विधि वेत्ताओं की शिक्षायें (Teaching of the both highly qualified Publicists of the Various Nations) ।

इस उपबन्ध में किसी मामले का विनिश्चय यदि पक्षकार इसके लिए सहमत हैं तो सुनीति और न्याय (ex nequo et bono) के आधार पर निर्णय करने की न्यायालय को शक्ति प्राप्त है।

न्यायालय की अधिकारिता (Jurisdiction of the Court) - न्यायालय की अधिकारिता या मामले परीक्षण के लिए राज्यों की सम्मति होनी चाहिए। जब न्यायालय विवादी पक्षकारों की सम्मति के आधार पर वाद का निर्णय करता है तब न्यायालय की अधिकारिता को प्रतिविरोधात्मक अधिकारिता (Contentious Jurisdiction) स्टेट्यूट के अनु. 36 कहा जाता है।

न्यायालय को उन सभी मामलों में अधिकारिता प्राप्त हो जाती है जो पक्षकार उसे निर्दिष्ट करते हैं। यह सामान्यतः द्विपक्षीय करार जिसे Compromise कहते हैं कि विज्ञप्ति जारी करके की जाती है। हालांकि 1980 के बाद Compromise के स्थान पर अब विशेष (Special agreement) करार को ही प्रयोग किया जा रहा है। जिससे मामला न्यायालय के सामने रखा जाता है। यदि न्यायालय की अधिकारिता के सम्बन्ध में पक्षकारों के बीच विवाद उत्पन्न हो जाता है कि न्यायालय की उस मामले में अधिकारिता

है अथवा नहीं तब इसका निपटारा न्यायालय स्वयं करता है, यदि एक पक्षकार किसी विवाद का एक तरफा न्यायालय के समक्ष पेश कर देता है बिना पूर्व विशेष करार के और यदि दूसरा पक्षकार उस संदर्भ में अपनी सम्मति दे देता है तो उसे पर्याप्त माना जायेगा और न्यायालय को अधिकारिता प्राप्त हो जाती है। यह अधिकारिता या तो पूर्ण होगी या अनिवार्य हो सकती है।

स्वैच्छिक अधिकारिता (Voluntary Jurisdiction)- यदि संधि या अभिसमय के पक्षकार उस दस्तावेज पर यह प्राविधान करते हैं कि उसके अधीन उठे विवाद को न्यायालय को निर्दिष्ट किया जायेगा तो न्यायालय की अधिकारिता स्थापित हो जाती है।ऐसे मामलों में न्यायालय की अधिकारिता के लिए पक्षकारों की सम्मति विवाद होने के पहले से ही प्राप्त हो जाती है। इसे स्वेच्छापूर्ण अधिकारिता कहते हैं। इन मामलों में अधिकारिता न्यायालय को अपने आप प्राप्त हो जाती है।ऐसी कई संधियाँ हैं जिसमें विवादास्पद कार्यवाही को न्यायालय की अधिकारिता दिये जाने का प्रावधान किया गया है। यह संधियाँ द्विपक्षीय और बहुपक्षीय हैं।

तदर्थ अधिकारिता (Adhoc Jurisdiction) - जब पक्षकारों के बीच में विवाद उत्पन्न हो जाता है और उसके बाद पक्षकार सम्मति विशेषकरार (Special agreement) की अधिसूचना द्वारा न्यायालय को अधिकारिता देते हैं। तो इसे तदर्थ अधिकारिता (Adhoc Juriscition) कहा जाता है।

यह सम्मति विवादी पक्षकारों द्वारा स्वयं ली जाती है जैसे हया-दी-ला-टोरे (Hay-De-La-Torre) के बाद में कोलम्बिया (Columbia) बनाम पेरू (Peru) में पक्षकारों ने स्वयं न्यायालय को मामला सौंपा था।यह सम्मति पक्षकारों द्वारा चार्टर के अनु. 36(3) के अनुसार सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर भी दी जा सकती है।उदाहरण के लिए यू. के. (United Kingdom) बनाम अलबानिया (Albania) के मामले में सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर मामले को न्यायालय भेजा गया था। चार्टर के अनु0 36(3) सुरक्षा परिषद की सिफारिश की पक्षकार अपने विवाद को न्यायालय के समक्ष निर्दिष्ट करें स्वयं में न्यायालय को उस विवाद में अधिकारिता प्राप्त

नहीं होती जब तक विवादी पक्षकार उस विवाद को न्यायालय को निर्दिष्ट नहीं करते।

केवल राज्य ही न्यायालय के समक्ष पक्षकार हो सकते हैं परन्तु न्यायालय के स्टेट्यूट के अनु. 34 के अनुसार कोर्ट को यह शक्ति प्राप्त है कि मामलों से संगत कोई सूचना अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से प्राप्त कर सकती है। यह सुझाव समय-समय पर दिये गये हैं कि न्यायालय के स्टेट्यूट में परिवर्तन करके व्यक्तियों, निगमों गैर सरकारी संस्थाओं को भी न्यायालय में विवाद लाने की पहुँच (Λccess) दी जाय में संयुक्त राष्ट्र को राज्य माना गया था। बर्नाडोटे के मामले (1949) आर सी जे रि.174. यहे भी एक युक्तियुक्त सुझाव आया है कि न्यायालय के उन मामलों में भी अधिकारिता दी जाय जो अन्तर्राष्ट्रीय संविदाओं सरकारों तथा बहुराष्ट्रीय निगमों के बीच किए जाते हैं के निर्वहन के सम्बन्ध में हों।

अनिवार्य अधिकारिता (Compusory Jurisdiction) - न्यायालय के स्टेट्यूट के अनु. 36 के अनिवार्य क्षेत्राधिकार का प्राविधान किया गया है इसके अनुसार स्टेट्यूट के राज्य पक्षकार यह घोषणा करने के लिए स्वतंत्र हैं वे उन राज्यों जो स्टेट्यूट के पक्षकार है। और जिन्होने उसी बाध्यता को स्वीकार किया है कि सम्बन्ध में उन सभी विधिक विवादों में न्यायालय की बाध्यता को स्वीकार करते हैं जो किसी संधि के अर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के किसी प्रश्न, किसी ऐसे तथ्य के अस्तित्व जो साबित होने पर अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता को भंग करेगा और या किसी अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता के भंग के लिए की जाने वाली क्षतिपूर्ति की मात्रा या प्रकृति से सम्बन्धित हैं। अतः इस प्रावधान से स्पष्ट है कि राज्यों के लिए न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को मान्यता देना वैकल्पिक (optional) होगा।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेट्यूट में वैकल्पिक खण्ड (optional clause) को कई राज्यों ने घोषणा करके माना था। अतः संयुक्तराष्ट्र को चार्टर के अनु. 36(5) के अधीन प्रावधान किया गया है कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेट्यूट के अधीन जिन राज्यों ने ऐच्छिक खंड को स्वीकार किया था उनको पुनः घोषणा करने की आवश्यकता नहीं

है। और यह माना जाएगा कि वे पक्षकार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के बाध्यकारी अधिकारिता को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार न्यायालय की अनिवार्य अधिकारिता की स्वीकृति के सम्बन्ध में घोषणा को उन राज्यों द्वारा किया गया माना जायेगा जिन्होंने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की अधिकारिता को स्वीकार किया था।

निकारागुआ तथा संयुक्त राज्य अमरीका के बीच मामले में न्यायालय ने 1984 में निर्णय दिया था कि निकारागुआ ने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की अनिवार्य अधिकारिता को 1924 में स्वीकृत किया गया था। अतः उस घोषणा के कारण यह माना गया कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की अनिवार्य अधिकारिता उसे स्वीकार है और पुनः घोषणा करने की आवश्यकता नहीं है।

न्यायालय की अनिवार्य अधिकारिता की धीरे-धीरे राज्यों ने घोषणा की है परन्तु इसकी संख्या काफी अधिक मात्रा में नहीं है। न्यायालय के पक्षकारों की संख्या को देखते हुए यह संख्या बहुत कम है। केवल 62 राज्यों ने ही इसकी घोषणा की है।

भारत ने 1974 में घोषणा करके न्यायालय की अनिवार्य क्षेत्राधिकारी को स्वीकार किया था जिसके द्वारा पूर्व में 1959 में की गई घोषणा को समाप्त कर दिया गया। इस नयी घोषणा में भारत ने कई शर्ते लगाई थी जिसमें प्रमुख पारस्परिकता की शर्त और विवादों जिस पर यह घोषणा लागू नहीं होगी जैसे- उन विवादों में अधिकारिता नहीं होगी जो किसी अन्य ढंग का आसरा लेकर विवाद के पक्षकार से किये जायेंगे। या ऐसे राज्य जो राज्य मण्डल (Common wealth of Nation) का सदस्य हो या ऐसे विवाद जो आंतरिक अधिकारिता के अन्तर्गत आते हैं आदि।

न्यायालय की अनिवार्य अधिकारिता को राज्यों द्वारा वापस लिया जा सकता है। यह वापसी युक्तियुक्त समय बीत जाने पर ही प्रभावी होगी।

सलाहकारी अधिकारिता (Advisory Jurisdiction)- स्ट्टयूट के अनुच्छेद 65 और चार्टर के अनुच्छेद 96 में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने सलाहकारी अधिकारिता का प्रावधान किया गया है। महासभा और सुरक्षा परिषद,

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से किसी विधिक प्रश्न पर सलाहकारी राय देने का अनुरोध कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंग तथा विशिष्ट अभिकरण (Specialised Agencies) अपने क्षेत्र में आने वाले कार्यों से संबंधित मामलों में विधिक प्रश्नों पर सलाहकारी राय देने का अनुरोध कर सकते हैं। यदि वे ऐसा करने के लिए महासभा द्वारा प्राधिकृत कर दिये गये हैं । आर्थिक एवं सामाजिक परिषद, न्याय परिषद् तथा अन्य विशिष्ट अभिकरण महासभा द्वारा प्राधिकृत किए जा चुके हैं। लेकिन यह सभी अंग केवल विधिक प्रश्न पर ही सलाहकारी राय मांग सकते हैं। जो उनके कार्यों के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं । लेकिन महासभा व सुरक्षा परिषद किसी भी विधिक प्रश्न पर सलाहकारी राय मांग सकते हैं । यह राय देने के लिए न्यायालय अपने न्यायिक कार्य का प्रयोग करती है। न्यायालय से सलाहकारी राय देने की शक्ति ऐच्छिक (Discretionary) है, अर्थात वह राय देने को बाध्य नहीं है परन्तु सिद्धान्त न्यायालय ऐसे अनुरोध को इन्कार नहीं करता ।

न्यायालय उन मामलों में इन्कार कर सकता है जहाँ वह समझता है कि उससे गंभीर राजनैतिक विवाद उत्पन्न हो सकते हैं।

न्यायालय उस मामले में भी राय देने से इन्कार कर सकता है जिसमें वह समझता है कि उस मामले में सलाहकारी राय देने की अधिकारिता नहीं हैं।

सलाहकारी राय का आबद्धकर बल नहीं होता। न्यायालय ने शान्ति संधि मामले (1950) में अपने निर्णय में कहा था कि राय केवल सलाहकारी प्रवृत्ति की होती है और उसका कोई बाध्यकारीबल नहीं होता। फिर भी इस राय को प्राधिकारिक माना जाता है क्योंकि यह उच्चतम न्यायिक अधिकारी द्वारा दी जाती है। अतः इसे कई अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने यह प्रावधान करके इनको न्यायिक निर्णय की प्रकृति के समान माना है। इन प्रावधानों के अभाव में भी न्यायिक राय की शक्तिशाली अनुसरणीय महत्व है।

सलाहकारी राय लेने की प्रक्रिया इस प्रकार है कि राय मांगने वाला अंग, न्यायालय को लिखित अनुरोध करता है जिसमें उस प्रश्न का विवरण

देता है जिस पर राय मांगी गयी हो। उस अनुरोध से संबंधित संगत दस्तावेज भी प्रस्तुत किये जाते हैं। यह एक औपचारिक तथा अनिवार्य आवश्यकता है। जिसके द्वारा न्यायालय की सलाहकारी राय मांगी जाती है। तत्पश्चात न्यायालय के रजिस्ट्रार सम्बन्धित पक्षों को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत होने के लिए सूचना भेजता है। वह किसी राज्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को भी सूचना भेजता है जिससे उस मामले के विषय पर विवरण मिल जाये। न्यायालय लिखित अथवा मौखिक कथन ले सकती है। राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से प्रस्तुत लिखित अथवा मौखिक कथन ले सकती है। राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से प्रस्तुत लिखित अथवा मौखिक कथनों के सम्बन्ध में दूसरे राज्यों एवं संगठनों से टिप्पणी मांग सकती है। सलाहकारी राय खुले न्यायालय में दी जाती है (स्टेट्यूट का अनु0 67)। यदि सलाहकारी राय जल्दी देने के लिए अनुरोध किया जाता है तो न्यायालय अपनी प्रक्रिया की समय सीमा को कम कर सकती है। और अपनी राय जल्दी प्रदान कर सकती है। न्यायालय अपने सलाहकारीराय की प्रक्रिया में विधिक परिसीमाओं का पालन करती है। जैसे कि यदि कोई मामला उसके विचाराधीन है तो उस सम्बन्ध में सलाहकारी राय की अधिकारिता को स्वीकार नहीं करेगी क्योंकि इन परिस्थितियों में ऐसा हो जायेगा कि मानों न्यायालय ने मामले में विनिश्चय दे दिया हो।

न्यायालय के विनिश्चय का प्रभाव (Effect of the decision of the Court) - न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम होगा और उसके विरूद्ध अपील नहीं की जा सकती। (अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेट्यूट का अनु. 60)।

न्यायालय का विनिश्चय पक्षकारों के बीच और उस विशिष्ट मामले के बाबत ही आबद्ध कर होगा अन्यथा नहीं। (स्टेट्यूट का अनु. 59) स्टेट्यूट के इन प्रावधानों से स्पष्ट है कि प्रांन्याय (Res Judicata) का सिद्धान्त लागू किया गया है। परन्तु पूर्व निर्णय का सिद्धान्त (Doctrine of Precedent) लागू नहीं किया गया है। न्यायालय अपने पूर्व निर्णय से बाध्य नहीं है।

चार्टर के अनुच्छेद 94(1) में पक्षकार राज्यों ने यह वचन दिया है कि संयुक्त राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य ऐसे प्रत्येक मामले में जिसका वह पक्षकार

है अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निश्चयों का पालन करेगा। यदि कोई विवाद का पक्षकार न्यायालय के विनिश्चय से उत्पन्न बाध्यता को पूरा नहीं करता तो दूसरा पक्षकार सुरक्षा परिषद का आश्रय ले सकता है। और यदि सुरक्षा परिषद आवश्यक समझती है तो निर्णय को प्रभावी करने के लिए सिफारिश कर सकेगी या किये जाने वाले उपाय विनिश्चित कर सकेगी। (अनु. 94(2)) ।

यदि सुरक्षा परिषद् कोई निर्णय लेती है तो सुरक्षा परिषद् द्वारा की गई सिफारिश को पालन करने के लिए बाध्यकारी होगा क्योंकि चार्टर के अनु0 25 में सदस्य राज्यों ने अपनी सहमति दी है कि वे इस चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के विनिश्चयों को स्वीकार करेंगे व उनका पालन करेंगें।

2.3 संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में विवादों का निस्तारण

संयुक्त राष्ट्र ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे हेतु महत्वपूर्ण योगदान निभाया है। चार्टर के उद्देश्यों में यह एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है कि विवाद का शांतिपूर्ण एवं साधनों द्वारा निपटारा किया जाये। चार्टर के अनुच्छेद 2(3) में उपबन्ध किया गया है कि संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांतिपूर्ण साधनों द्वारा करेंगे। इस संबंध में महासभा तथा सुरक्षा परिषद् का विशेष उत्तरदायित्व हो और उनको कतिपय कार्यों को करने के लिए सशक्त किया गया है।

चार्टर के अनुच्छेद 14 के अनुसार महासभा किसी भी ऐसी स्थिति के शान्तिपूर्ण समायोजन के लिए उपायों की सिफारिश कर सकेगी, चाहे उसके उत्पन्न होने का कुछ भी कारण हो, जिसके बारे में वह समझती है कि उससे सार्वजनिक कल्याण और राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का ह्रास होने की संभावना है।

महासभा ने 1975 में संयुक्त राष्ट्र चार्टर पर तथा संगठन की भूमिका को मजबूत बनाने हेतु एक विशिष्ट समिति बनाने का निश्चय किया। यह समिति अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्वक निपटाने का विचारण करती है। समिति ने 1982 में एक घोषणा को प्ररूपित किया जिसे महासभा द्वारा

स्वीकार किया गया। इसे मनीला घोषणा के नाम से प्रसिद्धि हुई। इसमें यह कथित है कि राज्य सदभाव की भावना से अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शीघ्र तथा साम्यापूर्ण निपटारे के लिये वार्ता, जाँच, सुलह, मध्यस्थता, न्यायिक निपटारा, क्षेत्रीय अभिकरणों या व्यवस्थाओं का सत्प्रयत्न या अपनी इच्छा के अन्य शान्तिपूर्ण साधनों का प्रयोग करेंगे।

महासभा द्वारा 1991 में अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने हेतु तथ्य खोजी घोषणा को (Declaration on Fact Finding) स्वीकार किया जिसके द्वारा यह मान्यता दी गयी कि संयुक्त राष्ट्र के तथ्य खोजने के साधनों का प्रयोग और उसके सुधार, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखने और विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के अभिवृद्धि में संयुक्त राष्ट्र की भूमिका के सुदृढ़ करने की भूमिका होगी।

विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे हेतु सुरक्षा परिषद् को विस्तृत शक्ति दी गयी है ताकि वह संयुक्त राष्ट्र की नीतियों को तत्परतापूर्वक और प्रभावपूर्ण कार्रवाई कर निष्पादित कर सके। चार्टर का अध्याय 6 सुरक्षा परिषद द्वारा विवादों का शांतिपूर्ण निपटारा करने के सम्बन्ध में है। अनुच्छेद 33 के अनुसार किसी ऐसे विवाद के पक्षकार जिसके बने रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का अस्तित्व खतरे में पड़ने की संभावना है, सबसे पहले वार्ता, जाँच, माध्यस्थम न्यायायिक निपटारे, क्षेत्रीय अभिकरणों या व्यवस्थाओं अथवा अपनी इच्छानुसार अन्य शान्ति पूर्ण साधनों के द्वारा तय करने का प्रयास करेंगे। यदि सुरक्षा परिषद आवश्यक समझती है तो वह पक्षकारों से अपेक्षा करेगी कि वे ऐसे साधनों से अपने विवादों का निपटारा करें। अनुच्छेद 36 प्राविधान करता है कि सुरक्षा परिषद् अनुच्छेद 33 में निर्दिष्ट प्रकृति के विवाद या नयी प्रकृति की किसी स्थिति के किसी भी प्रक्रम पर समुचित प्रक्रिया या प्रकृति की सिफारिश कर सकती है। सुरक्षा परिषद् यह भी ध्यान से रखेगी कि सामान्यतः विधिक विवाद, पक्षकारों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को निर्दिष्ट किये जाये। (अनुच्छेद 36)।

केवल उन विवादों को छोड़कर जो बिल्कुल विधिक प्रकृति के हैं जिन्हें सामान्यतः विवाचन या न्यायिक निर्धारण हेतु प्रेषित किया जाता है,

शेष विवादों में कौन सा ढंग किसी विवाद के निपटारे हेतु अपनाया जाये, यह विवादी राज्यों के बीच की नीतिगत व समीचीनता का विषय है। कुछ संधियों में यह प्रयास किया गया है कि कौन सा विवाद किस ढंग जैसे विवाचन, न्यायिक निर्धारण, सुलह अथवा अन्य किसी ढंग से निपटाया जायेगा, परन्तु संधियों में इस तरह के पूर्व निर्धारित ढंग देना उचित सिद्ध नहीं हुआ है। कोई भी ढंग समुचित हो सकता है और इसमें जितना लचीलापन होगा, उतना ही शांतिपूर्ण निपटारे की संभावना होगी।

2.4 बाध्यकारी या अवपीड़क उपाय

विवादों के निस्तारण हेतु बाध्यकारी तरीकों में एक राज्य दूसरे राज्य पर दबाव डालता है या बाध्य करता है कि वह विवाद का निस्तारण जैसा वह चाहता है उस प्रकार से करे। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे हेतु युद्ध भी एक उपाय है परन्तु इन बाध्यकारी तरीकों में हम केवल उन्हीं ढंगों पर चर्चा करते हैं जो युद्ध से कम हों। युद्ध और बाध्यकारी तरीकों में अन्तर है -

(1) बाध्यकारी तरीके युद्ध का कृत्य नहीं माने जाते, न ही विवादी राज्यों द्वारा और न ही अन्य राज्यों द्वारा, फलस्वरूप शांति के सम्बन्ध बने रहते हैं और राजनैतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध तथा सन्धियाँ आदि इससे प्रभावित नहीं होती ।

(2) बाध्यकारी उपायों में केवल एक विशिष्ट मात्रा में प्रपीउन किया जाता है जबकि युद्ध के दौरान, युद्धरत देश किसी भी प्रकार का और किसी भी मात्रा में बल प्रयोग कर सकते हैं।

(3) बाध्यकारी तरीकों में यदि दूसरा राज्य विवाद के निस्तारण हेतु वांछित शर्तें मान लेता है तो अपनाये गये बाध्यकारी तरीके को समाप्त करना होगा। परन्तु युद्ध छिड़ जाने पर युद्धरत राज्य युद्ध बन्द करने के लिए बाध्य नहीं होता भले ही दूसरे युद्धरत राज्य उनके द्वारा रखी गई शर्तों को पालन करने के लिए तैयार हो जाता है।

सामान्यतः बाध्यकारी या अवपीड़क उपाय निम्नलिखित हैं -

(1) प्रतिकार (Retorsion) - प्रतिकार का अर्थ यह है कि एक राज्य द्वारा किये गये कार्य के समान दूसरे राज्य द्वारा कार्य प्रतिकाार के रूप में किया जाय। प्रतिकार का उद्देश्य बदला लेना है। जब कोई राज्य दूसरे राज्य के साथ अमैत्रपूर्ण कार्य करता है तो वह राज्य भी बदला लेने के लिए उस प्रकार का उसके साथ अमैत्रीपूर्ण कार्य करता है जो कार्य राज्य द्वारा प्रतिकार में किये जाते हैं वे अवैध नहीं होते। बल्कि ये कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सीमा में आते हैं परन्तु ये कार्य अमैत्रीपूर्ण होते हैं प्रतिकार के रूप में कौन सा कार्य न्यायोचित होगा यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है क्योंकि अमैत्रीपूर्ण कार्य की संक्षिप्त परिभाषा नहीं दी जा सकती।

विवादों में निपटारे के जिन मामलों में प्रतिकार किया जाता है वे इस प्रकार होते हैं। जैसे किसी राज्य में नागरिक के साथ अन्य राज्य अनुचित व्यवहार करता है तो वह राज्य भी उस राज्य के नागरिकों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। जैसे - अधिक सीमा शुल्क लगाना। पासपोर्ट के नियमों को कड़ा कर देना। विदेशी नागरिकों को निष्कासित कर देना राजदूतों को वापस कर देना आदि।

इस प्रकार राज्य दूसरे राज्य के साथ अमैत्रीपूर्ण कार्रवाई करने से डरते है। क्योंकि वे इस बात को जानते हैं कि दूसरा राज्य भी इस प्रकार की कार्रवाई कर सकता है। इस उपाय से विवादों का निस्तारण नहीं होता परन्तु वे रूक जाते हैं।

(2) प्रतिशोध (Reprisal) - प्रतिशोध का अर्थ है यदि एक राज्य दूसरे राज्य के प्रति अवैध कार्य करता है तो दूसरा राज्य भी उस राज्य के साथ अवैध कृत्य कर सकता है, ताकि अतिचारी राज्य को अवैध कार्य करने से रोका जा सके या उसे आगे न कर सके। प्रतिकार में अमैत्रीपूर्ण कार्य के बदले में दूसरा राज्य उस प्रकार का अमैत्रीपूर्ण कर सकता है जबकि प्रतिशोध में अवैध कार्य के बदले में दूसरा राज्य भी अवैध कार्य कर सकता है।

प्रतिशोध किसी भी वस्तु या प्रत्येक वस्तु जो अतिचारी राज्य की है के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। यह न केवल राज्य के विरूद्ध बल्कि

उस राज्य के नागरिकों के विरूद्ध भी लागू किया जा सकता है। जैसे - जलयानों का अधिग्रहण करना, उसके साथ की गई संधियों को निलम्बित करना, उसकी सम्पत्ति अथवा नागरिकों की सम्पत्ति का अधिग्रहण करना शामिल है।

प्रतिशोध सकारात्मक और नकारात्मक दोनों हो सकते हैं। सकारात्मक प्रतिशोध वे कृत्य हैं जो सामान्य परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अवैध माने जाते हैं जैसे दूसरे देश की सम्पत्ति का अधिग्रहण आदि। नकारात्मक प्रतिशोधों के अन्तर्गत उन कृत्यों को करने से इन्कार करना जिसके करने की सामान्य परिस्थिति में बाध्यता होती है। जैसे - संधि की बाध्यता को पूरा न करना अथवा ऋण को वापस न करना।

प्रतिशोध में यह आवश्यक है कि इसके अन्तर्गत किये गये कृत्य समानुपातिक हों।

नौलीला मामले (Naulilaa) - में पुर्तगाल तथा जर्मनी द्वारा 1928 में बनाये गये विशेष विवाचक अधिकरण (Special -arbitral Tribunal) ने निर्णय दिया था कि जर्मनी द्वारा पुर्तगाल के विरूद्ध किया गया प्रतिशोध समानुपातिक नहीं था। इस मामले में जर्मनी ने पुर्तगाल के राज्य क्षेत्र में आक्रमण किया था क्योंकि पुर्तगाल में तीन जर्मन सैनिक मारे गये थे। पुर्तगाल के अनुसार उनकी हत्या जानबूझकर नहीं की गयी थी। बल्कि वह एक आकस्मिक घटना थी जो वास्तव में दुःखद थी। जर्मनी ने बल प्रयोग से पूर्व शांतिपूर्ण निपटारे का भी प्रयास नहीं किया था और बल प्रयोग अपराध के अनुपात में अधिक था।

एक विशिष्ट प्रकार का प्रतिशोध घाटबंदी (Embargo) होता है। Embargo शब्द स्पेनिश है जिसका तात्पर्य निरोध से है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में इसका तकनीकी अर्थ है जिसका तात्पर्य बन्दरगाह में जलयानों का निरोध कर देना व्यापार प्रतिशोध में अपचारी राज्य के जलयान जो अपचारी क्षतिग्रस्त देश के बन्दरगाहों पर उनको रोक देना ताकि अपचारी देश अपने दोषपूर्ण कार्य के लिए क्षतिपूर्ति करें।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के बाध्यकारी उपायों को लागू करने से पहले यह

आवश्यक है कि पहले अपचारी देश अपचारी राज्य के साथ वार्ता कर ली जाए और यदि वार्ता असफल हो तभी कोई कार्रवाई की जाए। यह भी आवश्यक है कि अपचारी देश को युक्तियुक्त समय दिया जाय ताकि वह हानि पूर्ति कर सके।

प्रतिशोध की कार्रवाई उस समय तुरन्त रोक देनी चाहिए जब अपचारी राज्य हानि की पूर्ति कर देता है। यदि व्यक्तियों को गिरफ्तार किया गया है तो उन्हें तुरन्त रिहा कर देना चाहिए। अधिग्रहीत माल तथा जहाजों को वापस कर देना चाहिए।यदि अपचारी राज्य में राष्ट्र क्षेत्र को आधिपत्य में लिया गया है तो उसे तुरन्त खाली कर देना चाहिए और निलम्बित संधियों को पुनः लागू कर देना चाहिए।

(3) शांतिपूर्ण नाकेबंदी (Pacific Blockade) - शांति पूर्ण नाकेबंदी का अर्थ है जब व्यथित राज्य (Aggreived State) द्वारा दोषी राज्य (Guilty State) के तट को जलयानों के प्रवेश तथा निकास को रोकने के उद्देश्य से अवरूद्ध किया जाय। शांतिपूर्ण नाकेबंदी विवादी राज्यों के बीच की जाती है। अन्य राज्य इससे प्रभावित नहीं होते।

1937 में जापान ने चीन के तटों की नाकेबंदी की थी। 1962 में संयुक्त राज्य अमरीका ने क्यूबा की नाकेबंदी की थी परन्तु संयुक्त राज्य द्वारा की गयी नाकाबंदी या घेराबन्दी शांतिपूर्ण नाकाबंदी के परम्परागत रूप से भिन्न थी। इस मामले में नाकाबंदी का उद्देश्य क्यूबा के राज्य क्षेत्र में प्रक्षेपास्त्र अड्डों की स्थापना को रोकने के लिए सोवियत रूस द्वारा क्यूबा को हथियारों तथा उपकरणों को रोकना था। पुनः यूनाइटेड किन्गडम द्वारा अर्जेन्टाइना के तटों की शांतिपूर्ण नाकेबंदी की गयी थी परन्तु इसमें यू. के. ने फाकलैण्ड के पूरे 200 मील के अनन्य आर्थिक क्षेत्र की घेराबन्दी कर दी थी। यह घेराबंदी अर्जेन्टाइना के अतिरिक्त अन्य सभी जलयानों सैनिक अथवा सिविल के प्रति की गयी थी जो अर्जेन्टाइना के द्वारा फाकलैण्ड द्वीप के आधिपत्य के समर्थन में कार्यरत थे। नाकेबंदी को भंग किये जाने पर बल प्रयोग की धमकी दी गयी थी। संयुक्त राज्य ने इस कार्यवाही को संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद 51 के अन्तर्गत आत्मरक्षा के आधार पर कार्यवाही को न्यायोचित बताया।

शांतिपूर्ण नाकाबंदी शांति काल के दौरान की जाती है। और यह इस नाकाबंदी से भिन्न है जो युद्ध के दौरान की जाती है। युद्ध के दौरान नाकाबंदी (Hostile Blockade) में सभी राज्यों के जलयानों के प्रवेश तथा निकास को रोकने के उद्देश्य से नाकाबंदी के उल्लंघन पर युद्ध अवरूद्ध किया जाता है।

शान्तिपूर्ण नाकाबंदी की कुछ आवश्यक अपेक्षायें है -

(1) वार्ता असफल रही हो।

(2) नाकाबंदी को घोषित होना चाहिए और समय व दिनांक अधिसूचित होनी चाहिए।

(3) नाकाबंदी प्रभावित होनी चाहिए । सन 1949 में नेशनलिस्ट चीन की सरकार ने जो फारमोसा में आसीन थी, कम्युनिस्ट सरकार के आधिपत्य में सभी चीन के तटों की नाकाबंदी की घोषणा की थी तो इसे यू.के., संयुक्त राज्य तथा अन्य राज्यों ने मान्यता नहीं दी थी क्योंकि नाकाबंदी प्रभावी नहीं थी।

(4) मध्यक्षेप (Intervention) - जब एक राज्य दूसरे राज्य के मामलों में अधिनायकवादी (dictatorial) हस्तक्षेप करता है कि वह राज्य हस्तक्षेप करने वाले राज्य की इच्छानुसार विवाद का निपटारा करे तो इसे मध्य क्षेप कहते हैं। अधिनायकवादी हस्तक्षेप विवादी राज्य को बाध्य करने के उद्देश्य से किया जाता है कि विवाद का निस्तारण एक विशेष ढंग द्वारा ही किया जाय जैसे मामला विवाचन में देने के लिए बाध्य किया जाय। मध्यक्षेप किसी भी समय किया जा सकता है विवाद होने के समय से मामले के निस्तारण के समय तक।

साधारण रूप में किये गये हस्तक्षेप को मध्यक्षेत्र नहीं कहते क्योंकि ये (forcible) अधिनायकवादी (dictatorial) नहीं होते। उदाहरण के लिये सत्प्रयत्न के लिये सुझाव देना।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद, राज्य अपने विवादों का निपटारा केवल शांतिपूर्ण ढंग से करेंगे । बाध्यकारी उपायों को अपनाने से रोका गया है। बाध्यकारी उपायों को अपनाने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को खतरा

पहुँचाने की संभावना हो सकती है। अतः ऐसे उपायों को प्रतिषिद्ध किया गया है। केवल वहीं उपाय संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के पश्चात अपनाये जा सकते हैं जो शान्ति और सुरक्षा को प्रभावित न करें। यदि संयुक्त राष्ट्र या इसके प्राधिकार से दोषी राज्य के विरूद्ध कार्रवाई की गयी है तो वह सामूहिक कार्रवाई होगी और वह वैध होगी।

2.5 सारांश

राज्यों के बीच विवाद उत्पन्न होते । उसका निस्तारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि में दो प्रकार के उपायों द्वारा किया जाता है जो मैत्रीपूर्ण उपाय तथा बाध्यकारी उपाय है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में अधिकाधिक किया गया है कि सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांतिपूर्ण साधनों से करेंगे।

मैत्रीपूर्ण या शांतिपूर्ण ढंगों में वार्ता, सेवाएं तथा मध्यस्थता,जांच व सुलह, माध्यस्थम तथा न्यायिक निर्णय प्रमुख हैं। जब इन विचारों का निपटारा शांतिपूर्ण ढंगों से नहीं हो पाता, तो विवादग्रस्त देश बाध्यकारी ढंग अपनाते हैं जिनमें प्रतिकार, प्रतिशोध, शांतिपूर्ण नाकेबंदी तथा मध्यक्षेप आता है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा भी विवादों को निस्तारण करने में काफी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। चार्टर के अध्याय 6 में सुरक्षा परिषद द्वारा विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा करने के उपबंध किये गये हैं जिनका प्रयोग यथासमय किया गया है।

2.6 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. J.G. Starke - "Introduction to International Law."
2.. Oppenheim - International Law" Vol. I.
3. Harris - "Cases and Materials on International Law."
4. Brownlie - "Principles of Public International Law."
5. K.C. Joshi - "International Law and Human Rights.".
6. डा. एच. ओ. अग्रवाल - ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि''।

2.7 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. न्यायिक निर्णय द्वारा विवादों के निपटारे की व्याख्या कीजिए।
2. विवादों का निस्तारण विवाचन द्वारा किस प्रकार किया जाता है?
3. जांच और सुलह द्वारा विवादों के निपटारे की विवेचना कीजिए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने के बाध्यकारी उपायों का विवरण दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सलाहकारी अधिकारिता के बारे में टिप्पणी लिखिए।
2. सत्प्रयत्न तथा मध्यस्थता में अन्तर बताइये।
3. विवादों के निपटारे हेतु प्रतिकार किस प्रकार उपयोगी हैं?
4. शांतिपूर्ण नाकेबंदी किस प्रकार की जाती है?
5. सामूहिक हस्तक्षेप क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. विवादों के शांतिपूर्ण निस्तारण के सम्बन्ध में प्राविधान संयुक्तराष्ट्र चार्टर के किस अध्याय में किया गया है -

   (अ) 5 (ब) 6 (स) 7 (द) 8

2. सत्प्रयत्न (good office) में तीसरा राज्य विवादी राज्यों के बीच वार्ता के दौरान -

   (अ) भाग लेता है (ब) भाग नहीं लेता है।

   (स) केवल कुछ विवादों में भाग लेता है। (द) हस्तक्षेप करता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पक्षकार -

   (अ) केवल संयुक्त राष्ट्र के सदस्य ही हो सकते हैं।

(ब) सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा लगाई गई शर्तों के अधीन गैर सदस्य भी हो सकते हैं।

(स) केवल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ही हो सकते हैं।

(द) इनमें से कोई नहीं।

4. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्टेट्यूट के किस अनुच्छेद के अनिवार्य क्षेत्राधिकार का प्राविधान किया गया है -

(अ) 34 (ब) 35 (स) 36 (द) 38

5. मध्यक्षेप (Intervention)

(अ) अधिनायकवादी होता है।

(ब) मैत्रीपूर्ण होता है।

(स) युद्ध होता है।

(द) इनमें से कोई नहीं।

2.8 प्रश्नोत्तर

1. (ब) 2. (ब) 3. (ब) 4. (स) 5. (द) अ

इकाई - 3 : मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 मानव अधिकार की परिभाषा

3.3 मानव अधिकारों का साधारणीकरण

3.4 संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानव अधिकारों के प्रावधान

3.5 मानव अधिकार आयोग

3.6 मानव अधिकार के संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त

3.7 मानव अधिकार की सार्वभौम घोषणा

3.8 घोषणा का विधिक प्रभाव

3.9 मानव अधिकार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदायें

3.10 संविदाओं का मूल्यांकन

3.11 सारांश

3.12 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

3.13 सम्बन्धित प्रश्न

3.14 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में मानव-अधिकारों के बारे में चर्चा की जाएगी। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपः

- मानव अधिकार की अवधारणा के विकास के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- मानव अधिकार की परिभाषा और अर्थ का विवेचन कर सकेंगे,

- मानव अधिकारों के साधारणीकरण की चर्चा कर सकेंगे,
- संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानव अधिकार के प्राविधानों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- मानव अधिकार आयोग की समीक्षा कर सकेंगे,
- मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा का परीक्षण कर सकेंगे,
- सिविल और राजनैतिक अधिकारों की व्याख्या कर सकेंगे,

3.1 प्रस्तावना

मानव अधिकार की अवधारणा मूलतः प्राकृतिक अधिकारों के रूप में मानी जाती थी। भारत में वैदिक काल में भी इनको मान्यता दी गई थी। प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त यह मानते हैं कि मानव को स्वभावतः कुछ अधिकार प्राप्त हैं जिनके बिना उनका अस्तित्व सम्भव नहीं है। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त न्याय तथा नैतिकता के उच्च मूल्यों पर आधारित हैं।

मानव अधिकार की अवधारणा का विकास - प्राचीन काल से ही मानव विधि के सिद्धान्तों का संरक्षण किया जाता रहा है। यूनान के सिटी स्टेट में उनके नागरिकों को भी स्वतंत्रता, विधि के समक्ष समता और न्याय प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया गया था। समान अधिकार रोमन विधि के (Jus Civil) द्वारा रोमन अधिकारियों को सुनिश्चित किया गया था। ग्रीक स्टेट के विलयन के पश्चात स्टॉयक (Stoic Philosophers) दार्शनिकों द्वारा प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों को विकसित किया गया। इन दार्शनिकों की केन्द्र विचार बिन्दु यह थी कि प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त सार्वभौमिक है और विश्व के प्रत्येक प्राणी एवं प्रत्येक स्थान पर लागू है। ये विद्यात्मिक विधि से श्रेष्ठ है।

सिसरो (Cicro) (106-43 B.C.)के अनुसार प्राकृतिक विधि सार्वभौमिक है। इसमें परिर्वतन करना या इसको निरस्त करना या समाप्त करना एक पाप हैं। यह अपरिवर्तनीय है। मध्यकालीन युग में विचारकों ने भी यह मत रखा । जान लाक (John Locke (1632-1704) तथा रूसो (Rousseau 1719-1778) का कथन था सामाजिक सिद्धान्त के आधार पर राज्यों का

निर्माण हुआ है। यदि राज्य इस संविदा की शर्तों को नहीं मानता तो नागरिकों का यह अधिकार है कि उसके लिए विद्रोह करें। इंग्लैण्ड में भी मैगनाकार्टा के अन्तर्गत प्रजा और समुदाय के अधिकारों का संरक्षण करने की बात कही गयी थी और सम्राट ने इनका समर्थन किया था। मैगनाकार्टा की अभिपुष्टि 1628 में अधिकारों की याचिका (Petition of Rights) 1689 में अधिकार पत्र (Bill of Rights) द्वारा की गई थी।

अमरीका में स्वतंत्रता की घोषणा 4 जुलाई 1776 को की गई जिसमें थामस जफरसन (Thomas Jefferson) ने यह घोषणा की कि मानव को उसके निर्माता द्वारा कुछ अन्य असंक्रमणीय (inalienable Rights) अधिकार प्राप्त हैं। जिनमें जीने का अधिकार, स्वतंत्रता आदि सम्मिलित हैं। इसके बाद संयुक्त राज्य के 1787 के संविधान में और तत्पश्चात बाद में किये गये संशोधन में मनुष्य के अधिकारों को शामिल किया गया। जिसमें 1791 के संविधान संशोधन (The Bill of Rights 1791) मुख्य हैं। इसमें यह कहा गया है कि राज्य कोई ऐसी विधि नहीं बनायेगा जिससे बिना विधिक प्रक्रिया के संयुक्त राज्य के नागरिकों के विशेषाधिकार कम हों, और न ही उनको जीने के अधिकार, स्वतंत्रता या सम्पत्ति से वंचित किया जायेगा।

अमरीकन क्रान्ति के आधार पर 1789 में फ्रांसीसी व्यक्ति और नागरिकों के अधिकारों (French Declaration of Rights of Man of the Citizen) की घोषणा की गई। इसमें यह कहा गया कि प्रत्येक मनुष्य को जीने का स्वतंत्रता का, सुख की प्राप्ति करने का प्राकृतिक अधिकार है। सरकार को इसका संरक्षण करना है। अगर वे ऐसा करने में असफल हैं तो उन्हें बने रहने का कोई अधिकार नहीं है। मानव को समान रूप से अधिकार दिये गये हैं या प्राप्त हैं। प्रत्येक मनुष्य को सरकार के बनाने में प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के बिना किसी व्यक्ति को अभियुक्त नहीं बनाया जा सकता है। 'उसको तिरस्कृत या जेल में नहीं भेजा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार है और उसे आवश्यकता के और न्यायोचित क्षतिपूर्ति के बिना सार्वजनिक उससे वंचित नहीं किया जा सकता । प्रभुसत्ता जनता में निहित है। यह फ्रांसीसी (French Proclamation) संविधान में 1791 में संबद्ध कर दी गई।

अमरीकी अधिकार पत्र (American bill of rights) और फ्रांसीसी क्रान्ति (French Revolution) के पूर्व मानव अधिकार की अवधारणा केवल दार्शनिकों द्वारा अपील के रूप में की गई थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में विधि के विध्यात्मक दृष्टिकोण (Positivist Approach) के कारण प्राकृतिक अधिकारों पर ग्रहण सा लग गया था परन्तु औद्योगिक आन्दोलन तथा जीने के प्राकृतिक अधिकार तथा स्वतंत्रता के अधिकार को विस्तृत अर्थों में लेने के कारण सिविल तथा राजनैतिक एवं आर्थिक, सामाजिक, अधिकारों ने नया मोड़ लिया और काफी विस्तार हुआ।

3.2 मानव अधिकार की परिभाषा

मानव को कुछ ऐसे मूल तथा अहरणीय अधिकार प्राप्त रहते हैं जो उसके अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं। ये सभी व्यक्तियों को उपलब्ध होते हैं चाहे वह किसी भी मूल वंश, धर्म, लिंग तथा राष्ट्रीयता का हो। ये प्रत्येक मानव के मौलिक तथा नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। इसके बिना कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। संयुक्त राष्ट्र के महासचिव बुतरस बुतरस घाली के अनुसार मानव अधिकार मानवता को सामान्यतः प्राप्त हैं।

दुर्गा दास बसु के अनुसार मानव अधिकार वे न्यूनतम अधिकार है, जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी अन्य विचारण के मानव परिवार का सदस्य होने के कारण राज्य या अन्य लोक प्राधिकारी के विरूद्ध धारण करता है। (D.D. Basu - Human Rights and Constitutional Law (1994 पृष्ठ 5)।

मानव अधिकार संरक्षा अधिनियम 1993 की धारा 2(1) (क) में मानव अधिकार को इस प्रकार परिभाषित किया गया है। मानव अधिकारों का अर्थ व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, समानता और प्रतिष्ठा से संबंधित उन अधिकारों से है जो संविधान द्वारा प्रत्याभूत हैं अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदों में सम्मिलित है तथा भारत में न्यायालयों के द्वारा प्रवर्तनीय है।

अतः मानव अधिकार ऐसे अधिकार हैं जिसके लिये प्रत्येक व्यक्ति हकदार है और जिन्हें समाज मान्यता देता है और प्रर्वतनीय बनाता है ।इनका मुख्य सार है कि ये अधिकार सार्वभौम हैं और इनके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और प्रतिष्ठा आती है।

3.3 मानव अधिकारों का साधारणीकरण (Universalization of Human Rights)

प्रथम महायुद्ध के पश्चात राष्ट्र संघ (League of Nations) की स्थापना की गयी। परन्तु उसकी प्रसंविदा (Convenant) में किसी प्रकार का मानव अधिकारों की अभिवृद्धि तथा संरक्षण का प्रावधान नहीं किया गया। यद्यपि यह विचारधारा थी कि मानव को मूल अधिकार प्रत्याभूत किये जाये ताकि उसके राज्य द्वारा इनका उल्लंघन न किया जा सके।

सर्वप्रथम मानव के अधिकारों की घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय विधि संस्थान (Institute of International Law) ने 1929 में करके इस दिशा में मार्ग प्रशस्त किया। यह एक प्राइवेट संस्था है जिसके सदस्य अमेरिका, यूरोप तथा एशिया के विधि शास्त्री हैं। संस्थान ने इस सम्बन्ध में राज्य के छः कर्तव्यों का अभिकथन किया-

(1) प्रत्येक व्यक्ति को प्राण, स्वतंता एवं सम्पत्ति के समान अधिकार है। और इनका संरक्षण बिना राष्ट्रीयता, लिंग मूल वंश, भाषा अथवा धर्म के किसी भेदभाव के किया जाये।

(2) प्रत्येक व्यक्ति को इसकी आस्था, धर्म अथवा विश्वास के अधिकार को मान्यता देना।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपनी भाषा के स्वतंत्र प्रयोग और भाषा के शिक्षा के अधिकार की मान्यता देना।

(4) यह मान्यता देना कि लिंग, मूल वंश, भाषा, अथवा धर्म के भेदभाव पर ऐसा कार्य न करें कि इसके राष्ट्रिक आर्थिक क्रियाकलाप, वृत्ति या उद्योग न कर सकें।

(5) यह मान्यता देना कि समानता नाममात्र की न होकर प्रभावी हो।

(6) राज्य अपने नागरिक की राष्ट्रीयता वापस नहीं ले सकता।

भले ही यह घोषणा राज्यों पर बाध्यता का अधिरोपण नहीं करती, परन्तु यह सभी राष्ट्रों के लिये व्यक्तियों के प्रति मानक का अधिकथन करती है। यह मानव अधिकारों के साधारणीकरण के प्रति प्रथम प्रयास माना जा सकता है।

अटलांटिक चार्टर - जब द्वितीय युद्ध चल रहा था तभी मित्र देशों के नेताओं ने आने वाले समय में मानव अधिकार के संरक्षण और विश्व शांति व्यापक रखने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्थापित करने हेतु प्रयास जारी रखा। इसमें संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन रूजवेल्ट अग्रसर हुये और कांग्रेस में 6 जनवरी, 1941 को भविष्य विश्व के लिय चार आवश्यक मानव स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया ।

(1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

(2) धर्म की स्वतंत्रता

(3) अभाव से स्वतंत्रता

(4) भय से स्वतंत्रता

ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल भी मानव अधिकारों तथा रंग भेद की नीतियों से चिन्तित थे। अतः राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा प्रधानमंत्री चर्चिल द्वारा 14 अगस्त, 1941 को अटलांटिक चार्टर जारी किया गया। उसमें विश्व शान्ति स्थापित करने का आश्वासन दिया गया और यह भी आश्वासन दिया गया था कि सभी देशों के सभी मनुष्य भय और अभाव से स्वतंत्र होकर अपना जीवन व्यतीत करेंगे।

अटलांटिक घोषणा का शक्तिशाली प्रभाव पड़ा और 1 जनवरी 1942 को संयुक्त राष्ट्र की घोषणा में अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तों की अभिपुष्टि की गयी। 26 राष्ट्रों द्वारा इस पर हस्ताक्षर किये गये। ओक कान्फ्रेंस 1944 में संयुक्त राष्ट्र का पहला आलेख तैयार किया गया। इसमें यह प्रस्तावित किया गया कि राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण के स्थायी सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि संगठन अन्तर्राष्ट्रीय

आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य मानवीय समस्याओं को हल करने में सहायक हो तथा मानवीय अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं की अभिवृद्धि करें। प्रो. लाटरपैक (Prof. Lauterpacht) द्वारा संयुक्त राष्ट्र द्वारा अपनाए जाने के लिए मानव अधिकारों का आलेख तैयार किया गया ।

अंत में सैन फ्रांसिसको कान्फ्रेंन्स द्वारा संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हेतु 24 जून 1945 को चार्टर अपनाया गया और 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र की स्थापना की गयी। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर द्वारा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था हेतु सामाजिक न्याय तथा मानवीय अधिकारों पर जोर दिया गया। संगठन के मुख्य अंगों महासभा तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने मानवीय अधिकारों के मानकों को निर्धारित करने की भूमिका निभायी है। संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने सैन फ्रांसिसको के समापन भाषण ने कहा था कि "चार्टर मानव अधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं की प्राप्ति एवं प्रेक्षण के प्रति समर्पित है। जब तक हम सभी पुरूष एवं महिलाओं के लिए हर जगह मूल वंश, भाषा, अथवा धर्म पर बिना ध्यान दिये हुए इन उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं कर लेते हैं, विश्व में स्थायी शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

3.4 संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानव अधिकार के प्राविधान (Human Right Provisions under the U.N. Charter)

उद्देशिका (Preamble)- चार्टर की उद्देशिका में यह अभिकथित किया गया है कि संयुक्त राष्ट्र के लोग मूल मानव अधिकारों के प्रति, मानव की गरिमा और महत्व के प्रति, पुरूषों और स्त्रियों तथा बड़े और छोटे राष्ट्रों के समान अधिकारों के प्रति निष्ठा को पुनः अभिपुष्टि करने के लिए दृढ़ निश्चित हैं।

प्रयोजन (Purpose) - चार्टर के प्रयोजन के अनुच्छेद 1(3) में प्राविधान किया गया है कि मूल वंश, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर विभेद किये बिना सभी के लिये मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की अभिवृद्धि करने और उसे प्रोत्साहित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना है।

महासभा और आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् (General Assembly and Economic and Social Council) - संयुक्त राष्ट्र की महासभा तथा आर्थिक और सामाजिक परिषद् को मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताओं में अभिवृद्धि करने का कार्य सौंपा गया है।

अनुच्छेद 13(1) (ख) द्वारा महासभा को मूलवंश, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर विभेद किये बिना सभी के लिए मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं को प्राप्त करने में सहायता करने के प्रयोजन के लिए अध्ययन करने के लिये सशक्त किया गया।

चार्टर छः अध्याय 9 अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक सहयोग के बारे में है।. इसका अनुच्छेद 55 (क) प्रावधान करता है कि संयुक्त राष्ट्र मूलवंश, लिंग, भाषा और धर्म के आधार पर विभेद किये बिना सभी के लिये मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति विश्वव्यापी आदर और उनके पालन की अभिवृद्धि करेगा। अनुच्छेद 56 द्वारा संयुक्त राष्ट्र के सदस्य अनुच्छेद 55 में उपवर्णित प्रयोजनों की पूर्ति के लिये संगठन के सहयोग से संयुक्त या पृथक रुप से कार्यवाही करने की प्रतिज्ञा करते हैं।

अनुच्छेद 62(2) में प्राविधान किया गया है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) सभी व्यक्तियों के लिये मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति आदर बढ़ाने के प्रयोजन और उनके पालन के लिये सिफारिशे कर सकेगी। अनुच्छेद 68 के अन्तर्गत आर्थिक और सामाजिक परिषद् आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में तथा मानव अधिकारों की अभिवृद्धि के लिये आयोग और ऐसे अन्य आयोग स्थापित करेगी जिनकी परिषद् के कृत्यों की पालन करने की आवश्यकता है।

न्यासिता प्रणाली (जो अब अपना मूल उद्देश्य पूरा कर चुकी है।) के मूल उद्देश्यों में से एक मूल उद्देश्य यह है कि मूल वंश, लिंग, भाषा और धर्म के आधार पर बिना भेद भाव के सभी के लिये मानव अधिकारों के प्रति और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति आदर को प्रोत्साहन देना और विश्व के लोगों को एक दूसरे पर आश्रित होने की मान्यता के लिये प्रोत्साहन देना

हैं (अनु. 76 (ग)।

नामीबिया मामले में (ICJ Report 1971)में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने बहुमत द्वारा दिये गये निर्णय में (112) कहा था कि द. अफ्रीका द्वारा नामीबिया में रंगभेद की नीति चार्टर के अन्तर्गत बाध्यताओं के प्रतिकूल है। चार्टर के अन्तर्गत सदस्य राज्यों पर मानव अधिकारों के आदर करने की विधिक बाध्यता है।

3.5 मानव अधिकार आयोग

संयुक्त राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक परिषद् को अनुच्छेद 68 के अन्तर्गत मानव अधिकारों की अभिवृद्धि के लिये आयोगों को स्थापित करने के लिए सशक्त किया है। परिषद ने 1946 में मानव अधिकार आयोग की स्थापना की जिसे महासभा द्वारा 12 फरवरी, 1946 को अनुमोदित किया। प्रारम्भ में आयोग के 18 सदस्य थे। 1990 से इनकी संख्या 53 कर दी गयी है। ये संयुक्त राष्ट्र के सुगम राज्य होते हैं। यह आयोग जिनेवा में प्रत्येक वर्ष मार्च में छः सप्ताह के लिये बैठक करता है। यह आयोग मानव अधिकारों के मामलों में अपने प्रस्ताव, सिफारिशें और अन्वेषण प्रतिवेदन आर्थिक और सामाजिक परिषद् को प्रेषित करता है। परिषद् उसे महासभा को भेजती है।

मानव अधिकार आयोग द्वारा विशिष्ट मानव अधिकारों के संरक्षण हेतु कुछ विशेष उप आयोग भी स्थापित किये हैं। ये हैं विभेद के निवारण और अल्पसंख्यकों के संरक्षण पर उप आयोग (Subcommission for Prevention of Discrimination and Prosecution of Minorities) तथा महिलाओं के प्रस्थिति पर आयोग (Commission on Status of Women).

आयोग ने मानव अधिकारों के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। कई घोषणाओं तथा अभिसमयों के आलेख भी बनाये हैं जिनमें प्रमुख हैं मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा (Universal Declaration of Human Rights), सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों की संविदा (Covenant on Civil and Political Rights) तथा आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा (Convenant of Economic, Social and Cul-

tural Rights) ।

आयोग का ध्यान अब मुख्य रूप से विकास के अधिकार (Rights of Development) तथा समुचित जीवन स्तर के अधिकार (Rights of Adequents Standard of Living) की तरफ गया है। साथ ही दुर्बल समूह के अधिकारों पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है। जैसे अल्पसंख्यक, शिशु और महिलाओं के अधिकार (Rights of Child and Women) देशी लोग (Indigenous People) शरणार्थी (Referes) आदि। मानव अधिकार आयोग को 16 जून 2006 से समाप्त कर दिया गया है और उसका स्थान मानव अधिकार परिषद् ने ले लिया है।

संयुक्त राष्ट्र महासचिव कोफी अन्नान ने 2005 में मानव अधिकार आयोग को मानव अधिकार परिषद् (Human Rights Council) द्वारा प्रतिस्थापित (Replace) करने का प्रस्ताव दिया था। अब यह परिषद् स्थापित हो चुकी है। यह संगठन के अन्दर एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है। यह परिषद मानवाधिकार मामले की उत्तराधिकारी है। यह महासभा की अनुषंगी है। इसमें 47 सदस्य है। जिनका विभाजन संयुक्त राष्ट्र के क्षेत्रीय आधार पर किया गया है। सदस्यों का निर्वाचन प्रथम बार 9 मई 2006 को हुआ और भारत इसमें दो-तिहाई से भी अधिक मतों से निर्वाचित हुआ। इस आयोग का कार्य भी मानव अधिकारों के उल्लंघन को देखना और मानव अधिकार का संरक्षण है।

3.6 मानव अधिकार के संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त (U.N. High Commissioner for Human Rights)

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् ने 1967 में प्रस्ताव रखा कि मानव अधिकार के संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त की स्थापना की जाये जिसे महासभा ने 20 दिसम्बर 1993 में यह उच्च आयुक्त का पद सृजित किया। उच्चायुक्त की नियुक्ति महासचिव द्वारा की जाती है और उसका अनुमोदन महासभा करती है। उच्च आयुक्त की नियुक्ति ऐसे व्यक्ति की की जाती है जो अत्यधिक नैतिक और सत्यनिष्ठ हो, मानव अधिकारों के क्षेत्र में विशेषज्ञ हो तथा विभिन्न संस्कृतियों की समझ रखता हो। नियुक्ति 4 वर्ष के लिए की

जाती है। यह अवर महासचिव (Under General Secretary)की श्रेणी का होता है। उच्चायुक्त का कार्यालय जनेवा में है और इसकी शाखा न्यूयार्क में है। उच्चायुक्त का विशेष उत्तरदायित्व है कि सभी व्यक्तियों द्वारा सभी सिविल, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक अधिकारों के प्रभावी उपयोग में अभिवृद्धि करना और उनका संरक्षण करना। उच्चायुक्त अपनी वार्षिक रिपोर्ट मानव अधिकार परिषद को प्रस्तुत करेगा तथा आर्थिक और सामाजिक परिषद के माध्यम से महासभा को रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। उच्च आयुक्त द्वारा निर्धारित नीतियों का क्रियान्वयन मानव अधिकार केन्द्र (Centre for Human Rights)द्वारा किया जायेगा।

संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार उच्चायुक्त तथा मानवाधिकार केन्द्र को समेकित करके दिनांक 15 सितम्बर 1997 को केवल एक कार्यालय संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार उच्च आयुक्त कार्यालय, बना दिया गया जिसका मुख्य कार्यालय जनेवा में स्थित है। इसका एक कार्यालय न्यूयार्क में तथा विश्व के कई देशों में केन्द्र है। यह कार्यालय (UHCHR) समस्त क्रियाकलाप के लिये उत्तरदायी होता है। अपर कार्यालय मानव अधिकार के बिन्दुओं पर अग्रणी भूमिका निभाता है और अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकार के महत्व पर जोर देता है। कार्यालय मानव अधिकारों के उल्लंघन पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है जिसका अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार होने के कारण उल्लंघन करने वाले राज्य पर जोरदार प्रभाव पड़ता है।

3.7 मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकारों के पत्र का संयुक्त राष्ट्र चार्टर के बनाने के समय विचार आया था परन्तु उस समय उसकी तैयारी नहीं हो पाई थी। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के लागू होने के पश्चात् संयुक्तराष्ट्र के समक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य मानव अधिकारों के बिल के प्रारूप को तैयार करना था। तदनुसार आर्थिक व सामाजिक परिषद् ने मानवाधिकार आयोग को यह बिल तैयार करने को कहा। उस समय दो मत थे। एक मत यह था कि यह बिल घोषणा के रूप में हो, दूसरा मत यह था कि अभिसमय के रूप में हो । इस पर समझौता किया गया और यह निर्णय लिया गया कि दो दस्तावेज तैयार किए जायें एक ऐसे प्रारूप की घोषणा (Declaration) जिसमें

मानवाधिकार के सामान्य सिद्धान्तों का एक प्रारूप तथा दूसरा एक ऐसा प्रारूप जो अभिसमय के रूप में हो और बाध्यकारी विधिक प्रतिबद्धताओं को समाहित करता हो।

घोषणा के प्रारूप की तैयारी प्रारूप समिति द्वारा की गयी थी जिसकी नियुक्ति मानवाधिकार आयोग द्वारा सरकारों की टिप्पणियाँ प्राप्त करने के पश्चात की गई। आयोग ने अपने तृतीय सत्र जून 1948 में घोषणा के प्रारूप को अन्तिम रूप कहकर आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किया। परिषद् ने उसे अंगीकृत किया और महासभा के सामने पेश किया। महासभा ने इसे मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा (Universal Declaration of Human Rights) के नाम से 10 दिसम्बर 1948 को अंगीकार किया। इसे बिना किसी नकारात्मक 48 मतों से स्वीकार किया गया था । आठ राज्य अनुपस्थित थे। क्योंकि घोषणा को दस दिसम्बर को अंगीकार किया गया था। इस कारण सम्पूर्ण विश्व में प्रत्येक वर्ष 10 दिसम्बर को "मानव अधिकार दिवस" (Human Rights Day) के रूप में मनाया जाता है। मानव अधिकार की सार्वभौम घोषणा एक महत्वपूर्ण घटना है। उद्घोषणा में उद्देशिका (Preamble)के अतिरिक्त 30 अनुच्छेद शामिल है।

उद्देशिका (Preamble) - उद्देशिका इस तथ्य की परिसाक्ष्य है कि द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप मानवता के विरूद्ध किए गये अत्याचारों के कारण मानवाधिकार के हनन की पुनरावृत्ति न हो।

घोषणा में वर्णित मानव अधिकार सभी कृत्रियों और सभी राष्ट्रों के लिए समान मानव के रूप में उद्घोषित है। उद्घोषणा में मानव परिवार के सभी सदस्यों की जन्म, जाति, गरिमा तथा समान एवं अहरणीय अधिकारों की मान्यता विश्व में स्वतंत्रता न्याय, और शान्ति का आधार बताया गया है। यह घोषणा सभी राज्यों द्वारा मानव अधिकारों को क्रियान्वयन करने हेतु महत्व को इंगित करती हैं। सार्वभौम घोषणा में सिविल व राजनैतिक अधिकारों के साथ आर्थिक व सामाजिक अधिकारों का भी प्राविधान किया गया है। घोषणा के प्रथम 21 अनुच्छेद सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों से संबद्ध हैं और आगे के 6 अनुच्छेद आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों से सम्बद्ध हैं (अनु. 2-27) अन्तिम तीन अनुच्छेद (अनु. 28-30) सामान्य रूप के हैं।

सिविल और राजनैतिक अधिकार (Civil and Political Rights)

- अनु. 3 से 21 तक उन सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों के सम्बन्ध में प्राविधान किया गया है जिन्हें साधारणतया सम्पूर्ण विश्व में मान्यता दी गयी है। यह निम्नलिखित है -

1. प्राण, स्वतंत्रता और दैहिक सुरक्षा का अधिकार (अनु. 3)
2. दासता तथा अधिसेविता से स्वतंत्रता (अनु. 4)
3. क्रूर या अमानवीय और अपमान जनक व्यवहार या दण्ड के विरूद्ध प्रतिशोध का अधिकार (अनु. 5)
4. विधि के समक्ष, व्यक्ति के रूप में मान्यता का अधिकार (अनु. 6)
5. बिना भेदभाव के विधि के समक्ष समानता और विधि का समान संरक्षण का अधिकार (अनु. 7)
6. राष्ट्रीय अधिकरणों के समक्ष प्रभावी उपचार का अधिकार (अनु. 8)
7. मनमाने ढंग से गिरफ्तारी, निरूद्धि या निर्वासन से स्वतंत्रता (अनु. 9)
8. स्वतंत्र और निष्पक्ष अधिकरण द्वारा निष्पक्ष सार्वजनिक सुनवाई (अनु. 10) का अधिकार।
9. जब तक दोष सिद्ध न हो निर्दोष माने जाने का अधिकार और विधि के भूतलक्षी प्रभाव से स्वतंत्रता। (अनु. 11(1)
10. एकांतता (Privacy), परिवार, घर और पत्र व्यवहार का अधिकार (अनु. 12)
11. राज्य की सीमाओं के भीतर संचालन और निवास की स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 13) (1) और अपने देश को या किसी भी देश को छोड़ने और अपने देश में वापस आने का अधिकार (अनु. 13 (2)
12. यातना के कारण अन्य देशों में आश्रय मांगने और आश्रय के उपयोग करने का अधिकार (अनु. 14)
13. राष्ट्रीयता का अधिकार (अनु. 15)
14. विवाह करने और कुटुम्ब स्थापित करने का अधिकार (अनु. 16)
15. सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार (अनु. 17)

16. विचार, अन्तः करण और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 18)
17. अभिमत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 19)
18. शांतिपूर्ण सम्मेलन और संगम की स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 20)
19. लोक मामलों में सरकार में भागीदार करने का अधिकार (अनु. 21)

आर्थिक और सामाजिक अधिकार (Economic and Social Rights) - घोषणा के अनु. 22 से 28 तक आर्थिक और सामाजिक अधिकार दिये गये हैं जो निम्न प्रकार हैं -

1. सामाजिक सुरक्षा का अधिकार (अनु. 22)
2. कार्य करने और नियोजन के स्वतंत्र चयन का अधिकार (अनु. 23)
3. अवकाश और विश्राम करने का अधिकार (अनु. 24)
   (जिसमें कार्य के घंटों की युक्तियुक्त सीमा तथा वेतन के साथ अवकाश भी सम्मिलित हैं)
4. अपने और अपने कुटुम्ब के स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त जीवन स्तर का अधिकार (अनु. 25)
5. शिक्षा का अधिकार (अनु. 26)
6. सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार (अनु. 27)
7. सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अधिकार (अनु. 28)

घोषणा के अनु. 29 में इन अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं पर परिसीमायें अभिकथित की गई है। प्रत्येक व्यक्ति का उस समुदाय के प्रति कर्तव्य भी है, जिसमें उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हुआ है। यह अधिकार समाज में नैतिकता, लोक व्यवस्था और साधारण कल्याण की न्यायोचित उपेक्षाओं को पूरा करने के प्रयोजन के लिए विधि द्वारा निर्बन्धन अधिरोपित किये जा सकते हैं। अतः घोषणा में उपबन्धित अधिकार आत्यन्तिक (absolute)नहीं है।

3.8 घोषणा का विधिक प्रभाव

घोषणा अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय नहीं है और न ही अन्तर्राष्ट्रीय करार। अतः यह स्पष्ट है कि इसके प्राविधान राज्यों पर बाध्यकारी नहीं है। इसलिए

यह राज्यों पर घोषणा के प्राविधानों को लागू करने के लिए कोई विधिक बाध्यता अधिरोपित नहीं करता। अतः घोषणा विधिक बाध्यकारी लिखत नहीं है। फिर भी घोषणा का विस्तृत , नैतिक, परिधि है। इसे संयुक्तराष्ट्र के चार्टर में दिये गये मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रताओं के निर्वाचन हेतु प्रयोग में लाया जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा इसे घोषणा में प्रयोग किया गया है । कई राष्ट्रीय संविधानों में विधायनों में तथा न्यायिक विनिश्चयों में, इस घोषणा को निर्दिष्ट किया है। यह सभी व्यक्तियों व राष्ट्रों के लिए सामान्य मानक के रूप में माने गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों में प्रसंविदाओं में इसका उल्लेख किया गया है।

भारतीय न्यायपालिका द्वारा संविधान के निर्वचन हेतु घोषणा के उपबन्धों को इंगित किया है। उच्चतम न्यायालय ने चेयरमैन रेलवे बोर्ड बनाम चन्द्रिमादास (AIR 2000 SC 986) में यह कहा कि मानव अधिकार की सार्वजनिक घोषणा में दिये गये प्राविधानों को संविधान के भाग - ।।। में गारन्टीकृत किया है। अब यह सामान्य रूप से माना गया है कि यह घोषणा रूढ़िगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भाग बन चुकी है।

3.9 मानव अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदायें (International Covenants of Human Rights)

संयुक्त राष्ट्र बनने के बाद यह प्रथम कार्य था कि मानव अधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं की अभिवृद्धि और संरक्षण किया जाये। यह कार्य महासभा द्वारा आर्थिक और सामाजिक परिषद् को सौंपा गया कि वह इन अधिकारों के बारे में एक अन्तर्राष्ट्रीय बिल तैयार करें। परन्तु प्रारम्भ में यह मतभेद था कि यह बिल घोषणा के रूप में हो अथवा प्रसंविदा के रूप में अतः इस बात पर समझौता हुआ कि इसे दो भागों में किया जाय। पहले भाग में इसे घोषणा का रूप दिया जाय जिसमें अन्तर्गत मानव अधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय मानक निर्धारित किए जायें। जिसका केवल नैतिक बल हो और राज्य उसे स्वेच्छा से स्वीकार करे। दूसरे भाग में इसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा का रूप दिया जाए जिसके प्राविधान राज्यों पर बाध्यकारी हों।

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा 1948 के अंगीकृत करने के बाद

मानवाधिकार विधिम बाध्यकारी प्रसंविदा के प्रारूप का कार्य प्रारम्भ किया। इस बीच कई नए राज्य स्वतंत्र हुए और संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनें। जिनका उपनिवेशिक शक्तियों द्वारा शोषण किया गया था, उन्होंने आर्थिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक अधिकारों की भी मांग की। उनका कथन था कि इनके बिना सिविल और राजनैतिक अधिकार आशयहीन होंगे।अतः महासभा, आर्थिक और सामाजिक परिषद ने मानवाधिकार पर एक प्रसंविदा के स्थान पर दो प्रसंविदाओं को तैयार करने का निर्णय किया।

पन्द्रह वर्षों के विचार विमर्श के उपरान्त मानवाधिकार आयोग द्वारा तैयार किये गये दो प्रसंविदाओं के प्रारूप महासभा ने 16 दिसम्बर 1966 को अंगीकार किये। वांछित अनुसमर्थन राज्य पक्षकारों द्वारा प्राप्त करने के बाद ये प्रसंविदायें 1976 में लागू हो गई । पहले आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार की प्रसंविदा 3 जनवरी 1976 को लागू की और बाद में सिविल और राजनैतिक अधिकारों की प्रसंविदा 23 मार्च 1976 को लागू की। सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों के दो वैकल्पिक नयाचार (Optional Protocol) भी अंगीकृत (adopt) किये। भारत ने भी 1976 में इन प्रसंविदाओं का अनुसमर्थन कर लिया है।

आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रसंविदा - इसकी उद्देशिका के अतिरिक्त 31 अनुच्छेद है। इन्हें पांच भागों में विभाजित किया गया है।

भाग - 1 व्यक्तियों के आत्मनिर्णय के सम्बन्ध में प्राविधान करता है।

भाग - 2 प्रसंविदा के अधीन प्रत्येक राज्य पक्षकार व्यक्तिगत रूप से और अन्तर्राष्ट्रीय सहायता व सहयोग के माध्यम से प्रसंविदा में मान्य अधिकारों की सम्पूर्ण प्राप्ति के लिए स्वयं कदम उठाने के लिए वचन देते हैं।

भाग - 3 में व्यक्तियों के अन्य अधिकारों का उल्लेख किया गया है। जिसमें निम्नलिखित शामिल है -

1. कार्य करने का अधिकार (अनु. 6)
2. कार्य की न्यायोचित तथा अनुकूल स्थितियों का अधिकार जिसमें उचित मजदूरी, समान कार्य के लिए समान वेतन, विश्राम समान अवसर युक्तियुक्त काम के घंटे शामिल है।
3. श्रम संघ निर्मित करने और उसमें शामिल होने का अधिकार (अनु.

8)

4. सामाजिक सुरक्षा का अधिकार (अनु. 9)
5. मातृत्व तथा बाल्यावस्था, विवाह तथा कुटुम्ब से सम्बन्धित अधिकार (अनु. 10)
6. पर्याप्त भोजन, कपड़ा, निवास स्थान तथा जीवन स्तर का अधिकार और भूख से स्वतंत्रता का अधिकार (अनु. 11)
7. शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का अधिकार (अनु 12)
8. शिक्षा का अधिकार जिसमें अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के क्रियान्वित करने की योजना भी शामिल है (अनु. 13-14)
9. विज्ञान एवं संस्कृति से संबंधित अधिकार (अनु. 15)

भाग- 4 में इन अधिकारों की प्रगति के बारे में पक्षकारों द्वारा संयुक्तराष्ट्र महासचिव को प्रतिवेदन भेजने का उल्लेख किया गया है। इन रिपोर्टो के आधार पर संयुक्त राष्ट्र, विशेष रूप से आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा आगे की जाने वाली कार्यवाही के उपबन्ध भी किये गये हैं। इस सम्बन्ध में प्रसंविदा के प्राविधानों को क्रियान्वयन करने हेतु आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा समितियाँ (Committee) भी गठित की गई हैं।

भाग - 5 में हस्ताक्षर, अनुसमर्थन और स्वीकृति के बारे में उल्लेख किया गया है।

राज्य पक्षकारों की प्रसंविदा के अन्तर्गत बाध्यता है कि वह समय समय पर महासचिव को प्रतिवेदन भेजे जिसे वह आर्थिक एवं सामाजिक परिषद को प्रेषित करेगा। प्रतिवेदनों पर परिषद द्वारा उनके द्वारा बनाई गयी कमेटी द्वारा, विशिष्ट अभिकरण (Specialized Agency)तथा महासभा द्वारा विचार किया जाएगा। इन रिपोर्टो में पक्षकार राज्य यह प्रेषित करते हैं कि प्रसंविदा के अन्तर्गत कहां तक अधिकारों का क्रियान्वयन किया जा सका है।

सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों की प्रसंविदा (Covenant on Civil and Political Rights) - इस प्रसंविदा में 53 अनुच्छेद हैं। और इसे छः भागों में विभाजित किया गया है। भाग 1, 2 और 3 में विभिन्न अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया गया है । अन्य तीन भागों में इनके प्रभावी क्रियान्वयन की प्रक्रिया बताई गई है।

भाग - 1 में आत्मनिर्णय के अधिकार का उल्लेख किया गया है।

भाग - 2 में प्राविधान किया गया है कि राज्य अपनी राष्ट्रीय विधि में प्रसंविदा के प्राविधानों का समावेश करने के लिए आवश्यक कदम उठायेंगे और सभी सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों को पुरूषों एवं महिलाओं को समान रूप से उपलब्ध करायेंगें।

भाग - 3 में सिविल और राजनैतिक अधिकारों का प्राविधान किया गया है। जैसे प्राण का अधिकार (अनु. 6) अमानवीय या अपमानजनक व्वहार से स्वतंत्रता (अनु. 7) दासता, अधिसेविता (Servitudes) और बलातश्रम (Forced Labours) से स्वतंत्रता (अनु. 8) स्वतंत्रता और सुरक्षा का अधिकार (अनु. 9), अन्य देशीय को मनमाने ढंग से निष्कासन पर किये (अनु.13), निष्पक्ष विचारण (Fair Trial) का अधिकार (अनु.14) दण्ड विधि के भूतलक्षी रूप से लागू न होने का उपबंध (अनु.15), विधि के समक्ष व्यक्ति के रूप में मान्यता का अधिकार (अनु.16), एकांतता, परिवार, घर या पत्र व्यवहार का अधिकार (अनु.17) विचार, अंतः करण और धर्म की स्वतंत्रता (अनु.18) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनु. 19) शांतिपूर्ण सम्मेलन का अधिकार और सम्मेलन की स्वतंत्रता (अनु.21 व 22), विवाह करने और कुटुम्ब स्थापित करने का अधिकार और शिशु के अधिकार (अनु. 24), लोक मामलों में भाग लेने, मत देने व चुने जाने का अधिकार (अनु. 25), विधि के समक्ष समता (अनु. 26) अल्पसंख्यकों का अधिकार (अनु. 27)

प्रसंविदा में उक्त अधिकार आत्यंतिक नहीं है। इनकी परिसीमाओं का वर्णन किया गया है। इन पर निर्बन्धन विधि द्वारा लगाये जा सकते हैं। जो राष्ट्रीय सुरक्षा, लोक व्यवस्था, लोक स्वास्थ्य और नैतिकता या अन्य अधिकारों के संरक्षण के लिए आवश्यक हो। राज्य पक्षकारों को प्रसंविदा के अन्तर्गत सिविल व राजनैतिक अधिकारों को प्रभावी करने हेतु अपने प्रतिवेदन अनुच्छेद 40 के अन्तर्गत महासचिव को देने होंगे। जिसे वह मानव अधिकार कमेटी को प्रेषित करेगा।

अनु. 28 के अन्तर्गत मानव अधिकार कमेटी को स्थापित करने का प्राविधान है। इसके 18 सदस्य होते है। इसके सदस्य ऐसे व्यक्ति चुने जाते हैं जो उच्च नैतिक चरित्र के हों और मानव अधिकार के क्षेत्र में सक्षम हों। चुनाव करते समय भौगोलिक विवरण का ध्यान दिया जाता है और विभिन्न

सभ्यताओं और प्रमुख विधि प्रणालियों का प्रतिनिधित्व किया जाता है यह कमेटी आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के माध्यम से आर्थिक रिपोर्ट महासभा को भेजती है।

इस प्रसंविदा के पहले नयाचार (First Protocol) (जो 1976 से लागू है।) के अधीन कोई व्यक्ति , मानव अधिकारों के उल्लंघन के लिए मानव अधिकार कमेटी को शिकायत भेज सकता है। यह शिकायत कमेटी द्वारा सम्बद्ध राज्य को भेजी जायेगी और उससे उत्तर प्राप्त होने पर अपने निष्कर्ष देगी और अपनी सिफारिशों के साथ पक्षकार राज्यों को अपने विचार भेजेगी।

प्रसंविदा का दूसरा नयाचार (Second Protocol)- जो 1991 से लागू है जो मृत्युदंड के समाप्त करने से सम्बन्धित है। यह नयाचार उन पर बाध्यकारी है जिन्होंने इस पर स्वीकृति दी है। भारत में मृत्युदंड समाप्त नहीं किया है, हालांकि न्यायपालिका ने इस दण्ड को विरल से विरल मामलों में देने के लिए कहा है।

3.10 संविदाओं का मूल्यांकन

उपर्युक्त दोनों संविदाओं का लागू होना एक महान उपलब्धि है। संयुक्तराष्ट्र चार्टर में वर्णित मानव अधिकारों को प्रोत्साहन देने का यह एक सार्थक प्रयास है। यह दोनों, संविदायें अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों का गठन करते हैं । यह संधियां होने के कारण राज्य पक्षकारों पर बाध्यकारी हैं। इनमें अधिकारों का विस्तृत विवरण तो है ही साथ ही साथ क्रियान्वयन के उपबन्ध भी किये गये हैं। मानवाधिकार आयोग (अब यह मानवाधिकार परिषद) बन चुकी है। तथा मानवाधिकार कमेटी इन अधिकारों के क्रियान्वयन की मशीनरी है। प्रथम नयाचार में व्यक्ति को मानवाधिकार के उल्लंघन का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शिकायत करने का अधिकार है। यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय दंड न्यायालय की तरह एक अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार न्यायालय की स्थापना की जायेगी।

मुख्य मानवाधिकार, अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार प्राविधान तथा भारतीय प्राविधान के सम्बन्ध में सारिणी -

मानवाधिकार	अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार प्रावधान	भारतीय प्रावधान
(1) जीवन का अधिकार (Right to life)	(क) मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के अनु. 3 में घोषित है कि,"प्रत्येक को जीवन स्वतंत्रता और व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार है।" (ख) सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्र-संविदा (Covenant)के अनु. 6(1)में कहा गया है कि, "प्रत्येक मानवप्राणी को जीवन का अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार कानून द्वारा संरक्षित किया जायेगा। किसी को भी मनमाने तरीके से उसके जीने से वंचित नहीं किया जाएगा"।	भारतीय संविधान के अनु. 21 में प्रावधान है कि किसी व्यक्ति को विधि के द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा अन्य किसी प्रकार से उसके जीवन (Life) या व्यक्तिगत स्वाधीनता (Personal Liberty) से वंचित नहीं किया जायेगा।
(2) स्वाधीनता का अधिकार (Right to Liberty)	सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय करार के अनु. 9(1) के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति को स्वधीनता (liberty)और सुरक्षा का अधिकार है। किसी को मनमानी गिरफ्तारी या निरोध के अधीन नहीं किया जायेगा। किसी को भी विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के सिवाय व बिना आधार	भारतीय संविधान के अनु. 21 में प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वाधीनता (Personal Liberty) को संरक्षित किया गया है। अनुच्छेद 22(1) के अनुसार किसी गिरफ्तार व्यक्ति को गिरफ्तारी के कारणों से यथाशीघ्र अवगत कराये बिना अभिरक्षा में निरूद्ध नहीं रखा जायेगा

	के उसकी स्वाधीनता से वंचित नहीं किया जायेगा।''	व अपनी रूचि के विधि व्यवसायी से परामर्श करने व प्रतिरक्षा कराने के अधिकार से वंचित नहीं रखा जायेगा। अनुच्छेद 22(2) के अनुसार गिरफ्तार व्यक्ति को 24 घंटे की अवधि में निकटतम मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किया जायेगा।
(3) समानता का अधिकार (Right of Equality)	(क) मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के अनु. 1 के अनुसार सभी मानव प्राणी गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से स्वतंत्र और समान जन्में हैं। अनु. 2 के अनुसार सभी व्यक्तियों को बिना किसी भी प्रकार भेदभाव के इस घोषणा में निहित सभी अधिकारों और स्वतंत्रताओं को प्राप्त करने का हक है। अनु.7 के अनुसार कानून के समक्ष सब समान हैं और सभी बिना भेदभाव के कानूनी सुरक्षा के अधिकारी हैं। अनु.21(2) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश की सरकारी नौकरियों को प्राप्त करने का समान अधिकार है। अनु.23(2) घोषित करता है	भारतीय संविधान के अनु. 14 में वर्णित है कि राज्य, किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समानता से या विधि के समान सरंक्षण से वंचित नहीं करेगा। अनु.15 में उपबंध है कि राज्य, किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, स्थान के आधार पर कोई भेद नहीं करेगा।

	कि प्रत्येक व्यक्ति को समान कार्य के लिए समान मजदूरी बिना भेदभाव के पाने का अधिकार है।	
	(ख) सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनु. 3 में उपबंध हैं कि इस प्रसंविदा के राज्य पक्ष यह सुनिश्चित करेंगे कि प्रसंविदा में दिये गये सभी अधिकारों का लाभ उठाने के लिए पुरूषों व स्त्रियों को समान अधिकार होंगे। अनु.14(1) के अनुसार सभी व्यक्ति न्यायालयों और न्यायाधिकरणों के समक्ष समान होंगे।	अनु. 16(1) के अनुसार राज्य के अधीन किसी पद पर राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी। इसी प्रकार समानता के सिद्धान्त को व्यवहार में लागू करने के लिए अनु. 17 के द्वारा अस्पृश्यता (Untouchability) का अंत कर दिया गया है।
(4) अवैध गिरफतारी के विरूद्ध अधिकार (Right against illegal arrest)	(क) मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के अनु. 9 के अनुसार किसी को भी मनमाने (Arbitrary) ढंग से गिरफ्तार नजरबंद या देशनिष्कासित न किया जायेगा।	(क) भारतीय संविधान के अनु.22(1) व (2) में अवैध निरोध को प्रतिबंधित किया गया है।
	(ख) सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनुच्छेद 9(1) के अनुसार किसी को मनमानी गिरफ्तार या निरोध के अधीन नहीं किया जायेगा।	(ख) दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 41 के अनुसार से (झ) के मामलों के सिवाय पुलिस अधिकारी किसी व्यक्ति को बिना वारंट गिरफ्तार नहीं कर सकता है।

		धारा 56 के अनुसार बिना
	अनुच्छेद 9(2) में उपबंधित	वारंट गिरफ्तार किये गये
	है कि प्रत्येक को गिरफ्तार	व्यक्ति को बिना विलम्ब के
	किये जाने पर, गिरफ्तारी के	मजिस्ट्रेट या पुलिस थाने
	समय ही ऐसी गिरफ्तारी के	लाया जायेगा।
	कारण व अभियोग की	
	जानकारी दी जायेगी।	धारा 57 के अनुसार
		गिरफ्तार व्यक्ति को 24
	अनु. 9(5) के अनुसार	घंटे से अधिक निरूद्ध नहीं
	प्रत्येक व्यक्ति जो विधि	रखा जा सकता है। धारा
	विरूद्ध गिरफ्तारी या निरोध	58 के अनुसार पुलिस द्वारा
	का पीड़ित है उसे क्षतिपूर्ति	बिना वारंट गिरफ्तार किये
	का प्रवर्तनीय अधिकार होगा।	गये व्यक्तियों की सूचना
		जिला मजिस्ट्रेट को दी जायेगी
(5) दोहरी सजा का	सिविल और राजनैतिक	(क) संविधान के अनु.20
निषेध (Double	अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय	(2) के अनुसार कोई व्यक्ति
Jeopardy)	प्रसंविदा किसी व्यक्ति को	एक ही अपराध के लिए
	उस अपराध के लिए दुबारा	एक बार से ज्यादा अभि-
	विचारित (Tried)या दंडित	योजित (Prosecuted)
	(Punished) नहीं किया	और दंडित (Punished)
	जायेगा,जिसके लिए वह	नहीं किया जाएगा।
	पहले ही विधि द्वारा दोष	
	मुक्त या दोषसिद्ध हो चुका है।	
		(ख)दंड प्रक्रिया संहिता
		(Cr.P.C.) की धारा
		300 (1) के अनुसार जिस
		व्यक्ति का किसी अपराध
		के लिए सक्षम न्यायालय
		द्वारा एक बार विचारण किया
		जा चुका है और जो दोष

		सिद्धि या दोषमुक्त किया जा चुका है, उसे ऐसी दोष सिद्धि लागू रहने तक उसी अपराध के लिए पुनः विचारित नहीं किया जा सकता है।
(6) उपचार का अधिकार (Right to Remedies)	(क) सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनु. 2(3) के अनुसार इस प्रसंविदा का प्रत्येक राज्य पक्ष यह सुनिश्चित करेगा कि किसी अधिकार व स्वतंत्रता का हनन होने पर प्रत्येक व्यक्ति को उपचार (Remedy) प्राप्त हो। राज्य यह सुनिश्चत करेगा कि जो व्यक्ति ऐसे उपचार का दावा कर रहा हो, उसका निर्धारण सक्षम प्राधिकरण (Authority)द्वारा हो।	भारतीय संविधान में संवैधानिक उपचारों (Constitutional remedies) का अधिकार अनु. 32 व 226 में वर्णित है। उच्चतम न्यायालय व उच्च न्यायालय मूल अधिकारों को लागू करने के लिए निर्देश, आदेश या रिट जारी कर सकते है। कोई भी नागरिक मूल अधिकारों की रक्षा हेतु अनु. 32 के तहत उच्चतम न्यायालय में व अनु. 226 के तहत उच्च न्यायालय में याचिका कर सकता है।
	(ख) आर्थिक सामाजिक व सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनु. 2 (1) में उपबंध किया गया है कि प्रत्येक राज्य पक्ष इस	

	प्रसंविदा में बताये अधिकारों को पूर्ण वास्तविकता प्रदान करने के लिए अपने अधिकतम संसाधनों द्वारा कदम उठायेगा। विशेष रूप से वैधानिक उपाय लागू करना भी शामिल होगा।	
(7) अभिव्यक्ति का अधिकार (Right to expression)	सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनु. 18(1) के अनुसार प्रत्येक को विचार अंतःकरण और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार होगा। अनु. 19(2) के अनुसार प्रत्येक को अभि-व्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार होगा। इस अधिकार में सभी प्रकार की सूचना व विचारों को मांगने, प्राप्त करने व विश्लेषण करने की स्वतंत्रता शामिल होगी।	भारतीय संविधान के अनु. 19(1) (क) के अनुसार सभी नागरिकों को वाक् स्वतंत्रता और अभि-व्यक्ति-स्वतंत्रता का अधिकार होगा।
(8) सम्मेलन का अधिकार (Right to Assemble)	सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदा के अनु. 21 मे शांतिपूर्ण सम्मेलन (Assembly) के अधिकार को मान्यता दी गई है।	भारतीय संविधान के अनु. 19(1) (ख) के अनुसार सभी नागरिकों को शांति-पूर्ण और निरायुध सम्मेलन (Assembly) का अधिकार होगा। अनु. 19(1) (ग) के अनुसार सभी को संगम

अनु. 22(1) के अनुसार प्रत्येक को अन्य व्यक्तियों के साथ संगम (Asso-ciation) बनाने की स्वतंत्रता होगी। इसमें ट्रेड यूनियन बनाने का अधिकार भी शामिल है।	(Association) और संघ बनाने का अधिकार होगा।

3.11 सारांश

मानव अधिकार की अवधारणा प्राकृतिक अधिकारों के रूप में मानी जाती है। जो यह मानते हैं कि मानव को कुछ अधिकार प्राप्त है। जिनके बिना उनका अस्तित्व सम्भव नहीं है। यह न्याय और नैतिकता के उच्च मूल्यों पर आधारित है। मानव अधिकारों की मान्यता तो प्राचीन काल से ही दी गयी थी, परन्तु इसका आधुनिक स्वरूप अमेरिकन विज आफ राइट्स 1791 तथा व्यक्ति और नागरिकों के अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा से प्राप्त हुआ। मानव अधिकारों को कई राज्यों के संविधानों तथा अधिनियमों में अन्तर्निहित किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में मानव अधिकार के उपबन्ध संयुक्त चार्टर की उद्देशिका, प्रयोजन, अनुच्छेद 13(1)(ख), 55(क), 62(2), तथा 68 तथा 76 (ग) में किया गया है।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के तुरन्त बाद मानव अधिकार आयोग का गठन किया गया । आयोग ने मानव अधिकारों के में सराहनीय कार्य किया। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा 1948, सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों की संविदा 1966 तथा आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की संविदा, 1966 आयोग के कार्य का ही परिणाम है। यद्यपि मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा बाध्यकारी संधि नहीं है परन्तु कई राष्ट्रीय संविधानों, विधायनों तथा न्यायिक निश्चियों में इस घोषणा को निर्दिष्ट किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों में इसका उल्लेख किया गया है। अब 1966 में पारित (1) आर्थिक , सामाजिक, एवं सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा तथा (2) सिविल व राजनैतिक की प्रसंविदा

1976 से लागू की गयी है। ये प्रसंविदाएं बाध्यकारी हैं । इनके प्रावधानों को भारत के संविधान में भी अन्तर्निहित किया गया है।

3.12 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. J.G. Starke - "Introduction to International Law."
2. Harris - "Cases and Materials on International Law."
3. Brownlie - "Principles of Public International Law."
4. K.C. Joshi - "International Law and Human Rights.".
5. डा. एच. ओ. अग्रवाल - "अन्तर्राष्ट्रीय विधि"।

3.13 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मानव अधिकार की अवधारणा के विकास के बारे में उल्लेख कीजिए।
2. मानव अधिकारों की घोषणा 1948 की व्याख्या कीजिए।
3. आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा के उपबन्धों की चर्चा कीजिए।
4. सिविल तथा राजनैतिक अधिकारों की प्रसंविदा पर एक टिप्पणी लिखिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मानव अधिकार की परिभाषा दीजिये।
2. संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत मानव अधिकार के कौन से उपबन्ध किये गये हैं?
3. मानव अधिकार के संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त की भूमिका बताइये।
4. भारत में संविधान में मानव अधिकार के उपबन्ध मुख्यतः किन भागों में किये गये हैं?
5. मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की उद्देशिका का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मानव अधिकार जिन अन्य नामों से जाना जाता है वे है -

(अ) आधारभूत अधिकार (ब) मूल अधिकार

(स) प्राकृतिक अधिकार (द) उपयुक्त सभी

2. अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की संख्या थी -

(अ) 18 (ब) 36

(स) 56 (द) 54

3. मानव अधिकार की सार्वभौमिक घोषणा की गयी थी -

(अ) 24 अक्टूबर 1945

(ब) 10 दिसम्बर 1948

(स) 26 जनवरी 1950

(द) 26 जून 1976

4. आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा लागू हुई थी -

(अ) 16 दिसम्बर 1966

(ब) 3 जनवरी 1976

(स) 10 जनवरी 1976

(द) 5 दिसम्बर 1979

5. भारत ने मानवाधिकार प्रसंविदाओं का -

(अ) अनुसमर्थन किया है।

(ब) अनुसमर्थन नहीं किया है।

(स) अनुसमर्थन के लिए विचार कर रहा है।

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

3.14 प्रश्नोत्तर

1. (द)
2. (स)
3. (ब)
4. (ब)
5. (अ)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खण्ड

4

युद्ध के नियम

इकाई- 1 5
युद्ध के नियम

इकाई- 2 31
स्थल युद्ध के नियम

इकाई- 3 52
युद्ध बन्दी

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

परिमापक

प्रो0 जी0 के0 चन्दानी	लखनऊ विश्वविद्यालय

सम्पादक

प्रो0 एस0 एम0 सईद	अवकाश प्राप्त प्रो0 लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक

प्रो0 बी0 के0 तिवारी	राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खण्ड-4 : खण्ड परिचय - युद्ध के नियम

मानव जाति की सभ्यता के इतिहास को युद्धों के पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। इस तरह युद्ध और मानव सभ्यता का विकास क्रम एक समानान्तर प्रक्रिया में चलता है। यह तथ्य की निर्विवाद है कि प्राचीन काल में ही युद्धों को राजाओं, अथवा राज्यों के मध्य सशस्त्र संघर्ष के रूप में न सिर्फ मान्य किया जाता रहा है बल्कि प्रायः इनका यशगान भी किया जाता है। प्राचीन भारतीय महाकाव्यों में तो इन्हें धर्म युद्ध के रूप में वर्णित किया गया है। निसंदेह अकस्मात कतिपय तत्व चिन्तकों द्वारा युद्ध की निन्दा भी समय-समय पर की जाती रही है। युद्ध को वैधानिक अथवा अवैधानिक कहकर निर्धारित करने की परंपरा की साफ दिखाई पड़ती है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत युद्ध के नियमों का सर्व प्रथम निर्धारित करने का काम ह्यूगो ग्रोशियस द्वारा किया गया था जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जन्मदाता भी कहा जाता है। पर युद्ध के नियमों का वास्तव में विकास 19वीं सदी के उत्तरार्ध तथा बीसवीं सदी में ही हुआ। इस काल में हुए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संधियाँ घोषणाएं तथा समझौते युद्ध के संबंध में इसके विविध पक्षों पर नियम निर्माण करते रहे। इन्हीं समझौतों में से एक पेरिस का समझौता (1928) तो राज्यों द्वारा युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नति के एक उपकरण के रूप में परित्याग करने के उद्देश्य से किया गया था, संयुक्त राष्ट्र चार्टर अपने प्रस्तावना, उद्देश्यों तथा अन्य कई अध्यायों में राज्यों द्वारा अपने विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से निपटाने की बात करता है तथा युद्ध को अमान्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के रूप में देखता है, परन्तु हकीकत के 20वीं सदी के युद्धों का न सिर्फ एक लंबा इतिहास है बल्कि युद्ध की भीषणता, इसकी विभीषिका से अपार जन्य धन की क्षति तथा इसके अन्य कुपरिणामों को भी दर्शाता है, इसी कारण से युद्ध के संबंध में नियम निर्माण के अनवरत प्रयास इस सदी में देखे जो सकते हैं। इस खण्ड में इन्हीं विषयों को समझाने का प्रयास किया जा रहा है।

इकाई - 1 : युद्ध के नियम

इकाई परिचय

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरांत हमें युद्ध प्रारंभ होने के कारण युद्धों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत परिभाषित किये जाने शत्रु 'चरित्रता का निर्धारण करने' युद्ध के समान्य तथा विशिष्ट प्रभाव तथा युद्ध समाप्ति के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा नियमों की जानकारी हो सकेगी।

उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों, इनके छिड़ने तथा परिणामों और उन परिस्थितियों का अध्ययन करना है, जो युद्धों की समाप्ति के कारण बनती है।

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित विषयों से परिचित हो सकेंगे।

- अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत युद्ध तथा युद्ध जैसी परिस्थितियाँ
- वैध तथा अवैध युद्ध
- वे परिस्थितियाँ जो युद्ध का जन्म देती है
- युद्ध के सामान्य प्रभाव
- युद्ध के विशेष प्रभाव, तथा
- युद्ध की समाप्ति

युद्ध की परिभाषा

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है युद्ध दो राष्ट्रों के बीच सशस्त्र हिंसात्मक संघर्ष होता है तथा युद्ध का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करने हेतु एक बाध्यकारी उपाय, जो प्रायः अंतिम उपाय भी समझा जाता है के रूप में किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय विधि विशेषज्ञ युद्ध को जिस रूप में

परिभाषित करते हैं उससे युद्ध के कानूनी चरित्र तथा इसके प्रभावों को समझने में मदद मिलती है। अतः कतिपय परिभाषाओं को जानना आवश्यक है, **हॉल के अनुसार** - जब दो राज्यों के बीच संबंध इस स्थिति पर पहुँच जाते हैं कि दोनों को शक्ति बल का सहारा लेना पड़ता है अथवा कोई एक हिंसा की कार्यवाही करता है जिसे कि दूसरा शांति का उल्लंघन कहता है तो युद्ध का संबंध स्थापित हो जाता है जिसमें लड़ाकू सेनाओं द्वारा परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग किया जाता है और यह तब तक चलता रहता है जब तक कि किसी एक पक्ष को ऐसी शर्तें स्वीकार करने हेतु बाध्य नहीं कर लिया जाता जिन्हें कि दूसरा (शुत्र) पक्ष मनवाना चाहता है, **स्टार्क** युद्ध को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि ''युद्ध अपने सर्वाधिक सामानय रूप में समझे जाने वाले अर्थ में दो या अधिक राज्यों के बीच का वह संघर्ष है जो मूलतः उनकी सशस्त्र सेनाओं द्वारा लड़ा जाता है, युद्धरत राज्यों का अंतिम उद्देश्य अपने शत्रु का उन्मूलन कर उके ऊपर अपनी शांति की शर्तें आरोपित करना है'', **ओपेनहाइम** के अनुसार ''युद्ध का प्रमुख उद्देश्य शत्रु का दमन कर उसके ऊपर अपनी शर्तों को आरोपित करना होता है''।

युद्ध की प्राचीन परिभाषाऐं युद्ध को परस्पर दो शत्रु राज्यों की सेनाओं के मध्य संघर्ष के रूप में देखती थी परन्तु आधुनिक समय में युद्धों को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध का प्रभाव युद्धरत राज्यों को सामान्य नागरिकों तथा उन क्षेत्रों पर भी पड़ता है जिन्हें युद्ध क्षेत्र नहीं कहा जा सकता है, इस बात का सबसे बड़ा उदाहरण द्वितीय युद्ध में हिरोशिमा तथा नागासाकी में गिराये परमाणु बम हैं इस परमाणु बमों द्वारा पहुँचायी गयी क्षति अभूत पूर्व थी पर इस कृत्य ने मानव जाति को यह सोचने हेतु विवश भी किया कि ऐसे आयुद्धों का युद्ध में प्रयोग कितना संहारक हो सकता है और आने वाले वर्षो में परमाणु बम हासिल करने की राज्यों के मध्य प्रतिस्पर्धा के चलते इन आयुद्धों के युद्धों में न किये जाने हेतु प्रयास भी तीव्र हो गये। परमाणु शास्त्रों, के विकास व प्रसार के बावजूद इनका प्रयोग 1945 के बाद नहीं किया जा सका यह मानव जाति व विश्वशान्ति हेतु एक सुखद घटना है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात युद्धों की तकनीक के अंत में जो प्रगति देखी गई है

उसने योद्धाओं तथा गैर योद्धाओं के मध्य भेड़ को बहुत सीमित कर दिया है ओपेनहाइम इसके लिए पाँच कारणों को महत्पूर्ण मानते हैं ये हैं :-

(i) योद्धाओं की संख्या में वृद्धि

(ii) युद्ध की तैयारी में लगे और योद्धाओं की संख्या में वृद्धि

(iii) वायु युद्ध का विकास

(iv) युद्ध में अपनाये जाने वाले आर्थिक उपाय (जो प्रायः आर्थिक दण्डात्मक उपाय होते हैं)

(v) सम्पूर्ण युद्ध /समग्र युद्ध का आविर्भाव ओपेनहाइम का मानना है कि भले ही इन कारणों से आज परंपरागत (प्राचीन) व नवीन युद्धों के मध्य का अंतर धुंधला हो गया हो और युद्ध के नियमों में संशोधन की आवश्यकता बलवत हो गई हो तथापि इस मूलभूत नियम में कोई असर नहीं पड़ा है कि युद्ध काल में गैर योद्धाओं तथा नागरिक आबादी को प्रत्यक्ष आक्रमण की वस्तु नहीं बनाया जा सकता।

गैर युद्धीय सशस्त्र संघर्ष

जैसा कि ऊपर है इस शब्दावली का आशय ही यह है कि युद्ध न होते हुए भी सशस्त्र संघर्ष मौजूद रहता है, यह अपने आप में विरोधाभासी है पर यह वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास ने जहाँ युद्ध की घोषणा तथा युद्ध काल में युद्ध के नियमों के प्रति सम्मान का दायित्व राज्यों के ऊपर आरोपित कर दिया है वहीं इससे बचने के उद्देश्य से राज्य युद्ध की औपचारिक घोषणा करने के बचते हैं पर सशस्त्र संघर्ष में लिप्त रहते हैं 1945 के पश्चात् इसके अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं। इस संघर्ष में लार्ड मैक्नाटन ने टिप्पणी की थी कि "अन्तराष्ट्रीय विधि या तो एक युद्ध की स्थिति या एक शांति की अवस्था को जानती है इनके मध्य वह किसी अन्य दशा को नहीं पहचानती", अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों तथा विधि के विकास में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की महत्वपूर्ण भूमिका है परन्तु युद्ध तथा शांति के मध्य की यह स्थिति इन संगठनों के लिए भी एक विषम स्थिति को पैदा कर देते हैं। स्वाभाविक है कि उनमें परिस्थिति

में परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कौन सा नियम लागू होगा इसका निर्णय करना कठिन है, यही वजह है कि इन परिस्थितियों को सीमित युद्ध' के रूप में परिभाषित करने का विचार जन्मा ताकि इनको भी युद्ध के नियमों की बाध्यता की परिधि में लाया जा सके अथवा इनके लिए नये कानूनों को विकसित किया जा सके। सीमित युद्ध उन परिस्थितियों को दर्शाता है जहाँ संघर्ष की स्थिति युद्ध में परिणत नही होती तथा जो क्रमशः अपने प्रयोग के क्षेत्र, इसमें प्रयुक्त शस्त्रों तथा इसके निशाने (Targets) के संदर्भ में सीमित होता है, ऐसी परिस्थितियों को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बड़े पैमाने पर अनुभव किया जा चुका है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि विशेषज्ञ इस नवीन परिदृश्य हेतु एक नये सीमित युद्ध के नियमों को विकसिकत करने हेतु बाध्य हो गये हैं। यही वह वजह है कि युद्ध के नियमों को संशोधित करने की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी है।

स्टार्क द्वारा ऐसे युद्धों को गैर युद्धीय सशस्त्र संघर्ष करने हेतु निम्नलिखित कारण बताये हैंः

(i) ऐसे संघर्षों में संलग्न राष्ट्र अपने आप को अंतर्राष्ट्रीय संधियों से उत्पन्न होने वाले दायित्वों से मुक्त रखने तथा युद्ध के नियमों का उल्लंघन करने के अपराध से बचने का प्रयास करते हैं, उदाहरण स्वरूप 1928 की पेरिस की संधि (जिसे केलाँग ब्रिया पैक्ट भी कहा जाता है) जिसके अन्तर्गत राज्यों ने अपनी राष्ट्रीय नीति के एक उपकरण के रूप में युद्ध के परिणाम का वचन लिया था।

(ii) राष्ट्रों की इच्छा यह भी रहती है कि युद्ध यथा संभव स्थानीय रहे और सामान्य युद्ध का रूप व धारण कर पाये।

(iii) राष्ट्रों की इच्छा यह भी रहती है कि युद्ध यथासंभव स्थनीय रहे और सामान्य युद्ध का रूप न धारण कर पाये।

ऐसे संघर्षों के बारे में कुछ बातें गौर करने योग्य हैं जैसे कि अधिकांश राज्य युद्ध के कतिपय नियमों जैसे कि जेनेवा रोड क्रास सम्मेलनों का अनुपालन करते हैं पर ध्यान देने की बात यह भी है कि ऐसे संघर्ष अपनी

परिस्थतियों के कारण भिन्न-भिन्न होते हैं अतः इन पर लागू होने नियमों के व्यवहार में भी भिन्नता होती है, परन्तु यदि ऐसे संघर्षों के बारे में सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद चार्टर के अनुच्छेद 39 के तहत कोई निर्णय करे या संस्तुतियां पारित करे तो यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्थानापन्न हो जाते हैं।

जाहिर है कि युद्ध की शैली मे आये बदलाव युद्ध के नियमों में बदलाव व सशोधन की आवश्यकता की मांग कहते है, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश डा0 नागेन्द्र सिंह ने भी यह मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार युद्ध के तरीको में बदलाव हो गया है और युद्ध में प्रयोग होने वाले शस्त्रों में बदलाव आ गया है ये शस्त्र कहीं भयावह व जनसंहारक हो गये है अतः नियमों में बदलाव जरूरी है, युद्ध के नियमों में संशोधन की आवश्यकता के विषय में निम्नलिखित कारणों को आधारभूत माना जा सकता हैः

(i) सम्पूर्ण युद्ध (Total war) की अवधारणा का विकास

(ii) विश्व समुदाय का फैलाव जिसका आशय यह है कि आज विश्व समुदाय में शामिल स्वतंत्र संप्रभु राष्ट्रों की संख्या बहुत अधिक हो गई है।

(iii) मानवाधिकारों के विषय में बढ़ती हुई भिन्नताऐं तथा विकास

(iv) युद्ध काल में मानवाधिकारों को लागू किये जाने की आवश्यकता

(v) युद्ध की भयावहता से नागरिक आबादी को संरक्षित करने की आवश्यकता

(vi) युद्ध के नियमों का संहिताकरण काफी समय पूर्व का है जबकि वर्तमान समय की परिस्थितियाँ मौजूद नहीं थी, जोसेफ कुंज सदृश न्यायविद तो यहाँ तक मानते हैं कि युद्ध के नियम एक अराजक स्थिति में पहुँच गये हैं अतः तत्काल इनके संशोधन की आवश्यकता है।

परन्तु विचारणीय विषय यह भी है कि आज विश्व व्यवस्था के नियमन, विश्वशांति की स्थापना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास हेतु एक विश्व संस्था राष्ट्र मौजूद है और इस संस्था का चार्टर युद्ध शक्ति प्रयोग, शक्ति प्रयोग की धमकी जैसे साधनों के प्रयोग की मनाही करता है, स्वाभाविक है कि

यदि युद्ध के नियमों के बदलाव की अपेक्षा विश्व व्यवस्था के इसे साँचे में करना गाड़ी को पीछे ले जाने जैसा होगा।

युद्ध का वैधिक नियमन (Legal Regulation of war)

बीसवीं सदी के विकास पथ को बहुआयामी संदर्भों में देखा जाना चाहिए,युद्ध के कानूनों का नियमन इनमें से एक हैं, युद्ध के संबंध में किन्ही नियमों के अभाव में युद्ध को राज्य अपना स्वाभाविक कार्य तथा राज्य संप्रभुता का विशेषाधिकार मानने के युद्ध आत्म सहायता का एक यंत्र समझा जाता था जिसके माध्यम से राज्य अपने दावों को हासिल कर सकते थे। क्योंकि कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधायी संस्था की अतः युद्ध ही बदलती परिस्थितियों में कानून को अंगीकार करने का कार्य कर लेते थे साधारण शब्दों में युद्ध राज्यों का अधिकार का परन्तु हेग सम्मेलनों (1899 तथा 1907) तथा उसके पश्चात् विकसित अन्तर्राष्ट्रीय निवादों के शांतिपूर्ण समाधान के आंदोलनों ने युद्ध के बारे में इन मान्यताओं को बुनियादी रूप में बदल दिया परिणाम स्वरूप न सिर्फ युद्ध के अधिकार पर सीमारों आरोपित हुई बल्कि युद्ध को गैर कानूनों मानने की मुहिम प्रारंभ हो गई। इस दिशा में किये गये प्रयासों में उल्लेखनीय हैः

हेग सम्मेलन (1899 तथा 1907); राष्ट्र सघ की संविदा (1929); पारस्परिक सहायता, संधि (1923); जेनेवा प्रोटोकोल (1924); लोकार्नो संधि (1925); पेरिस की संधि, (1928), और संयुक्त राष्ट्र चार्टर (1945); जहाँ में संधियां या समझौते युद्ध के नियमों को उल्लिखित कर नियमबद्ध कर रहे थे वहीं इनमें से तीन संधियाँ क्रमशः राष्ट्र संघ प्रसंविदा, पेरिस की संधि तथा संयुक्त राष्ट्र चार्टर को स्वीकारने वाली संधियां युद्ध को राज्यों के पारस्परिक व्यवहार से पृथक करने का उद्देश्य रखती हैं। इस संबंधों में इन संधियों के प्रावधानों पर एक दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

राष्ट्र संघ प्रसंविदा के अनु0 12 से 16 राज्यों के युद्ध का सहारा [illegible] के अधिकार को प्रतिबंधित करते हैं, इनमें उल्लिखित है कि युद्ध में जाने [illegible] राज्य को अपने विवादों का समाधान पंच निर्णय या न्यायिक

समाझान या अन्य शांतिपूर्ण उपायों से करने का प्रयास करना चाहिए यदि इन तरीकों से समाधान न हो तो भी राज्य तीन माह तक युद्ध का सहारा नहीं ले सकते थे, युद्ध में जाने वाले राज्य को राष्ट्र संघ का शत्रु माना जायेगा।

पेरिस की संधि (1928) द्वारा राज्यों ने यह वचन लिया कि वे अपनी राष्ट्रीय नीति के एक अंग के तहत युद्ध का परित्याग करते हैं, इसी के साथ इस संधि में यह भी प्राविधित किया गया कि किसी भी प्रकृति के सभी विवादों या संघर्षों जो राज्यों के मध्य उत्पन्न होंगे, का समाधान शांतिपूर्ण उपायों से ही किया जायेगा अन्यथा नहीं, यह संधि इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रसंघ के बाहार किये गये शांति प्रयासों में से यह एक प्रयास का अतः राष्ट्र संघ की समाप्ति के साथ इसकी समाप्ति नहीं हुई, इसकी महत्ता इस कारण से भी है कि यह संयुक्त राष्ट्र के प्रावधानों के पूर्णतः अनुरूप होने के कारण यह आज भी अपनी सार्थकता व सामर्थ्य को बनाए हुए हैं, इस संधि द्वारा युद्ध को सिर्फ एक परिस्थिति में अपनाये जाने की अनुमति दी गई और वह परिस्थिति है आत्म रक्षा, इस संधि को कमियों को भी प्रकाश में लाने के प्रयास किये गये यह कहा गया कि इस संधि में युद्ध से भिन्न शक्ति प्रयोग की मनाही नहीं है साथ ही इस संधि का अनुपालन न करने की स्थिति में किसी पक्षवार के ऊपर क्या अनुशास्तियाँ होंगी और किसके द्वारा आरोपित की जा सकेंगी यह भी स्पष्ट नहीं हैं। पर जैसा कि ओपेनहाइम का मानना है कि जहाँ तक विधि का प्रश्न है पेरिस की संधि में कोई भी करवायी नहीं है यह पर्याप्त विस्तृत संधि है इस संधि की अवहेलना करने का भय सामान्यता इसे लागू करने में नहीं है बल्कि राज्यों द्वारा इसकी अवहेलना करने से है, संधि के तहत युद्ध को कानूनी उपचार के रूप में न तो प्रयोग किया जा सकता है और न ही कानून को बदलने के एक उपाय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

ओपेनहाईम का यह भी मानना है कि पेरिस का समझौते अपनी प्रकृति से स्थायी है तता इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यवस्था की सरंचना में एक परिवर्तन लाना था इस अर्थ में इसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण मील के पत्थर की तरह देखा जाना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना (1945) में साथ युद्ध के वैक्तिक नियमन न. सिर्फ संगठित हो गये वरन् इन्होंने अपने विशोबिन्दु को प्राप्त कर लिया। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में वे प्राविधान जो राज्यों को युद्ध का सहारा लेंने से प्रतिबंधित करते हैं और युद्ध का निसेध करते हैं निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है:

(i) चार्टर की प्रस्तावना में कहा गया है कि "सामान्य हित के अलावा किसी परिस्थिति में सैन्य बल का प्रयोग नहीं किया जायेगा।"

(ii) अनुच्छेद 2 में उल्लिखित है कि "यह संयुक्त राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि राज्य अपने विवादों को शांतिपूर्वक निपटायेंगे" इसी अनुच्छेद में आगे कहा गया है कि सभी सदस्य राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में दूसरे राज्य की क्षेत्रीय अखंडता तथा राष्ट्रीय संप्रभुता का सम्मान करते हुए शक्ति प्रयोग की धमकी अथवा शक्ति के प्रयोग से बचेंगे, साथ ही सदस्य राज्य संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों की अनदेखी नही करेंगे। इस तरह इस अनुच्छेद का क्षेत्र बहुत विस्तृत है।

(iii) चार्टर के अध्याय iv में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के तरीकों को बताया गया है जिनमें संधि वार्ता, पंचनिर्णय, मध्यस्थता, संराधन, न्यायिक समाधान तथा अधिनिर्णय या अन्य कोई शांतिपूर्ण उपायों की बात कही गई हैं।

(iv) चार्टर के अध्याय vii में सुरक्षा परिषद को यह शक्ति प्रदान की गई है कि किसी आक्रामक राज्य अथवा शांति करने वाले राज्य के विरुद्ध यह सामूहिक कार्यवाही (collective security action) उठा सकती है, संयुक्त राष्ट्र की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर यह युद्ध को पूर्णतः निषिद्ध करता है और राज्य युद्ध का सहारा सिर्फ संयुक्त राष्ट्र चार्टर में प्रावधानों के तहत ही ले सकते हैं। चार्टर द्वारा सामान्यतः युद्ध, शक्ति मय का शक्ति प्रयोग को निषिद्ध गया है।

इस संबंध में ओपेनहाईम की टिप्पणी बहुत महत्वपूर्ण हैं, उन्होंने कहा

है कि "यह चार्टर पेरिस पैक्ट से भी आगे इस अर्थ में चला जाता है कि इसके तहत सदस्य राज्य युद्ध का परित्याग करते हैं (व्यक्तिगत का सामूहिक सुरक्षा की परिस्थितियों को छोड़कर) तथा बल प्रयोग की धमकी या इसके प्रयोग से भी बचते हैं। पेरिस पैक्ट से भिन्न चार्टर द्वारा राज्यों के ऊपर एक सकारात्मक दायित्व सौंपा गया है कि वे सुरक्षा परिषद के आदेशों, निर्देशों आदि का अनुपालन करेंगे।"

स्पष्ट है कि आधुनिक समय में युद्ध के वैधिक नियमन हेतु पर्याप्त नियम या कानून मौजूद है। इस बात से भले ही इंकार न किया जा सके कि इन नियमों की अवहेलना भी राज्यों द्वारा की गई है तथा संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अस्त्वि में आने के बाद अनेकों युद्धों या संघर्षों के उदाहरण मौजूद हैं परन्तु सभी उदाहरणों में आक्रामक राज्यों द्वारा संयुक्त राष्ट्र चार्टर की दुहाई अवश्य दी गई है तथा अपने कृत्य के औचित्य को दर्शाने का प्रयास किया गया है साथ ही संयुक्त राष्ट्र के प्रति अपनी निष्ठा से इन्कार नहीं किया गया है।

शत्रु चरित्रता (Enemy Character)

युद्ध छिड़ जाने के परिणाम परस्पर युद्धरत राज्यों के मध्य संबंधों पर बहुत दूरगामी होते हैं। इस संबंध में सर्वप्रथम यह जान लेना आवश्यक है कि कौन व्यक्ति अथवा कौन वस्तुऐं शत्रु चरित्रता के अंतर्गत आते हैं, सामान्यतः राज्यों के कानून शत्रु राज्य के साथ व्यावहारिक संबंधों का निषेध करते हैं तथा शत्रु संपत्ति को जब्त कर लेने का प्रावधान करते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कानून का सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक राज्य इस विषय में अपना कानून बनाने हेतु स्वतंत्र है तथा यह भी कि सिद्धान्ततः ये नियम गैर युद्धीय सशस्त्र संघर्षों पर भी लागू होते हैं बशर्ते यदि ऐसे संघर्ष संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद के शान्ति स्थापना क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आते हैं तो राज्यों के ऊपर सुरक्षा परिषद् के निर्णय तथा संस्तुतियाँ बाध्यकारी होती हैं।

1949 के जेनेवा सम्मेलन, जो युद्ध के दोरोन गैर-सैनिक व्यक्तियों

(Civilian) के संरक्षण के संबंध में था के अंतर्गत अनुच्छेद 35 में यह प्राविधित किया गया था कि "शत्रु राज्य के ऐसे नागरिक जिन्हें नजरबन्द नहीं किया गया हो या जो जेलों में बंद न हों, उन्हें राज्य छोड़कर जाने के अनुमति दे दी जाती है", यहाँ यह प्रावधान अवश्य था कि राष्ट्रीय हित में युद्धमान राज्य ऐसे व्यक्तियों को नजरबन्द कर सकता है। इस सम्मेलन में इस विषय में यह प्रावधान अवश्य किया गया है कि ऐसे व्यक्तियों को सिर्फ नजरबंद किया जा सकता है तथा इस अवधि में उनके साथ समुचित व्यवहार किया जाता है।

मोटे तौर पर युद्ध छिड़ जाने पर राज्य तथा अंतर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत इसके प्रभावों को विस्तार से जानना आवश्यक है। परन्तु यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए कि ये सारे प्रभाव आवश्यक रूप से गैर युद्धीय सशस्त्र संघर्षों में समान रूप से लागू नहीं होते हैं, साथ ही यह भी कि इस विषय में राज्य-राज्यों के व्यवहारों में अंतर दिखाई पड़ता है जैसा कि 1953 के कोरिया संघर्ष या 1956 के स्वेज संकट के दौरान राज्यों के व्यवहारों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है।

दो राष्ट्रों के बीच युद्ध छिड़ जाने पर प्रत्येक राष्ट्र अपने शत्रु तथा उसकी संपत्ति को हानि पहुँचाकर युद्ध जीतने का प्रयास करता है। जाहिर है कि शत्रु की साफ पहचान होनी चाहिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत इसे शत्रु चरित्रता कहकर जाना जाता है अर्थात् शत्रु चरित्रता प्राप्त व्यक्ति तथा वस्तुऐं ही युद्धरत राज्यों के निशाने हो सकते हैं, ओपेनहाइम का मत है कि शत्रु चारित्रता बहुत हद तक अनिश्चित है क्योंकि इसके अनेक पहलुओं पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सार्वभौम मान्यता प्राप्त नियमों का अभाव है, द्वितीय हेग सम्मेलन (1907) तथा लंदन के सामुहिक सम्मेलन (1908) की अपुष्ट घोषणा में इस बारे में किये गये, प्रावधान अपर्याप्त साबित हुए, मुख्य मतभेद इस विषय को लेकर था कि किसी व्यक्ति अथवा माल की शत्रुरूपता की कसौटी का निर्धारण राष्ट्रीयता के आधार पर हो अथवा अधिवास है साथ ही तटस्थ राष्ट्र यदि शत्रु के साथ निषिद्ध माल की व्यापार करते हैं तो शत्रु चरित्रता प्राप्त कर

सकेत हैं और युद्धकारी पक्ष उनपर आक्रमण कर सकते हैं, शत्रु चरित्रता के संबंध में व्यक्तियों, निगमों, जहाजों तथा माल के बारे में अध्ययन कर उन परिस्थितियो को जाना जा सकता है जिनमें ये शत्रु चरित्रता को प्राप्त कर सकते हैं तथा युद्ध में निशाना बनाने योग्य होते हैं।

(1) व्यक्तियों की शत्रु चरित्रता (Enemy Character of individuals) - इसे क्रमशः शत्रु राज्य तथा तटस्थ राज्य के व्यक्तियों के संदर्भ में देखा जाता है, शत्रु राज्य के व्यक्तियों के बारे में स्टार्क कहते हैं कि 'शत्रु राज्य के प्रदजाजन, योद्धा तथा सबी निवासी प्रायः शत्रु चरित्रता प्राप्त होते हैं, इनके साथ ही शत्रु राज्य के सैन्य नियंत्रण क्षेत्र के निवासियों को भी शत्रु चरित्रता प्राप्त हो जाती है, परन्तु राज्यों के व्यवहार के आधार पर इस विषय में कोई एकरूपता नहीं है, क्योकि राज्य इसके लिए, अलग-अलग मापदंड अपनाते हैं, ब्रिटिश तथा अमेरिकी व्यवहार यह है कि वे अधिवास (निवास) दो आधार मानते हैं जबकि यूरोप के राज्य राष्ट्रीयता को आधार मानते है तटस्थ राज्यों के बारे में राज्य व्यवहार यह दर्शाता है कि इन राज्यों के वे नागरिक जो कि शत्रु प्रदेश में अधिवास करते हैं उन्हें भी शत्रु चरित्र का माना जाता है परन्तु तटस्थ राज्यों के नागरिक यदि शत्रु प्रदेश मे नहीं अधिवास करते हैं तो उन्हें ऐसा नहीं माना जा सकता परन्तु यदि वे शत्रु राज्य की ओर से किसी भी तरह युद्ध में भाग लेते हैं तो शत्रु चरित्रता प्राप्त कर लेते हैं। ब्रिटिश व अमेरिकी व्यवहार के अनुसार तटस्थ राज्यों के नागरिक जो शत्रु देश के साथ आदान प्रदान करते हैं या माल ले जाते हैं तो उन्हें शत्रुता प्राप्त हो जाती है जबकि शत्रु देश के नागरिक यदि तटस्थ राज्य में अधिवास करते हैं तो उन्हे शत्रु चरित्र का नहीं माना जाता है।

(2) निगमों की शत्रु चरित्रता (Enemy Character of Corporations) : इस बारे में निर्धारण की कसौटी स्थायी अधिवास तथा पंजीकरण है, शत्रु प्रदेश मे पंजीकृत निगम को शत्रु चरित्रता प्राप्त होती है, निगमों के शत्रु प्रदेश में स्थित होने तथा वहाँ पर व्यवसाय करने के आधार पर भी उनको शत्रु चरित्रता प्राप्त हो जाती है इसका अर्थ यह है कि कोई निगम

जो शत्रु प्रदेश में स्थित व कार्यरत है तो इस निगम के अधीनस्थ कार्यरत सभी व्यक्ति, अभिकर्ता शत्रु चरित्रता प्राप्त समझे जाते है यह निर्णय कांटिनेन्टल टायर एवम् रबर कम्पनी के विवाद में दिया गया है, यह विवाद डैमलर कम्पनी बनाम कोंटिनेन्टल टायर कम्पनी के नाम से प्रसिद्ध विवाद था, ये दोनो ही कंपनियाँ जर्मनी के निवासियों द्वारा लंदन से स्थापित की थी। इनके निदेशक व शेयर होल्डर भी जर्मन के, डैमलर कंपनी को 1915 से पूर्व कांटिनेन्टल टायर कम्पनी से लिये गये एक ऋण की अदायगी करनी थी जिसके बारे में कांटिनेन्टल टायर कंपनी ने न्यायालय में याचिका की थी, न्यायालय ने निर्णय दिया कि कपनी के शत्रु देश मे स्थित होने के कारण इसे शत्रु चरित्रता प्राप्त हो जाती है। अतः याचिका को ठुकरा दिया गया था, यद्यपि इस निर्णय का आलोचना भी हुई थी, परन्तु बाद में हाउस आफ लार्डस ने भी डैमलर मामले में किये गये निर्णय को सोवफ्रैक्ट तथा ग्लैनरी के मामले मे अपनी स्वीकृति दे दी थी।

(3) जहाजों की शत्रुता (Enemy Character of Ships)

जहाजो की शत्रुता का निर्धारण उनमे लगे झंडे (ध्वज) से होता है। इस नियम का निर्धारण 1909 की जेनेवा घोषणा में किया गया था। झंडे का अर्थ है वह झंडा जिसे कोई जहाज लगाने का अधिकारी है। अर्थात् कोई जहाज अन्य देश के झंडे का प्रयोग नहीं कर सकता शत्रु देश के जहाजों द्वारा तटस्थ देशों का झंडा लगाये जाते हुए पकड़े जाने की स्थिति में उसे शत्रुता प्राप्त हो जाती है। तटस्थ देशों का झण्डा फहराने वाला जहाज निम्न दशाओं में शत्रुता प्राप्त होता है :-

(i) युद्ध कार्य में सीधा भाग लेने से; शत्रु सरकार द्वारा नियत ऐजेन्ट के नियंत्रण में होने से, शत्रु सरकार की सनत सेवा करने से, शत्रु को सूचना देने का माध्यम बनने से अथवा शत्रु सेना का परिवहन कार्य करने से,

(ii) यदि वह इसके निरीक्षण तथा तलाशी लेने के वैध अधिकार का विरोध करे।

(iii) तटस्थ देश का झण्डा फहराने पर भी यदि जहाज के युद्ध मालिक शत्रु देश के है तो इसे शत्रुता प्राप्त हो जाती है।

(iv) तटस्थ जहाज व इसके नाविक यदि युद्ध काल मे शत्रु के साथ व्यापार में संलग्न हो तो शत्रुता प्राप्त होते हैं, यह व्यवहार अमेरिका, ब्रिटेन तथा जापान प्रमुखतः स्वीकार करते हैं, तटस्थ देशो के जहाजों का शत्रु चरित्र निर्धारण हो जाने पर उस पर निम्नलिखित नियम लागू होते हैं:

(i) इस पर लदा सारा माल जब्त किया जा सकता है, भले ही माल के लदते समय यह जहाज वस्तुतः तटस्थ रहा हो,

(ii) जहाज पर लदा सामान शत्रु का सामान समझा जायेगा। तटस्थ सामान के स्वामियो को अपने सामान की तटस्थता का प्रमाण प्रस्तुत करना होगा।

(4) जहाज पर लदे माल की शत्रुता (Enemy Character of goods) - यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून का परंपरागत स्थापित नियम है कि शत्रु व्यापारी जहाजों के माल की शत्रुचारिता समझी जाती है, सामान्यतः पकड़े जाने वाले जहाजों के माल की शत्रु चरित्रता का निर्धारण उसके स्वामी से किया जाता है, अर्थात् माल के स्वामी का शत्रु चरित्र माल की शत्रु चारित्रता को स्थापित करता है तथा माल के स्वामी का शत्रु चरित्र न स्थापित होने पर वह माल भी शत्रुचरित्र का नहीं होगा पर विनिसिद्ध (contraband) के नियम लागू होंगे।

(5) शत्रु जहाजों का हस्तांतरण (Transfer of Enemy ships): यद्यपि इस संबंध में लंदन की अपुष्ट घोषणा द्वारा स्पष्ट नियम निर्धारित किये थे। परंपरागत व राज्यों के व्यवहार के आधार पर शत्रु राज्य अपने जहाजों को तटस्थ राज्य के ध्वज के साथ निम्नलिखित रूप मे हस्तांतरित कर सकते हैं।

(i) युद्ध पूर्व हस्तांतरण जिसके लिए आवश्यक है कि यह जहाज को पकड़े जाने से बचने के उद्देश्य से न किया गया हो।

(ii) युद्ध प्रारंभ होने के बाद ऐसा हस्तान्तरण सामान्यतः अवैध माना जाता है, परन्तु इसकी अनुमति उस दशा मे दी जा सकती है जबकि जहाज का स्वामी यह स्थापित कर दे कि ऐसा हस्तांतरण पकड़े जाने से बचने के उद्देश्य से नहीं किया गया था।

(6) समुद्र में माल का हस्तांतरण (Transfer of goods in Sea): इसे संबंध में सामान्य नियम जहाजों के हस्तांतरण जैसे ही हैं। यदि माल की बिक्री युद्ध पूर्व की गई हो तथा इसमें युद्ध का विचार न किया गया हो तो राज्य कानून के अनुसार इसे प्रभावी कर लिया जाता है, परन्तु युद्ध आरंभ होने के बाद शत्रु द्वारा तटस्थ राज्यों को बेचे व स्थानांतरित किये जाने वाले माल को शत्रु राज्य का माना जाता है न कि तटस्थ राज्य का अतः उसकी शत्रु चरित्रता हो जाती है।

युद्ध छिड़ जाने के प्रभाव (Effects or consequences of the out break of war)- दो राज्यों के बीच युद्ध छिड़ जाने पर उनके मध्य सामान्य संबध नहीं रह पाते, आधुनिक समय में युद्ध क्षेत्र विस्तृत हो गया है अर्थात् युद्ध मात्र दो राज्यों की सीमाओं पर तथा राज्यों के सैनिकों के मध्य संघर्ष तक ही सीमित नहीं रहता, युद्ध से तटस्थ राज्य भी प्रभावित होते हैं पर युद्धमान राज्य अत्यधिक प्रभावित होते हैं। इस संबंध में ओपेनहाइम का मानना है कि 'यह कहना अनुचित होगा कि प्रारंभ होते ही युद्धमान राज्यों तथा उनके नागरिकों के मध्य समस्त संबंध समाप्त हो जाते हैं यद्यपि उनके अहम शांतिपूर्ण संबंध समाप्त हो जाते हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून इन राज्यों के मध्य कतिपय सीमाएं तथा पाबदियाँ आरोपित करता है तथा इनके मध्य युद्धकाल में संबंध युद्ध के नियमों (कानूनों) से शासित होते हैं।

इस विषय में राज्य-राज्यों के मध्य संबंधों के विभिन्न पक्षों पर पड़ने वाले प्रभावों में निम्नलिखित रूपों में वर्णित किया जा सकता है।

(1) कूटनीतिक तथा वाणिज्यिक संबंध - युद्ध प्रारंभ होते ही तत्काल प्रभाव से इन संबंधो पर विराम लग जाता है। इसके परिणामस्वरूप युद्धमान राज्य कूटनीतिक व वाणिज्यिक प्रतिनिधियो को वापस बुला

लेते हैं। कूटनीतिक संबधों के विषय में 1961 के वियना सम्मेलन में विस्तार से नियम निर्धारित किये गये थे, इस सम्मेलन के अनुच्छेद 44 में यह प्राविधित है कि वह इन प्रतिनिधियो को उनके अपने गृह राष्ट्र में सुरक्षित वापसी हेतु सभी आवश्यक सुविधाऐं उपलब्ध करायेगा। इसका यह अर्थ हुआ कि युद्धरत राज्यों के प्रतिनिधियों की सुरक्षा तथा उनकी संपत्ति का संरक्षण, युद्ध काल में, जबतक कि ये सकुशल अपने गृह राष्ट्र नहीं पहुँच जाते प्राप्त कर्त्ता राज्य का दायित्व है।

(2) **संधियाँ** - सधियो के बारे में पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विद्वानों तथा राज्यों के व्यवहारों के आधार पर यह माना जाता था कि युद्ध छिड़ने के साथ युद्धरत राज्यों के बीच सभी संधियाँ समाप्त हो जाती हैं, पर आधुनिक समय में इस सोच में परिवर्तन हुआ है, मोटे तौर पर यह कहा व माना जाता है कि युद्ध छिड़ने के साथ युद्धरत राज्यों के बीच कुछ संधियाँ तो पूर्णतः समाप्त हो जाती हैं पर कुछ संधियाँ लागू भी रहती हैं और कुछ संधियों को युद्धकाल हेतु स्थगित करार दिया जाता है,

उपरोक्त के बारे मे निर्धारण करने हेतु वस्तुनिष्ठ तथा विषयपरक परीक्षण आवश्यक होता है। वस्तुनिष्ठ परीक्षा इस तथ्य से निर्धारित होती है कि क्या युद्ध के चलते संधि के प्राविधानों को लागू किया जा सकता है? अर्थात् क्या संधि के प्राविधान युद्ध छिड़ने से असंगति तो नहीं रखते। विषयपरक परीक्षा के अन्तर्गत राज्यों के आशय को जानना होता है, यदि युद्धमान राज्यो का आशय यह प्रदर्शित करे कि संधि-सिर्फ शांति काल हेतु है तथा युद्धकाल में उसे लागू नहीं किया जा सकता तो वे समाप्त अथवा स्थगित हो जाती हैं। परन्तु यदि राज्यों के आशय से ऐसा प्रतीत हो कि युद्ध के रहते भी संधियों को लागू किया जा सकता है तो ऐसी संधियाँ बरकरार रहती है। इन निर्धारकों तथा राज्यों के व्यवहारों को ध्यान में रखते हुए स्टार्क ने युद्ध के संधियों पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे मे निम्नलिखित निष्कर्ष दिये हैं :

1. युद्धकाल राज्यों के मध्य की संधियाँ जिनके लिए साझा,राजनीतिक

कार्यवाही अथवा मधुर संबंध आवश्यक होते है, युद्ध छिड़ते ही समाप्त हो जाती है।

2. वे संधियाँ जो युद्धरत राज्यों के मध्य सीमा निर्धारण से संबंधित होती हैं युद्ध से अप्रभावित रहती हैं।

3. ऐसे राज्य जो ऐसी संधियों या सम्मेलनो में पक्षकार हों, जो युद्ध के संचालन से संबंधित हो, परस्पर युद्धरत रहते हुए भी युद्धकाल में इन संधियों या सम्मेलनों के नियमों से बाध्य होते हैं।

4. स्वास्थ्य, औषधि या औद्योगिक सम्पत्ति के संरक्षण से संबंधित बहुपक्षीय विधि निर्माण करने वाली संधियों की युद्ध छिड़ने पर पूर्ण समाप्ति नहीं हो जाती उनको स्थगित कर दिया जाता है तथा युद्ध की समाप्ति पर उन्हें पुर्नजीवित कर दिया जाता है।

5. कई बार संधियों में ही यह बात अभिव्यक्त रूप में स्पष्ट कर दी जाती हैं कि पक्षकारों के मध्य युद्ध छिड़ जाने की दशा मे इनकी क्या स्थिति होगी।

6. कुछ संधियाँ जैसे कि प्रत्यर्पण संबंधी संधियां युद्धकाल मे अस्थायी तौर पर स्थगित कर दी जाती हैं।

7. अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करने वाली बहुपक्षीय सधियाँ छिड़जाने पर भी बनी रहती है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि युद्ध छिड़ जाने पर संधियों पर पड़ने वाला प्रभाव संधि के प्रावधानों राज्यों के आशयों तथा संधि की प्रकृति पर निर्भर करता है।

3. **वाणिज्य तथा व्यापा-** यह अंतराष्ट्रीय विधि का एक सुस्थापित नियम है कि युद्ध काल में युद्धरत राज्यों के मध्य किसी भी प्रकार के वाणिज्य या व्यापार को निषिद्ध समझा जाता है, इसीलिए युद्ध छिड़ते ही समस्त वाणिज्य एवम् व्यापार तत्काल स्थगित हो जाता है।

4. **अनुबंध अथवा संविदाऐं-** युद्ध का संविदाओं पर पड़ने वाला प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय विधि से कहीं बढ़कर राष्ट्रीय विधि का विषय है

इसीलिए प्रायः राष्ट्र इस बारे में अनुबंधों की शर्तों के अनुरूप युद्धकाल के अनुबंधों की वैधता अथवा अवैधता के बारे में नियम बना लेते हैं, राज्यों के व्यवहारों का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे अनुबंध जिनका निष्पादन हो चुका हो उन पर यद्ध का प्रभाव नहीं पड़ता जबकि निष्पादित किये जाने वाले अनुबन्ध इस दौरान स्थगित हो जाते हैं।

5. **शत्रु संपत्ति -** प्रत्येक राज्य ये दूसरे राज्य की कुछ न कुछ चल व अचल संपत्ति होती है, युद्धमान राज्यों की संपत्ति के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत इस संपत्ति को क्रमशः सार्वजनिक शत्रु सम्पत्ति तथा वैयक्तिक शत्रु सम्पत्ति के रूप में देखा जाता है।

सार्वजनिक शत्रु सम्पत्ति के बारे मे नियम यह है कि शत्रु की अपनी राज्य में स्थित चल संपत्ति को जब्त किया जा सकता है जबकि अचल संपत्ति को अस्थायी रूप से अपने अधिकार में किया जा सकता है पर पूर्णतः जब्त नहीं किया जा सकता युद्ध समाप्ति पर इन संपत्तियों के बारे में निर्धारण किया जाता है स्पष्ट है कि युद्ध काल में शत्रु कि अचल संपत्ति को बेचा नहीं जा सकता।

वैयक्तिक शत्रु सम्पत्ति के बारे में राज्यो के व्यवहारों के आधार पर यह नियम विकसित हुए हैं कि ऐसी संपत्तियों को अस्थायी रूप में राज्य अपने अधिकार मे ले सकते हैं तथा युद्ध समाप्ति पर यदि कोई शांति संधि होती है तो उस संधि के प्रवधानो के आधार पर इन संपत्तियों के बारे मे निर्धारण कर लिया जाता है, युद्धरत राज्य शत्रु राज्य की वैयक्तिक संपत्ति को जब्त नहीं कर सकते हाँ स्थानीय आवश्यकताओं के आधार पर अथवा सैन्य आवश्यकताओं के आधार पर उसे अपने अधिकार में ले सकते हैं तथा उसका उपयोग कर सकते हैं। साइलेशियन अमेरिका कारपोरेशन बनाम क्लार्क के मामले मे मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने यह निर्णय दिया था कि एक सफल युद्ध के लिए वैयक्तिक शत्रु संपत्ति को अधिग्रहीत किया जा सकता है। इसी

क्रम में न्यायाधीश जेसप की टिप्पणी भी ध्यान योग्य है। उन्होंने कहा था कि 'यह एक अच्छा प्रस्ताव है कि परदेशियों की वैयक्तिक संपत्ति का अधिग्रहण अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन है। अतः न्यायिक निर्णयों, टिप्पणियों अथवा विशेषज्ञो के मतों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्यों के व्यवहारों को देखा जाना चाहिए। ज्ञात हो कि उपरोक्त नियम समुद्र में शत्रु राज्यों के जहाजों के बारे में लागू नहीं होते हैं युद्ध काल में शत्रु के सार्वजनिक तथा वैयक्तिक जहाजों को जब्त किया जा सकता है।

6. **योद्धा तथा गैर योद्धा** - अन्तर्राष्ट्रीय कानून युद्धकाल में शत्रु सेना के सिपाहियों को क्रमशः योद्धा तथा गैर योद्धा इन दो श्रेणियों मे विभक्त करता है, यह विभक्तीकरण प्रायः, वैधिक व अवैधिक योद्धाओं के रूप मे भी जाना जाता है। विधिवत योद्धा (Lawful combatants) साधारण रूप से नियमित सेना के सिपाही होते हैं जो युद्ध में भाग लेते हैं तथा युद्धकाल में इन्हें मारा जा सकता है, गंभीर रूप से घायल किया जा सकता है तथा युद्धबन्दी बनाया जा सकता है, गैर योद्धा (अवैधिक/unlawful) सैनिकों को कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं उन्हें बंदी तो बनाया जा सकता है, पर उनकी हत्या अथवा उन्हें गंभीर रूप से घायल नहीं किया जा सकता। इस संबंध में स्टार्क का अभिमत है कि 'परम्परागत रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत योद्धा तथा गैर योद्धाओं के मध्य इस विचार से भेद किया जाता है कि गैर योद्धाओं को सैद्धान्तिक रूप मे जान बूझकर मारा अथवा घायल नहीं किया जाता है यद्यपि गैर योद्धाओं के कुछ वर्ग के लोगों को उदाहरण के लिए व्यापारी व जल नाविको को पकड़ा जा सकता है तथा युद्ध बंदी बनाया जा सकता है।

यहाँ पर संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 15 दिसंबर 1975 को अंगीकृत प्रस्ताव का संदर्भ लेना प्रासंगिक होगा, यह प्रस्ताव सशस्त्र संघर्ष में मानव अधिकारों के प्रति सम्मान दर्शाने से संबधित था। महासभा द्वारा सभी पक्षकारों

से यह आह्वान किया गया कि वे सशस्त्र संघर्ष में संलग्न होने की दशा में अपने मानवीय दायित्वों का निर्वहन करेंगे तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय कानूनों का अनुपालन करेंगे, यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त प्रस्ताव की निरन्तरता में ही 8 जून 1977 को जेनेवा मे एक सम्मेलन सम्पन्न हुआ था जिसे सशस्त्र संघर्ष में प्रयुक्त होने वाला कूटनीतिक सम्मेलन कहा जाता है, और जो अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय कानून के पुष्टीकरण तथा विकास से संबंधित था, इस सम्मेलन में दो प्रोटोकोल स्वीकार किये गये। पहला प्रोटोकोल जो 12 अगस्त 1949 के जेनेवा प्रोटोकाल का अतिरिक्त प्रोटोकोल है अंतर्राष्ट्रीय सशस्त्र में पीड़ितों से संबंधित हैं, इसी प्रोटोकोल के अनुच्छेद 43-45 तक योद्धाओं से संबंधित प्राविधान किये गये हैं।

अंत में आधुनिक समय में संपूर्ण युद्ध (Total war) की अवधारणा की चर्चा करना भी प्रासंगिक है, जैसा कि विदित है कि परंपरागत रूप में युद्ध की परिभाषा दो शत्रु राज्यों के मध्य सशस्त्र संघर्ष के रूप में की जाती है, युद्ध का उद्देश्य शत्रु को परास्त कर उसके ऊपर अपनी शर्तों को लागू करना होता है। परन्तु युद्धो की आधुनिक शैली यद्ध को इससे कहीं आगे ले जाती है अब युद्ध क्षेत्र का विस्तार हो गया है तथा युद्ध के परंपरागत नियमों का अनुपालन दुष्कर हो गया है। युद्ध नागरिक आबादी भी शामिल कर ली जाती है क्योंकि वह युद्ध से अप्रभावित नहीं रहती इसीलिए युद्ध समग्र युद्ध (Total war) में परिणत हो जाता है, कुंज ने तो यहाँ तक माना है कि 16वीं तथा 17वीं सदी के धार्मिक युद्धों प्रयुक्त बर्बरता निर्दयता भी समग्र युद्ध के सदृश ही की, इसलिए समग्र युद्ध मात्र आधुनिक के कारण मात्र ही नही हैं, इसीलिए समग्र युद्ध कहीं न कहीं युद्ध के नियमों को मात्र एक भ्रम ठहरा देता है। अभी हाल में अफगानिस्तान या ईराक में हुई युद्ध की घटनाऐं इसके ताजा उदाहरण, प्रस्तुत करती हैं।

युद्ध की समाप्ति (Termination of war)

युद्ध का उद्देश्य एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष पर विजय हासिल करके अपनी मनमानी शर्तें स्वीकार कराना होता है। अतः यदि युद्धोपरान्त यह स्थिति

अपने अधीनस्थ कर लेता है तो युद्ध समाप्त हो जाता है। यहाँ पर विजय प्राप्त कर लेने तथा अधीनस्थ कर लेने के बीच का अन्तर जान लेना आवश्यक है, विजय प्राप्त कर लेने की स्थिति में विजित राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व को खोता नही है जबकि अधीनस्थ राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह विजयी राज्य का अंग हो जाता है।

(3) **शांति संधि** - आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत संधि द्वारा युद्ध की समाप्ति को वैध समझा जाता है, संधि हो जाने के बाद युद्धरत राज्यों के बीच मतभेद समाप्त हो जाते हैं तथा वे हिंसा के प्रयोग का त्याग कर देते हैं, सधि की प्रक्रिया लंबी होती है क्योंकि यह वार्तालाप का परिणाम होती है। अतः जब संधि वार्तालाप प्रारंभ होता है तो पहले अस्थायी रूप में युद्ध का परित्याग कर देते हैं तथा संधि पत्र पर अंतिम रूप में युद्ध का परित्याग कर देते हैं तथा संधि पत्र पर अंतिम रूप से पक्षकारों के बीच हस्ताक्षर हो जाने की उपरान्त स्थायी रूप से युद्ध की समाप्ति हो जाती है। शांति संधि करने का अधिकार राज्य-प्रमुखों का है पर संधि की प्रक्रिया के तरीकों तथा संधि के पुष्टिकरण के विषय मे राज्य अपने संविधान से निर्देशित होते हैं।

संधि के प्रभाव व्यापक होते हैं तथा संधिपत्र में विवादास्पद विषयों पर निर्णय कर लिया जाता है। संधि के उपरान्त राज्यों के मध्य युद्ध पूर्व की स्थिति वापस हो जाती है तथा मैत्री पूर्ण संबंध पुनः स्थापित हो जाते हैं। संधि के पश्चात् पक्षकार राज्य एक-दूसरे को युद्धावधि में पहुँचायी गयी क्षति हेतु अमादान कर देते हैं, संधि द्वारा युद्ध बंदियों की वापसी तथा युद्धावधि में जब्त संपत्ति की वापसी हो जाती है, संधि हो जाने पर युद्धाव्था की समाप्ति हो जाती है।

(4) **युद्धविराम संधि** - कभी-कभी युद्ध राज्य युद्ध रोकने हेतु विराम संधि कर लेते है। इस स्थिति मे वास्तविक युद्ध तो समाप्त हो जाता है

पर युद्ध की स्थिति बनी रहती है तथा युद्ध के पुनः प्रारंभ होने की संभावना थी परन्तु युद्ध विराम संधि हो जाने पर इसकी शर्तों का अनुपालन राज्य करते हैं।

(5) **एकपक्षीय घोषणा** - युद्ध रत पक्षकार एक पक्षीय घोषणा द्वारा भी युद्ध समाप्ति की घोषणा कर सकते हैं। 1962 में भारत-चीन युद्ध तथा 1971 मे भारत-पाक युद्ध की समाप्ति इसी तरह हुई थी। प्रसिद्ध विधिवेत्ता हाईड ने भी इसे युद्ध विराम का तरीका माना है।

युद्ध की समाप्ति तथा पूर्वावस्था (Termination of War and Postiliminium)

पूर्वावस्था का अर्थ - युद्ध एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया नहीं हो सकता है इसका आशय यह है कि युद्ध को कभी-कभी समाप्त होना ही होता है। अतः युद्ध की समाप्ति पूर्वावस्था में परिणत होती है, यद्यपि यह तत्काल हो जाता है यह आवश्यक नहीं और संभवतः युद्ध की समाप्ति पर पूर्वावस्था सदैव ही स्थापित हो जाय यह भी आवश्यक नहीं, तो भी सामान्यतः यह समझा जाता है कि युद्ध की समाप्ति पर युद्ध पूर्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इस शब्द को अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे रोमन कानून से लिया गया है और इसका आशय यह है कि युद्ध की समाप्ति पर युद्धकाल में जो शत्रु की चल या अचल संपत्ति शत्रु के अधिकार में आ जाती है उसे युद्ध की समाप्ति पर शत्रु देश को लौटा दिया जाता है और इससे पूर्वावस्था स्थापित हो जाती है। रोमन विधि में यह शब्द व्यक्तियों तथा वस्तुओं के बारे में प्रयुक्त होता था। जबकि अंतर्राष्ट्रीय विधि में इसका प्रयोग युद्ध के संदर्भ में किया जाता है। रोमन काल में रोमन लोग किसी राज्य क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर लेने पर वहाँ के कुछ लोगों को अपना दास बना लेते थे तथा विजित राज्य तथा उसके नागरिकों की चल और अचल सम्पत्ति पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लेते थे पर युद्ध की समाप्ति पर इन अधिकारों को त्याग देते थे और पूर्वावस्था स्थापित हो जाती थी। रोमन काल में पूर्वावस्था के नियमों के अन्तर्गत यदि

कोई रोमन नागरिक किसी विदेशी द्वारा दास बना लिया जाता था पर वाद में उसकी मुक्ति हो जाने पर वह रोमन साम्राज्य मे वापस आ जाता था तो उसे स्वतः उसके पूर्वाधिकार तथा उसकी सम्पत्ति की प्राप्ति हो जाती थी। यदि विदेशी राज्य द्वारा जब्त की गयी रोमन सम्पत्ति पुनः रोमन साम्राज्य में वापस लायी जाती थी तो युद्ध पूर्व के उसके स्वामियों (व्यक्ति या संस्थाओं) को वापस हो जाती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत पूर्वावस्था तीन माह से प्राप्त होती हैः

1. **वस्तुओं की पूर्वावस्था** - युद्ध में किसी शत्रु देश के राज्य क्षेत्र पर अधिकार कर लेने से उस राज्य क्षेत्र पर विजेता का अधिकार स्थायी नहीं समझा जाता है। विजेता राज्य उस राज्य क्षेत्र को विजित कर अपने क्षेत्र में मिला सकता है, परन्तु जब विजेता राज्य ऐसे क्षेत्र को किसी भी कारण से त्याग दे तो वह पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है।

2. **वैध कार्यों की वैधानिकता** - किसी राज्य प्रदेश में युद्ध काल में विजयी राज्य के सैनिक अधिकार स्थापित हो जाने की दशा में उसके द्वारा किये जाने वाले वैध कार्य ही समझे जायेंगे अर्थात् यदि युद्ध की समाप्ति पर उस प्रदेश को पराजित राष्ट्र में सोच दे तो उस दौरान उसके द्वारा दिये गये वैध कार्यो को अवैध करार नहीं दिया जा सकता है।

3. **अवैध कार्यों की अवैधता**- यदि युद्धकाल में किसी एक पक्षकार के राज्य क्षेत्र में दूसरा राज्य अधिकार जमा लेता है तो इस अवधि में उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अवैध कार्य पूर्वावस्था प्राप्त हो जाने पर अवैध करार दिये जाते हैं। पूर्वावस्था सिद्धान्त की कुछ सीमाऐं निम्नलिखित हैं।

    1. यह नियम तभी लागू होता है जब युद्ध में जीता हुआ क्षेत्र युद्ध के पश्चात् पुराने वैध शासक को लौटा दिया गया हो।

    2. जब मूल देश किसी संधि के आधार पर अपना कुछ भाग विजेता

के अधिकार में दे देता है तब वह उसे प्राप्त करने का अधिकार नहीं रखता। अतः ऐसा क्षेत्र पूर्वावस्था की परिधि के बाहर रहता है।

3. पूर्वावस्था का नियम तटस्थ राज्यों पर लागू नहीं होता।

4. विजेता राज्यों के कुछ न्यायोचित कार्य इस नियम के अन्तर्गत नहीं आते। उदाहरण के लिए युद्ध का हर्जाना न देने पर हस्तगत किये राज्य क्षेत्र, चल-अचल सम्पत्ति का विक्रय तथा अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था, पूर्वावस्था के नियम के संदर्भ में है। हैस कैसल वाद महत्वपूर्ण है, 1806 में फ्रांस व एशिया के बीच युद्ध मे फ्रांस की सेना ने हैस कैसल नामक तटस्थ क्षेत्र पर अधिकार कर लिया और वहाँ के शासक का भगा दिया फ्रांस व रूस के बीच टिल्सिर की संधि द्वारा हैंस कैसल को एक नये राज्य का अंग बना दिया गया जो फ्रांस के अधिकार में था, फ्रांस के शासक नोपोलियन द्वारा इस नये क्षेत्र का शासक जैरोय को बनाया गया यद्यपि राज्य के कुछ क्षेत्र पर नेपोलियन के अधिकार जैरोम व नेपोलियन के बीच एक समझौते द्वारा बने रहे हैं, हैस कैसल के पूर्व शासक को वहाँ की प्रजा के कुछ ऋण वसूल करने थे। यह क्षेत्र नोपोलियन के अधिकार में होने से उसने अपना दावा त्याग दिया और नेपोलियन द्वारा यह वसूली कर ली गई। 1813 में जब हैंस कैसल पुनः उसके पूर्व स्वामी को सौंप दिया गया तो उसने मांग की कि ऋण वसूली का नेपोलियन का कार्य अवैधानिक था तथा इस पर अपना दावा किया, पर न्यायालय ने पूर्वावस्था को मान्यता देने से इंकार कर दिया और कहा कि उस अवधि में वह क्षेत्र नेपोलियन के अधिकार में था और उसका वैध शासन भी था।

संबंधित प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किस संधि द्वारा राज्यों ने युद्ध को अपनी राष्ट्रीय नीति का एक उपकरण न बनाने हेतु सहमति जताई थी?

   (a) पेरिस पेक्ट (1928) (b) हेग अभिसमय 1907

   (c) लन्दन की घोषणा (1909) (d) वाशिंगटन सधि 1922

2. जहाँ युद्ध की घोषणा न हुई हो, युद्ध के नियमों के अनुसार इसके पूरे प्रभाव दिखाई दें तथा तटस्थ देशो के अधिकार व उत्तरदायित्व निर्धारित न हो पावें ऐसी स्थिति को.....कहते हैं।

   (a) छापामार युद्ध (b) गृह युद्ध

   (c) गैर-युद्ध-संघर्ष (d) अपूर्ण युद्ध

3. युद्ध से पूर्व हुए अनुबंध या तो समाप्त हो जाते हैं या युद्धकाल तक के लिए स्थगित हो जाते हैं, यह कथन किसका है?

   (a) स्टार्क (b) ओपेनहाइम

   (c) फेनविक (d) उपरोक्त कोई नहीं

उत्तर - 1. (a) 2. (c) 3. (c)

लघु उत्तरीय प्रश्न-

(i) युद्ध की परिभाषा।

(ii) वैध (just) तथा अवैध (un-just) युद्ध.

(iii) युद्ध के सामान्य परिणामों का उल्लेख करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

(i) युद्ध की परिभाषा कीजिए था उन परिस्थितियों की विवेचना कीजिए। जिनके अन्तर्गत युद्ध को औचित्यपूर्ण माना जा सकता है।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय संधियों पर पड़ने वाले युद्ध के परिणामों की विवेचना कीजिए।

संदर्भ ग्रन्थ

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. J.C. Starke : Inroduction to International Law.

2 Oppenheim : International Law vol.II

3. S. K. Kapoor : International Law

4. हरिमोहन जैन : अन्तर्राष्ट्रीय विधि

5. एस0 के0 कपूर : अन्तर्राष्ट्रीय कानून

6. बी0 एल0 फाड़िया : अन्तर्राष्ट्रीय कानून

इकाई - 2 : स्थल युद्ध के नियम (Law of Land Warfare)

इकाई परिचय

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद हम क्रमशः स्थल, जल तथा वायु में होने वाले युद्धों के बारे मे ऐतिहासिक क्रम मे नियमों के विकास क्रम के बारे में जानकारी कर सकेगे।

उद्देश्य

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध सिर्फ भू-क्षेत्र में ही नहीं लड़े जाते बल्कि आकाश तथा समुद्र में भी लड़े जाते हैं। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत युद्धों का अध्ययन क्रमशः स्थल, जल तथा वायु मे परम्परागत रूप से किया जाता है। इस इकाई के अन्तर्गत हम क्रमशः युद्धों को इन्हीं युद्ध क्षेत्रों के सन्दर्भ में जानने का प्रयास करेंगे।

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित विषयों से परिचित हो सकेंगे।

- स्थल युद्ध के सम्बन्ध में समय-समय पर आयोजित सम्मेलनों तथा संधियों द्वारा निर्धारित युद्ध के नियम।
- स्थल युद्ध के नियमों का विकासक्रम तथा वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत मान्य युद्ध के नियम
- वायु युद्धों के बारे में आयोजित विभिन्न सम्मेलन तथा उनके द्वारा निर्धारित नियम
- वर्तमान समय में मान्य वायु-युद्ध के नियम
- समुद्री-युद्ध से संबंधित नियमों का विकास-क्रम, विभिन्न सम्मेलनों द्वारा स्वीकार किए गए नियम।
- वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत मान्य समुद्री युद्ध के नियम।

स्थल युद्ध के नियम

युद्ध दो राज्यों के मध्य किसी विवाद को समाप्त या इसका समाधान करने का साधन है। स्वाभाविक है कि युद्ध मे विजय राज्यों का लक्ष्य होता है और विजय प्राप्ति हेतु राज्य उचित व अनुचित साधनों का प्रयोग कर सकते हैं। युद्ध का उद्देश्य शत्रु राज्य को पराजित कर अपने अधिकार मे लाना होता है। स्थल युद्ध मे युद्ध क्षेत्र मे शत्रु की सेना को परास्त कर शत्रु राज्य पर अधिपत्य स्थापित कर शासन किया जाता है। परन्तु क्या युद्ध के कुछ नियम होने चाहिए? यह बात प्राचीन काल से ही विचारणीय रही है और यही कारण है कि प्राचीन काल में भारत में धर्म युद्ध का अधर्म युद्ध जैसी शब्दावलियां प्रयोग मे लायी जाती रही, युरोप में भी यूनानी तथा रोम की प्राचीन सभ्यता में उचित तथा अनुचित युद्धों की बात होती रही हैं। जाहिर है कि युद्ध के नियमों का निर्धारण भी होता रहा ता समय के बदलने के साथ-साथ इनमे सशोधन व परिवर्तन भी होता रहा। युद्ध के नियमों से आशय अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा निश्चित की गई उन सीमाओं से है जिनके अतर्गत युद्धरत राष्ट्रों से अपने शत्रु के विरुद्ध शक्ति प्रयोग की अपेक्षा की जाती है। युद्ध के नियमों के अतर्गत सैनिकों के साथ-साथ गैर-सैनिकों अर्थात् नागरिकों के साथ व्यवहार के नियम भी शामिल हैं। पर युद्ध के नियमों का आशय युद्ध को खेल के समान नियंत्रित करना नहीं है वरन् युद्ध मे मानवीय कारणों को युद्ध व्यवहार मे दृष्टिगत रखना है, अर्थात् युद्ध के मानवीय पीड़ा को सीमित करना तथा युद्ध के क्षेत्र का सीमा निर्धारण है, द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त विकसित मानव कानून की अवधारणा तथा इनके क्रमिक विकास के चलते युद्ध के नियम अब युद्ध के मानवीय नियम कहलाये जाने लगे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्रमिक विकास में 19वीं तथा 20वीं शताब्दी महत्वपूर्ण हैं, इनमें से भी बीसवी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सर्वतोन्मुखी विकास को अधिक संगठित तथा उन्नत रूप में देखा जा सकता है, और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अभूतपूर्व घटनाऐं घटित हुई, दोनों विश्वयुद्ध तथा इनके पश्चात् संगठन इसी उद्देश्य

से प्रेरित थे कि विश्व को युद्ध की विभीषिका से बचाये जाने की आवश्यकता है। बीसवीं सदी के राष्ट्रों के मध्य शस्त्रों की होड़ तथा शास्त्रों के विकास में नयी तकनीक तथा शस्त्रों की मारक क्षमता में निरन्तर बढ़ोत्तरी विश्व शा... के लिए नये-नये खतरों को जन्म देने लगे। द्वितीय विश्वयुद्ध में परमाणु बम के प्रयोग तथा उसके उपरान्त परमाणु बम बनाने की होड़ ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में परमाणु निःशस्त्रीकरण के विषय को महत्वपूर्ण बना दिया और इस दिशा मे प्रयास भी प्रारंभ हो गये। स्थल युद्ध व सामान्य रूप मे युद्ध के नियम बनाने की आवश्यकता तथा उनके संहिताकरण की आवश्यकता निरंतर बढ़ती चली गई।

स्थल युद्ध के नियमों के विकास को निम्नांकित क्रम में रेखाकित किया जा सकता है।

1. 1856 की पेरिस की घोषणा : यद्यपि यह घोषणा स्थल युद्ध से कहीं अधिक जल युद्ध के विषयों से संबंधित थी पर इसके नाकेबंदी तथा विनिषिद्धों के बारे में कतिपय नियमो को स्वीकार किया गया था।

2. 1863 में अमेरिकी सरकार द्वारा प्रकाशित फ्रांसिस लीवर द्वारा बनाये गये नियम, युद्धमानों (combatants) के लक्षण तथा विशेषताओ का वर्णन करते हैं; अतः स्थल युद्ध के नियमों के संदर्भ मे ये महत्वपूर्ण हैं, इन नियमों के अंतर्गत यह कहा गया है कि प्रायः देश की नियमित सेनाऐं ही वैध योद्धा मानी जाती है। पर कुछ शर्तों के साथ छापामार दस्तों स्वयं सेवक दलों तथा नागरिक सेनाओ को भी वैध मान लिया जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि इनका नेतृत्व उचित रीति से किया जाय, ये युद्ध नियमित विशेष चिन्ह धारण करे तथा ये खुले रूप मे शस्त्र धारण करे।

3. 1864 का जेनेवा अभिसमय युद्ध मे घायलों की स्थिति सुधारने से संबंधित का। इसमें यह निर्धारित किया गया कि युद्ध के समय रोगियो की गाड़ियों, सैनिक अस्पतालों तथा अस्पतालों में कार्य करने वाले कर्मचारियो को तटस्थ माना जाय।

4. 1868 मे की गई सेन्ट पीटर्स बर्ग घोषणा का मुख्य उद्देश्य विभिन्न राज्यों के मध्य युद्ध संबंधी आपत्तियों को कम करना था। घोषणा में कहा गया कि युद्ध में शत्रुके सैनिक बल को अशक्त बनाया जाना चाहिए पर ऐसे शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए जो अकारण लोगों के कष्ट बढ़ायें तथा उनकी मृत्यु का कारण बनें।

5. अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे 1899 तथा 1907 के हेग सम्मेलन महत्वपूर्ण मील के पत्थर हैं, स्थल युद्ध के नियमों की चर्चा हेग सम्मेलनों में दी गई थी तथा विशेषकर 1907 में हेग सम्मेलन में स्थल युद्ध की विधियों तथा परम्पराओं का उल्लेख किया गया, युद्ध में ऐसे उपकरणों का निषेध किया गया जो विनाशकारी तथा दुःखदायी हों, अकारण दुःख तथा विनाश करने वाले शस्त्रों, प्रक्षेपास्त्रों तथा जहरीले पदाथों के प्रयोग पर रोक लगाई गई।

6 युद्ध के नियमों के विकास क्रम मे 1949 के जेनेवा सम्मेलन का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सम्मेलन में शामिल प्रतिनिधियों के मस्तिष्कों मे द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका के ताजे स्मरण के और प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका के भी ये प्रत्यक्ष दर्शी थे, जेनेवा सम्मेलन मे चार अभिसमय बनाये गये जो क्रमशः युद्ध बंदियों के व्यवहार, युद्धरत सेना के घायलो तथा बीमारों की व्यवस्था, जहाज डूबने पर बचे हुए सैनिकों की स्थिति तथा युद्ध के समय नागरिकजनों के संरक्षण से संबंधित थे।

7. 8 जून 1977 को 1949 के जेनेवा अभिसमयों के अतिरिक्त प्रोटोकोल को स्वीकार किया गया। इस प्रोटोकोल द्वारा कुछ मौलिक नियम प्रतिपादित किये गये जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

(i) किसी सशस्त्र संघर्ष में संघर्ष के पक्षकारो के द्वारा युद्ध के ढंग या साधन चयन करने के अधिकार असीम नहीं है।

(ii) ऐसे शस्त्रों प्रक्षेपास्त्रों युद्ध के तरीकों तथा युद्ध सामग्री को निषिद्ध करार दिया गया जो अत्यधिक तथा अनावश्यक हानि पहुँचाने।

(iii) युद्ध के उन तरीकों को भी निषिद्ध करार ठरहाया गया जो प्राकृतिक पर्यावरण को नुकसान पहुँचाते हैं साथ ही जिनके दीर्घकालीन कष्टकारी परिणाम होते हैं। उक्त प्रोटोकोल अन्तर्राष्ट्रीय मा. ीय कानून के विकास क्रम मे एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप मे देखा जा सकता है।

8. 12 अप्रैल 1981 को संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय के एक विशेष समारोह मे 34 राज्यो द्वारा एक अभिसमय पर हस्ताक्षर किये गये जिसका उद्देश्य परस्पर युद्ध की स्थिति मे कतिपय शस्त्रो के प्रयोग पर अंकुश लगाना था साथ ही घोर मानवीय पीड़ा पहुँचाने वाले शस्त्रों के प्रयोग को भी वर्जित करना था।

उपरोक्त सम्मेलनों तथा अभिसमयों एवम् घोषणाओं मे स्थल युद्ध के नियमों के बारे मे जिन विषयो के बारे में व्यवस्थाऐं की गई वे निम्नलिखित हैं:

1. **युद्ध की चेतावनी-** प्राचीन काल से ही यह नियम परंपरागत रूप मे मान्य है कि किसी राज्य द्वारा सद्भावना के आधार पर अपने विरोधी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने से पूर्व इसकी सूचना (चेतावनी) अवश्य देनी चाहिए। अचानक आक्रमण की धोखे का कार्य समझा जाता है।

2. **वैध योद्धा -** युद्ध का उद्देश्य शत्रु सेना को परास्त करने हेतु पर्याप्त हो, असैनिक नागरिकों के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाही या नीतियाँ नहीं अपनायी जानी चाहिए। ऐसे राजा सैन्य अधिकारी या सैनिक का पक्ष नहीं किया जा सकता जो लड़ने के लिए तैयार न हो यदि वह बन्दी होने के लिए तैयार है तो उसका वध नही किया जा सकता। घायल या बीमार सैनिकों तथा आत्मसमर्पण कर देने वाले सैनिकों के साथ दया का व्यवहार आवश्यक है, हेग अभिसमय की धारा 23 मे इन सबकी विस्तार से चर्चा की गयी है। विभिन्न राज्य न्यायालयों द्वारा इन नियमों के उल्लंघनकर्त्ताओं को दंड दिया जाता है। वैध योद्धाओं के बारे मे राज्यों के व्यवहारों मे भिन्नताओं को दृष्टिगत रखते हुए 1899 के हेग

सम्मेलन मे इनके मध्य समझौता कराने का प्रयास किया गया अभिसमय के संलग्न विनिमय स्थल युद्ध के रिवाजों तथा नियम-कानूनों को प्रति सम्मान प्रकट करते हैं तथा इन परिस्थितियों का उल्लेख करते हैं जिनमे नियम युद्धरत आकारों के मध्य लागू होते हैं।

3. **शत्रु के विरुद्ध सिंह प्रयोग की सीमाऐं** - युद्ध में हिंसा का प्रयोग अवश्य होता है पर हिंसा प्रयोग की सीमाऐं निर्धारित हैं। ऐसे कथनों का युद्ध में प्रयोग वर्जित है जो शत्रु के प्राणहरण को अधिक पीड़ा तथा कष्ट पहुँचाए, हमें नियमों में विषैले पदार्थों, ज्वलित द्रव्य पदार्थों तथा अग्नि-बाणों के प्रयोग को वर्जित किया गया था, अतः शत्रु के द्वारा प्रयोग मे लाये जा रहे जल स्त्रोतों (कुँए, पंप नदी आदि) को विषैला नहीं बनाया जा सकता। विषैले हथियारों का प्रयोग (जैसे राइफलों मे काँच के टुकड़े, लोहे की नुकीली वस्तुऐं या अग्नि के गोले) हैं। योद्धाओं को धोखे से नहीं मारा जा सकता। 1925 में राष्ट्रसंघ के सम्मेलन मे विभिन्न राज्यों ने एक प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर किये थे इसके अनुसार श्वासरोधी, विषैली या अन्य जहरीली गैसों के प्रयोग तथा हानिकारक जीवाणुओं के प्रसार को युद्ध में प्रयोग से वर्जित किया गया।

(4) **धोखेबाजी-** युद्ध में चाल बाजी तथा शत्रु को धोखा देने की रणनीति को यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून, वैध मानता है परन्तु इन पर कुछ सीमाऐं आरोपित की गई हैं। जैसे (अ) युद्ध विराम के झण्डे रेडक्रास के चिन्ह आदि को धोखेबाजी से प्रयोग वर्जित है। (ब) विरोधी के साथ संधि वार्ता हेतु जानेवाले दूत द्वारा शत्रुवत आचरण की निषेध है। (स) शत्रु के झण्डे या शत्रु सेना की वर्दी धोखेबाजी के लिए प्रयोग वर्जित है। (द) शत्रुसेना या शत्रु प्रदेश के लोगों को निर्दयतापूर्वक वध करना या घायल करना वर्जित है।

(5) **जासूसी** - युद्ध काल में जासूसी करना प्रत्येक पक्ष का एक मान्य अधिकार है परन्तु जासूसो के पकड़े जाने पर उन्हें दण्ड देने का

अधिकार भी राज्यों को प्राप्त है। हेग विनिमय गुप्तचरो को दण्डदेने से पूर्व उनपर न्यायिक कार्यवाही करने की व्यवस्था करते हैं यदि कोई गुप्तचर भाग जाये पर बाद मे पकड़ा जाये तो उसे युद्धबंदी माना जायेगा।

(6) **गुरिल्ला** - गुरिलाओ के साथ वही व्यवहार किया जाना चाहिए जो शत्रु सेनाओं के अन्य सदस्यों के साथ किया जाता है, परन्तु गुरिल्ला उसी दशा के रक्षित योद्धा माने जाते हैं जब वह हेग अभिसमय द्वारा निर्धारित स्वयं सेवी टुकड़ियों की अर्हता पूरी करते हों। यह भी आवश्यक है कि वे समूह के रूप मे कार्यरत हो, जून 1977 में स्वीकार किये गये जेनेवा अभिसमय के प्रोटोकोल में यह कहा गया कि बंदी बनाए गये गुरिल्लाओं को (यदि उन्होंने शत्रु के साथ मुठभेड़ मे खुले आम शस्त्र धारण किये हों) तो युद्धबन्दी माना जाय न कि युद्धअपराधी। (इन प्रावधानों ने एक सीमा तक गुरिल्लाओं तथा वायुयान अपहरणकर्त्ताओ को वैधता प्रदान कर दी हैं इसीलिए इजरायल तथा अन्य कुछ राज्यो ने इनका यह कहकर विरोध किया है कि इससे आतंकवादी गतिविधियों तो प्रोत्साहन मिलेगा।

(7) **असैनिक जनता** - नागरिकों तथा जनता के विरुद्ध कोई कार्यवाही तभी वैध कही जा सकती है जबकि वह सत्राधारियों के खिलाफ सामूहिक विद्रोह की प्रकृति की हो। युद्ध में विजित राज्य पराजित राज्य की जनता को बाध्यकारी रूप मे सेना में भर्ती करने या अधिकार नही रखता है आवश्यकता पड़ने पर ऐसी जनता की सेवाऐं सेना के लिए आवश्यक सड़क, पुल, आवास आदि के निर्माण हेतु ली जा सकती है। यथा सभव पराजित राज्य के शस्त्र विहीन नागरिकों के शरीर, सम्पत्ति सम्मान को क्षति नहीं पहुँचायी जानी चाहिए। नागरिकों के विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के समय उनके परिवारिक सम्मान, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धार्मिक विश्वासों का सम्मान किया जाना चाहिए।

(8) शत्रु प्रदेश का आवेशन : युद्ध में विजेता राज्य जब पराजित राज्य क्षेत्र अपने अधीनस्थ कर लेता है तो इसे

समुद्री युद्ध के कानून (Law of Maritime Warfare)

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व समुद्री युद्ध संबंधी कानून अधिकांशतः परिपाटियों पर आधारित थे। परन्तु इसके उपरान्त इस संबंध में अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ सम्पादित हो गई हैं, परिणाम स्वरूप आज समुद्री युद्ध हेतु अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के प्रावधान उपलब्ध हैं। इन संधियों में से कुछ महत्वपूर्ण संधियां क्रमशः पेरिस की घोषणा 1856, हेग सम्मेलन 1907, जेनेवा पनडुब्बी प्रोटोकोल 1936 तथा 1949 का जेनेवा सम्मेलन जो कि घायलों तथा क्षतिग्रस्त जलपोतों के सदस्यों से संबंधित है अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

समुद्री युद्ध के कानूनों को निम्नलिखित रूप में संक्षेप में जाना जा सकता है:

(1) शत्रुओं के सार्वजनिक तथा वैयक्तिक पोतों पर आक्रमण समुद्री युद्ध के दौरान यह एक सामान्य नियम है कि शत्रु राज्य के पोतों तथा उनमें विद्यमान सम्पत्ति को नष्ट किया जा सकता है। परन्तु इस सामान्य नियम के निम्नलिखित प्रावधानो को अपवाद स्वरूप स्वीकार किया गया है:

(a) **अस्पताल जल पोत :** 1907 के हमें सम्मेलन द्वारा ऐसे पोतों पर आक्रमण किये जाने से मनाही की है।

(b) 1907 के हेग सम्मेलन द्वारा ऐसे जल वाहक पोतों को कब्जे में लेने अथवा उन पर आक्रमण करने से मनाही की है जो कि धार्मिक, वैज्ञानिक शोध या लोक उपकारी कार्यों मे संलग्न हों। ऐसे पोतों पर आक्रमण गैर कानूनी होगा।

(c) ऐसे युद्ध पोत जो युद्ध बंदियों को ले जा रहे हों पर आक्रमण किये जाने पर मनाही है, ऐसे कृत्य गैर कानूनी होगा,

(d) हेग सम्मेलन मत्स्य नौकाओं तथा बाजारी नौकाओ पर आक्रमण

किये जाने या उन्हें पकड़े जाने को प्रतिबंधित करता है विशेषकर जब से स्थानीय कृत्यों में संलग्न हों तथा इनमें हथियार न रखे हों

(e) व्यापारियों को हेग सम्मेलन द्वारा कतिपय उन्मुक्तियां प्रदत्त हैं। ये उन्मुक्तियाँ इस आशय से प्रदत्त हैं कि ऐसे लोगों को युद्ध छिड़ जाने का ज्ञान नहीं होता और युद्ध छिड़ जाने पर यदि इन्हें बदी बना लिया जाय तो इन्हें उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी।

प्रथम विश्व युद्ध के अनुभवों के आधार पर राज्यों द्वारा अब परस्पर संधियां करके ऐसे प्रावधान भी कर लिये हैं कि युद्ध छिड़ जाने पर डाक नौकाओं तथा डाक कैलों को संरक्षण दिया जायेगा तथा उन्मुक्तियाँ भी प्राप्त होंगी।

2. शत्रु राज्य के व्यापारी जहाजों को समुद्री युद्ध के दौरान नियमानुसार नष्ट किया जा सकता है।

3. जैसा कि विदित है युद्ध के दौरान शत्रु राज्य के जलपोत को नष्ट किया जा सकता है या डुबोया जा सकता है पर जल पोत में ये मौजूद कर्मी दल सवारो तथा दस्तावेजों को तब तक नष्ट नही किया जा सकता जब तक कि शत्रु राज्य के इनकी तलाशी लिए जाने के अधिकार का विरोध न किया जा रहा है।

4. व्यापारिक जलपोतो को यह अधिकार प्राप्त है कि वे शत्रु के आक्रमण से अपना बचाव करे।

5. स्थल युद्ध के दौरान किसी व्यापारिक पोत को युद्ध पोत के रूप में नहीं बदला जा सकता है। ब्रिटेन की इस बारे में यह परिपाटी है कि वे अपने बंदरगाहों में तो ऐसा कर सकते हैं परन्तु तटस्थ बंदरगाह में नहीं

6. हेग सम्मेलन द्वारा समुद्री युद्ध के दौरान समुद्री तट पर स्थित शहरों पर बमवारी की अनुमति है परन्तु ऐसे शहरों पर बमबारी की मनाही है जिनका रक्षण न किया जा रहा हो, ऐसे शहरों की आबादी पर आक्रमण या बमवर्षा तभी की जा सकती है जबकि यहाँ के निवासी

शत्रु एक को भोजन आपूर्ति या अन्य आवश्यक सामान की आपूर्ति में बाधा उपस्थित कर रहे हों।

7. सामान्यतः केवल सैन्य महत्व के शत्रु को ठिकानो पर बमबारी की जा सकती है। अन्य स्थलों पर बमवर्षा केवल उन परिस्थितियों में की जा सकती है जबकि यह युद्ध के लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु आवश्यक हो।

8. हेंग सम्मेलन द्वारा लंगर रहित संपर्क सुरंगो को समुद्र में बिछाना अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हैं। समुद्र के भीतर तैरती सुरगों को बिछाने के बारे में नियम यह है कि इन्हें अन्धाधुन्ध तरीके से नहीं बिछाया जा सकता है। साथ ही यह युद्धरत राज्यों का दायित्व होगा कि वे अन्य राज्यों तथा तटस्थ राज्यों को ऐसी सुरंगों के बिछे होने के विषय में सूचना देंगे। हेग सम्मेलन (1907) ने यह भी निश्चित किया है कि -

(i) केवल ऐसी सुरंगो का प्रयोग किया जाय तो निमंत्रण हटने के एक घण्टे के पश्चात् बेकार हो जाऐं तथा फटें भी नहीं ।

(ii) ऐसी सुरंगों तथा टारपीडो के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया गया जो निशाना चूकने के पश्चात् बेकार नहीं हो पाती।

(iii) शत्रु के व्यापार को बाधित करने हेतु तटों और बंदरगाहों के पास सुरंगों को विछाना निषिद्ध किया गया।

इस संबंध टिप्पणी करते हुए स्टार्क ने लिखा है कि "यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हेग सम्मेलन के प्रावधानों की कमियों तथा नयी तरह की सुरंगों एवम् सुरगो को बिछो की नई-नई तकनीकों के विकास ने चलते यह कानून अत्यधिक अस्पष्ट सा है"।

यहाँ पर पनडुब्बियों में टेलीग्राफ के समुद्री तारों के विषय में जानकारी कर लेना भी समीचीन होगा। ओपेन हैग का मानना है कि 1854 के सम्मेलन का अनुच्छेद 15 शत्रु राज्यों को कुछ अधिकार देता है पर यह स्पष्ट नहीं है कि किस सामा तक हस्तक्षेप की अनुमति देता है।

हेग सम्मेलन 1907 के अनु0 54 के अनुसार ऐसा शत्रु क्षेत्र जिसे अधिकार में ले लिया गया हो में ऐसे समुद्री तार जो तटस्थ राज्यों को जोड़ते हैं, कगो नष्ट नहीं किया जाना चाहिए यदि ऐसा करना आवश्यक ही हो तो शांति स्थापित हो जाने पर इसकी क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए। पर दो सारे नियम तथा राज्यों के व्यवहार बहुत स्पष्ट है, दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान तो इनका अंधाधुन्ध तरीके से हनन किया गया। इसीलिए इन पर एक व्यापक सम्मेलन की आवश्यकता को बार-बार दोहराया गया है, पर कोई कदम अभी तक उठाये नहीं जा सके हैं।

1949 के जेनेवा सम्मेलन का संदर्भ इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इस सम्मेलन मे घायलों, मरीजों तथा क्षतिग्रस्त पोतो के सदस्यों (जो कि सभी सैन्य बल के सदस्य हों) की कुशलता हेतु विशेष प्रावधानों को अंगीकार किया था। समुद्री युद्ध के बारे में बनाये गये नियम स्थल युद्ध के नियमों से ही मिलते जुलते हैं। अनुच्छेद 4 में यह स्पष्ट किया गया कि युद्धरत पक्षकारों की स्थल व जल सेनाओं के मध्य युद्ध की स्थिति में इस सम्मेलन के नियम जलपोतों में मौजूद सेना पर लागू होंगे साथ ही समुद्र के किनारे स्थित सेनाऐं भी इस सम्मेलन के नियमों से बाध्य होंगी। अनुच्छेद 5 में यह प्रावधान है कि तटस्थ राज्य भी इस सम्मेलन के प्रावधानों का प्रयोग करेंगे। स्थल युद्ध के नियमों की ही भाँति यह सम्मेलन यह प्राविधित करता हैं कि क्षतिग्रस्त पोत के घायल सैनिको की समुचित देखभाल की जानी चाहिए तथा उनके साथ मानवीय व्यवहार किया जाना चाहिए। यदि इन्हें युद्ध बन्दी बनाया जाता है तो स्थल युद्ध के युद्ध बन्दियों की ही तरह इनके साथ भी व्यवहार किया जाना चाहिए। यह स्पष्ट किया गया कि अस्पताल जलपोत तथा युद्ध बन्दियों को ले जा रहे जलपोतों पर आक्रमण नही किया जा सकता है। समुद्री युद्ध प्रारंभ हो जाने पर शत्रु राज्य के जहाजों को डुबोया जा सकता है पर ऐसा करने से पूर्व यह सुनिश्चित कर लिया जाना चाहिए कि जलपोत में मौजूद जत्थे (crew) की सुरक्षा कर ली गई है। यदि शत्रु के जहाज को डुबो दिया गया है और इसमें मौजूद कार्मिक तथा सवारियाँ नावों मे बैठकर अपनी जान की सुरक्षा कर रहे हैं तो ऐसी नावो पर आक्रमण करना अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन होगा।

अनुच्छेद 15 में स्पष्ट किया गया है कि यदि घायल, बीमार तथा अतिग्रस्त जहाज के सदस्य किसी तटस्थ राज्य के जहाज या तटस्थ राज्य के सैनिक वायुयान द्वारा ले जाये जा रहे हो तो यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि ऐसे लोग अब युद्ध मे भाग नही ले सकेंगे, अनुच्छेद 17 में ऐसे ही घायल बीमार आदि सैनिकों द्वारा जो कि तटस्थ क्षेत्र में पहुँचा दिये गये हों, पुनः युद्ध में भाग लेने से मनाही की गई है।

अनुच्छेद 22 द्वारा ऐसे समुद्री जहाजो जो कि विशेषरूप से और सिर्फ युद्ध के दौरान सैन्य अस्पताल जहाज (Military Hospital ships) की तरह प्रयोग में लाये जा रहे हैं तथा जिनकी अधिसूचना उनके नाम तथा विवरण सहित उनके प्रयोग में लाये जाने से 10 दिन पूर्व जारी कर दी गयी है, को किसी भी स्थिति में न तो जब्त किया जा सकता है न ही इन पर आक्रमण किया जा सकता है अनुच्छेद 33 द्वारा उन व्यापारिक जहाजों जिन्हें कि अस्पताल जहाज के रूप मे परिवर्तित कर लिया गया है ये युद्ध के दौरान अन्य किसी रूप मे प्रयोग किये जाने से मनाही की गई है। अनु0 47 द्वारा यह किया गा कि इस सम्मेलन द्वारा संरक्षित घायलों, बीमारों या क्षतिग्रस्त जहाजों के सवारों के विरुद्ध कोई भी प्रतिशोधात्मक कार्यवाही नहीं की जा सकती है। 1977 के जेनेवा प्रोटोकोल के अतिरिक्त प्रोटोकोल द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय कानून को किसी सशस्त्र संघर्ष में लागू समझे जाने की बात कही गई अतः उपरोक्त सभी तरह के व्यक्यिों को मानवीय सम्मान तथा संरक्षण प्रदान किये जाने हेतु सभी पक्षकारों के दायित्व को सुझाया गया।

पनडुब्बी युद्ध संबंधी कानून : इस संबंध मे प्रमुख नियम निम्नलिखित हैं:

1. 1922 के वाशिंगटन सम्मेलन द्वारा यह निर्धारित किया गया कि व्यापारिक तथा वाणिज्यिक पोतों को नष्ट करने के उद्देश्य से पनडुब्बियों का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

2. 1930 की लंदन नेवल ट्रीटी द्वारा (इस संधि पर अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस इटली तथा जापान ने हस्ताक्षर किये थे) यह प्राविधित

किया गया कि समुद्र सतह पर चलने वाले जलपोतों संबंधी अंतर्राष्ट्रीय कानून के सभी नियम पनडुब्बियों के विषय मे भी लागू होंगे यह बात विशिष्ट रूप में व्यापारिक पोतों के बारे में कही गयी थी। इस तरह किसी व्यापारिक पोत पर पनडुब्बी से आक्रमण तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि सि पर सवार लोगों इसके कर्मचारियों तथा इसके दस्तावेजों की सुरक्षा को सुनिश्चित न कर लिया गया हो। अनु0 23 द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि यह संधि अनिश्चित काल तक के लिए लागू मानी जायेगी।

हवाई युद्ध के नियम (Law of Aerial Warfare)

आधुनिक काल मे हवाई युद्ध अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है। कतिपय युद्ध तो मात्र हवाई युद्धों तक ही सीमित रहे हैं और प्रायःदो राज्यों के मध्य युद्ध की घोषणा के पूर्व भी हवाई हमलों की घटनाओ के उदाहरण देखे जा सकते है, ज्ञातव्य है कि हवाई युद्धों की परम्परा प्रथम विश्वयुद्ध से प्रारंभ होनी है और उसके पश्चात् प्रत्येक बड़े युद्ध के वायुयानों द्वारा युद्ध एक स्वीकार्य वास्तविकता है। यह तो सत्य है कि वायुयानों द्वारा की जाने वाली बमवर्षा कहीं अधिक बड़े क्षेत्र को प्रभावित करती है साथ ही ऐसी बमवर्षा मात्र युद्ध क्षेत्र तक सीमित नहीं रह सकती तथा इससे नागरिक क्षेत्र तथा आबादी एवम् तमाम ऐसे स्थल जो सामान्यतः युद्ध के दौरान आक्रमण किये जाने से प्रतिबंधित हैं, जाने अनजाने प्रभावित होते हैं, यही कारण है कि वायुयुद्धों के बारे मे निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय कानून व नियमों का निर्धारण किया जाय। यह बात निर्विवाद रूप में कही जा सकती है कि अन्य दूसरे युद्धों के बारे में बनाये गये नियमो की तुलना में वायुयुद्ध संबंधी नियम कहीं अधिक पिछड़े है तथा यह भी कि वायुयुद्धो के बारे में किसी सामान्य बहुपक्षीय सधियों का भी नितान्त अभाव है।

भले ही वायु युद्ध प्रथम विश्वयुद्ध से प्रारंभ हुआ हो परन्तु हवाई बमवर्षा के बारे में चिन्ताऐं इससे पूर्व भी जताई जाती रही हैं ऐसे मे वायु युद्ध के नियमों के बारे में किये गये प्रयासों को क्रमबद्ध रूप में निम्नलिखित रूप मे देखा जा सकता है।

1. ब्रूसेल्स सम्मेलन (1874) द्वारा निम्नांकित नियम बनाए गये थे :

   (अ) अनारक्षित शहरों, गाँवों तथा कस्बों में बमबारी की मनाही की गई।

   (ब) कला, विज्ञान, धर्म, सस्कृति तथा लोकउपकार से संबंधित इमारतों तथा अन्य कार्यों पर बमवर्षा की मनाही की गई।

   (स) यह भी कहा गया कि सार्वजनिक उपयोग की इमारतों को वायु युद्ध के दौरान नष्ट नही किया जा सकता।

   (द) अस्पतालों पर बमवर्षा पर पूर्णतः रोक लगाई गई, स्पष्ट है कि हवाई बमबारी के प्रयोग की अनुमति मात्र सैन्य क्षेत्र तथा सैनिक बलों के विरुद्ध किये जाने तक ही नियम मान्य बताई गई थी।

2. हेग सम्मेलनो क्रमशः 1899 तथा 1907 द्वारा ब्रूसेल्स सम्मेलन में निर्धारित नियमों का अनुमोदन करते हुए कतिपय अन्य बातों को इनमें शामिल किया गया। ये नियम निम्नांकित हैः

(a) बिना समुचित कारणों के जो कि न्यायपूर्ण ठहराये जा सकते हों नागरिक जनता तथा उनकी सम्पत्ति के ऊपर बमबारी की मनाही की गई।

(b) धन वसूली के उद्देश्य से बमवर्षा को गैर कानूनी बताया गया।

(c) यह बताया गया कि बमबारी सिर्फ सैन्य उद्देश्यों के लिए ही मान्य ठहराई जा सकती है।

(d) युद्ध ठिकानों से दूर स्थित नगरों, गाँवों आदि में बमवर्षा करने से मनाही की गई।

(e) एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह बताया गया कि हवाई युद्ध में किया जाने वाला नुकसान किसी भी दशा में समुद्री युद्ध में की जाने वाली क्षति से अधिक न हो।

प्रथम विश्व युद्ध में उपरोक्त सभी नियमों की अनदेखी की गई ज्ञातव्य

है कि प्रथम विश्व युद्ध मे वायु युद्ध का खूब सहारा लिया गया था वस्तुतः इसी युद्ध से वायु युद्ध का प्रारंभ हुआ पर इस युद्ध में ऐसा लगा कि मानों युद्ध के संबंध में कोई अन्तराष्ट्रीय कानून है ही नहीं, वायु युद्ध को नियमबद्ध करने के उद्देश्य से 1922 में वाशिंगटन सम्मेलन आयोजित हुआ। अमेरिका, ब्रिटेन, जापान इटली तथा कुछ अन्य राष्ट्र इस सम्मेलन मे शामिल हुए।

(3) वाशिंगटन सम्मेलन (1922) द्वारा निम्नलिखित नियम वायु युद्ध के बारे में निर्धारित किये।

(i) वैयक्ति वायुयानों को आत्मरक्षा हेतु शस्त्रों से सज्जित करने की मनाही की गई।

(ii) धन वसूली जैसे कार्यों हेतु बमवारी को गैर कानूनी बताया गया।

(iii) नागरिक आबादी को भय से आतंकित करने के उद्देश्य से इन क्षेत्रों में बमबारी को गैर कानूनी बताया गया।

(iv) यह बताया गया कि केवल सैन्य महत्व की फैक्ट्रियों को ही बमवारी करके युद्ध के दौरान नष्ट किया जा सकता है।

(v) युद्ध क्षेत्र से दूरस्थ गाँवों, कस्बों, या भवनों जो कि किसी भी तरह युद्ध स्थल से संपर्क में न हों, के नष्ट किये ज़ाने की मनाही कर दी गई।

(vi) सामान्यतः नागरिक क्षेत्रों मे बमवारी की मनाही की गई परन्तु यदि युद्ध के उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु ऐसा करना जरूरी हो तो पूर्व में चेतावनी के बाद ही इसकी अनुमति को मान्य किया गया।

(vii) यह निर्धारित किया गया कि धर्म संस्कृति या जनहितकारी कार्यों से जुड़े भवनों तथा अस्पताल व अन्य ऐसे क्षेत्र जहाँ मरीजों का इलाज या देखभाल की जाती है के ऊपर बमवर्षा करके उन्हे नष्ट नहीं किया जा सकता है।

(viii) यह भी निर्धारित किया गया कि वायु युद्ध के दौरान स्थल युद्ध के नियमों को लागू किया जाय साथ ही तटस्थता के सारे नियम

मान्य होंगे।

(ix) अंततः यह निर्धारित किया गया कि किसी आक्रामक राज्य द्वारा इन नियमों की अवहेलना किये जाने पर उसे क्षतिपूर्ति करने हेतु उत्तरदायी ठहराया जायेगा।

(4) वायु युद्ध के हेग के नियम (1923) : वाशिंगटन सम्मेलन में शामिल राज्यो द्वारा वायु युद्ध के नियमो को सहिता बद्ध करने के उद्देश्य से न्यायविदों के एक आयोग को नियुक्त किया गया। इस आयोग ने इन नियमो को सहिताबद्ध कर 1923 मे प्रस्तुत किया पर इनका पुष्टीकरण नही किया जा सका। पर जैसा कि ओपेनहाईम का मानना है कि ओपेनहाईम का मानना है ये संहिताऐं भविष्य में वायुयुद्धों के संचालन हेतु आवश्यक मार्ग निर्देशिकाऐं हैं और कई अवसरों पर राज्यो की सरकारों ने इन हेग संहिताओं के अनुकूल अपने आचरण को करने की घोषणाऐं भी की हैं। पुनश्च हेग के वायुयुद्ध नियमों का उद्देश्य एक विशिष्ट समस्या के कानूनी संचालन के उद्देश्यसक से प्रेरित था, इस आयोग द्वारा प्रस्तावित नियमों में से कुछ नियमों की जानकारी कर लेना उचित होगा जो निम्नलिखित हैं:

(i) अनुच्छेद 18 में स्पष्ट किया गया है कि वायुयान से अथवा बायुयान पर खोजी, आग लगाऊ या विस्फोटक प्रक्षेपास्त्रों द्वारा हमले की मनाही नहीं है।

(ii) धन वसूली जैसे कार्यों हेतु बमवारी को गैर कानूनी बताया गया कि

(a) नागरिक आबादी को भुगतान करने के उद्देश्य से, व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट करने हेतु या गैर युद्धकों को घायल करने हेतु बमबारी करने की अनुमति नहीं होगी।

(b) किसी भी तरह की वसूली (धन से या अन्या) के उद्देश्य से बमवर्षा की मनाही होगी।

(c) वायुयानों से बमवर्षा तभी न्यायोचित व कानूनी समझी

जायेगी जब इसके शत्रु राज्य के विरुद्ध किसी विशिष्ट सैन्य उद्देश्य की पूर्ति होगी।

(iii) शत्रु राज्य के गैर सैनिक वायुयानों के बारे मे यह निर्धारित किया गया कि उनपर उस स्थिति में हमला किया जा सकता है जबकि वह सर्वाधिक नजदीकी उपलब्ध स्थान पर उतरने से मना कर रहा हो या शत्रु राज्य के क्षेत्राधिकार में घूम् रहा हो या उसके आसपास या अपने राज्य क्षेत्र के क्षेत्राधिकार से बाहर उड़ान ग्रस्त हो।

इसके साथ ही शत्रु राज्य के सैनिक विमानों के कर्मचारियों के साथ व्यवहार तथा तटस्थ राज्यों के शत्रु राज्यों तथा शत्रुराज्यों के तटस्थ राज्यों के प्रति दायित्वों के संबंध में भी नियम निर्धारित किये गये।

(5) जेनेवा प्रोटोकोल (1925) द्वारा वायु युद्ध के दौरान गैस तथा जहरीले पदार्थों के प्रयोग पर प्रतिबंध स्थापित किया गया है।

(6) 1932 के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन जो कि राष्ट्रसघ के तत्वावधान में आयोजित किया गया था का मुख्य उद्देश्य तो निःशस्त्रीकरण की सफलता तथा युद्ध की विभीषिका को कम करना था। पर इस सम्मेलन ने वायु युद्ध के नियमों के निर्धारण का भी कार्य किया था इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण नियम यह था कि शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों की नागरिक आबादी के ऊपर बमवर्षा की पूर्णतः मनाही की गई।

(7) द्वितीय विश्वयुद्ध (1939-45) की अवधि में वाययुद्ध के सभी नियमों को ताक पर रख दिया गया, जहाँ एक ओर जर्मनी के विमानों ने निष्ठुरता पूर्वक शहरों ग्रामों तथा नागरिकता क्षेत्रों की तबाही की वहीं अमेरिका द्वारा हिरोशिमा तथा नागासाकी के ऊपर अणुबम गिराकर कहीं बड़ा जघन्य अपराध किया, अमेरिका द्वारा अपने कृत्य को प्रतिशोधात्मक बताकर इसका औचित्य दर्शाने की चेष्ठा की। परन्तु जैसा कि स्टार्क ने लिखा है इसमें से कोई भी एक आधार औचित्यपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता है। निसंदेह द्वितीय विश्वयुद्ध ने जिस विभीषिका

को देखा उससे वायुयुद्ध के नियमों के संशोधन तथा उन्हें लागू करने की आवश्यकता और अधिक बलवती हो गई।

(8) सांस्कृतिक सम्पत्ति के संरक्षण हेतु 1954 के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में इस बात पर जोर दिया गया कि वायुयुद्ध के दौरान सांस्कृतिक सम्पत्ति तथा इससे जुड़े भवनों को नष्ट नहीं किया जा सकता।

(9) 1977 में हुए एक कूटनीतिक सम्मेलन, जिसका उद्देश्य सशस्त्र संघर्ष के दौरान प्रयोग में आने वाले अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय कानून के विकास तथा इसे पूर्नस्थापित करना था, द्वारा एक प्रोटोकोल पारित किया गया। इसे 1949 के जेनेवा प्रोटोकोल का अतिरिक्त प्रोटोकोल (1977-I) के नाम से जाना जाता है। इस प्रोटोकोल के अनुच्छेद 42 में यह प्रविधित है कि विपत्ति में पैराशूट से जमीन पर उतरने वाले किसी व्यक्ति को शत्रु क्षेत्र में उतरने का अवसर दिये बिना आक्रमण की वस्तु नहीं बनाया जा सकता ही जब तक यह प्रतीत न हो कि वह शत्रुजन्य कार्यों में लिप्त है उसे मारा नहीं जा सकता यह अनुच्छेद वायुयान में मौजूद शत्रु सेना दलो पर लागू नहीं होगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वायु युद्ध के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिता बद्ध कर युद्धों के दौरान कहीं अधिक सख्ती से प्रयोग किये जाने की आवश्यकता है। इतिहास साक्षी है कि वायुयुद्धों में युद्ध कानूनों का उल्लंघन होता रहा है। यह आवश्यकता कहीं अधिक बढ़ जाती है जब हम विगत् वर्षों में विज्ञान तथा तकनीकी के विस्तार को देखते हैं विशेषकर 1945 के बाद जिस रूप में नाभिकीय शस्त्रों का विकास तथा फैलाव हुआ है तथा नाभिकीय शस्त्रों के प्रयोग तथा उनकी मारक क्षमता के दिनों दिन वृद्धि होती जा रही है तथा अधिकाधिक राज्य नाभिकीय शस्त्रों से मुक्त होते जा रहे हैं। नागरिक सुरक्षा तथा स्वास्थ्य तथा पृथ्वी पर संकट में बढोत्तरी होती जा रही है। नाभिकीय शस्त्रों के निर्माण तथा उनका प्रसार तथा इससे उत्पन्न होने वाली महाशक्तियों, बड़ी ताकतों तथा अन्य क्षेत्रीय श.क्तियों

के मध्य का प्रतिस्पर्धा (दौड़) अन्तराष्ट्रीय संबंधों की एक नई चुनौती है यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को और अधिक जटिल बना देतीहै इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक में तनाव के नये क्षेत्र उत्पन्न होते हैं। निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण पर चलने वाली लंबी अन्तर्राष्ट्रीय बहसों के बावजूद इनके प्रभाव कदाचित शून्य ही दिखाई पड़ते हैं। निसंदेह कुछ ऐसे प्रयास तथा संधियाँ इस दिशा में अवश्य की गई हैं, पर वे पर्याप्त हैं इस पर संदेह है। आधुनिक युग में हवाई युद्धों द्वारा जन, धन, संपत्ति संस्कृति, व कला का जो विध्वंश होता है उसकी पूर्ति कर पाना असंभव है। इससे भी बढ़कर कुछ प्रश्न हैं जैसे कि हिरोशिमा तथा नागासकी में परमाणु बम को गिराये जाने का कानूनी औचित्य या परमाणु परीक्षणों का औचित्य जिनके कि उत्तर नहीं दिये जा सकते हैं। इस संबंध में संयुक्त राष्ट्र महासभा के प्रस्ताव 49/75 दिनांक 15 दिसंबर 1994 द्वारा न्यायालय के परामर्श मत को जानने हेतु यह पूछा गया कि "क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत नाभिकीय शस्त्रों की धमकी या प्रयोग की अनुमति है?" पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (I.C.J.) का मत था कि "परंपरागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत ऐसा कोई अधिकार किसी राज्य को प्राप्त नहीं है। साथ ही यह भी कि नाभिकीय शस्त्रों के प्रयोग की धमकी या उनका प्रयोग गैर कानूनी होगा यदि यह संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनु0 2(4) के विरुद्ध हैं तथा अनु0 51 की आवश्यकताओ के अनुरूप नहीं है, न्यायालय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय कानून का संदर्भ देते हुए यह भी अभिमत दिया कि यह राज्यों, विशेषकर सयुक्त राष्ट्र के सदस्यों का दायित्व है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा व जन कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए प्रभावपूर्ण अन्तराष्ट्रीय नियंत्रणा में नाभिकीय निःशस्त्रीकरण हेतु वार्ता करें"। न्यायालय द्वारा इस विषय पर कोई स्पष्ट मत व्यक्त नहीं किया कि 'क्या किसी भी परिस्थिति में नाभिकीय शस्त्रों के प्रयोग की अनुमति सशस्त्र संघर्ष के दौरान राज्यों को दी जा सकती है? स्पष्ट है कि न्यायालय की झिझक का कोई संतोषप्रद कारण समझ में नहीं आता,

युद्ध में नाभिकीय शस्त्रों के प्रयोग से होने वाले जन संहार, पर्यावरण के संकट तथा मानव जाति के ऊपर आने वाले संभावित संकटों को दृष्टिगत रखते हुए इनके प्रयोग को अवैधानिक करार देना ही चाहिए।

संबंधित प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. युद्ध मे चाल बाजियाँ तथा शत्रु को धोखा देने के व्यवहारों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा -

   (a) वैध मान गया है (b) अवैध माना गया है

2. जल (समुद्री) युद्ध के विषय में विकसित अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संबंध में सर्वप्रथम औपचारिक पहल हुई थी।

   (a) पेरिस सम्मेलन (1928) द्वार (b) हेग सम्मेलन (1907) द्वारा

   (c) लन्दन की घोषणा (1909) द्वार (d) लन्दन की संधि (1930) द्वार

3. हवाई युद्ध के बारे में सर्वप्रथम नियम.....बनाये गये।

   (a) ब्रूसेल्स सम्मेलन (1874) द्वारा

   (b) हेग सम्मेलन (1899) द्वारा

   (c) वाशिंगटन (1922) द्वारा

   (d) जेनेवा प्रोटोकोल (1925) द्वारा

उत्तर - 1- (a) 2- (a) 3. (a)

लघु उत्तरीय प्रश्न

(i) पेक्ट ऑफ पेरिस (1928) पर टिप्पणी लिखिए।

(ii) वाशिंगटन सम्मेलन के उद्देश्य बताइये।

(iii) अणु अप्रसार संधि (NPT) 1968 पर टिप्पणी लिखिए

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(i) स्थल-युद्ध के नियमों के विकास क्रम की विवेचना कीजिए।

(ii) समुद्री-युद्ध के नियमो की विवेचना कीजिए।

(iii) वायु-युद्ध के नियमों की विवेचना कीजिए।

संदर्भ ग्रन्थ

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. J.C. Starke : Inroduction to International Law.
2 Oppenheim : International Law vol.II
3. S. K. Kapoor : International Law
4. हरिमोहन जैन : अन्तर्राष्ट्रीय विधि
5. एस0 के0 कपूर : अन्तर्राष्ट्रीय कानून
6. बी0 एल0 फाड़िया : अन्तर्राष्ट्रीय कानून

इकाई - 3 : युद्ध बंदी

इकाई परिचय

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त हम युद्ध से संबंधित दो महत्वपूर्ण प्रकरणों के बारे में विद्यमान अन्तर्राष्ट्रीय विधि की जानकारी कर सकेंगे, ये दो विषय हैं युद्धबंदी तथा अधिग्रहण अधिग्रहण न्यायालय।

उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य युद्ध के दौरान युद्धरत राज्यों द्वारा बंदी बनाये गये सैनिकों तथा अन्य नागरिको के ऊपर लागू होने वाले नियमों तथा समुद्री युद्ध के दौरान समुद्र क्षेत्र में पकड़े गये माल का निर्धारण करने हेतु बनायी जाने वाले अधिग्रहण न्यायालयों का अध्ययन करना। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त निम्नलिखित विषयों से परिचित होंगे-

- युद्ध-बंदी कौन होते हैं।
- युद्ध-बंदियों के साथ किस तरह का व्यवहार किया जाना चाहिए
- युद्ध-बंदियों के रिहाई किन परिस्थितियों में होती है
- अधिग्रहण न्यायालय क्या होते हैं।
- अधिग्रहण न्यायालय के क्षेत्राधिकार क्या होते हैं।
- अधिग्रहण न्यायालय की अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत स्थिति क्या होती है।

युद्ध बंदी

जैसा कि हम पूर्व में अध्ययन कर चुके हैं। युद्ध राज्यों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में सदा से ही होते रहे हैं। युद्ध में राज्यों के मध्य हिंसा का पारस्परिक प्रयोग होता है तथा युद्ध के विजय प्राप्ति प्रत्येक राज्य का लक्ष्य होता है, युद्ध में हिंसा के प्रयोग को सीमित करने तथा युद्धरत राज्यों को युद्ध की मर्यादाओं के अन्तर्गत इस साधन को अपनाने जाने हेतु युद्ध के नियमों का

विकास होता रहा है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्रमिक विकास में युद्ध के नियम भी विकसित होते चले गये। युद्ध के नियमों को अधिकाधिक मानवीय बनाने की दिशा में प्रयास 20वीं सदी में विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अधिक तीव्र गति से हुए हैं।

युद्ध में युद्धरत राज्य एक दूसरे से सैनिकों को पकड़कर बंदी बना लेते हैं जिन्हें युद्ध बन्दी कहा जाता है प्राचीन काल मे युद्ध बन्दियों के साथ व्यवहार के विषय में कोई नियम नहीं था। उन्हें या तो मार दिया जाता था या दास बना लिया जाता था। उन्हें बलि देकर देवताओं को चढाने की परम्पराओं के भी उदाहरण थे कभी - कभी युद्ध की समाप्ति पर दोनों पक्षों द्वारा इनकी अदला बदली भी हो जाया करती थी। मध्य युग के पश्चात् युद्ध बंदियों को मार डालने अथवा दास बनाने की परम्परा समाप्त होने लगी पर इनके साथ अपराधियों जैसा व्यवहार किया जाने लगा। इनसे तरह-तरह के काम लिए जाने लगे इनको छोड़ने हेतु इनके संबंधियों से धन वसूली भी की जाती थी। ग्रोशियस ने तो लिखा भी है कि एक सिपाही को छोड़ने की कीमत उसका एक महीने का वेतन होता था, 18वीं सदी में यह एक सर्वमान्य नियम समझा जाने लगा कि युद्ध बंदी बनाने का उद्देश्य ऐसे सैनिकों को पुनः अपने राज्य की सेना में भर्ती होने से रोकना है। परन्तु युद्ध बंदियों के साथ व्यवहार को लेकर अभी भी कोई नियम नहीं बन पाये थे। 1785 के पहली बार संयुक्त राज्य अमेरिका और प्रशा के बीच हुई एक संधि है। युद्ध बंदियों के साथ उचित व्यवहार करने की शर्तें रखी गईं। 19वीं सदी के युद्ध बंदियों के साथ अपने सैनिकों जैसा ही व्यवहार किये जाने के सिद्धान्त बनने लगे। 1907 के हेग सम्मेलन में पहली बार युद्धबंदियों के साथ व्यवहार करने के विषय में नियम बनाये गये थे। बाद में 1929 के जेनेवा सम्मेलन द्वारा युद्ध बंदियों के साथ बर्ताव के बारे में जिन नियमों को बनाया गया उन्होंने 1907 के सम्मेलन के नियमों का स्थान ले लिया। 1929 के जेनेवा सम्मेलन के नियमों के स्थान पर अब 1949 के जेनेवा सम्मेलन के नियम युद्ध बंदियों के साथ बर्ताव के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मान्य नियम हैं। यह बात गौर तलब है कि ये नियम बहुत विस्तार से इस विषय पर बनाये गये हैं। 1949 के जेनेवा

सम्मेलन के नियम दो पक्षों के बीच किसी घोषित युद्ध अथवा सशस्त्र संघर्ष के मामलों में लागू होते हैं यहाँ तक कि उन मामलों में भी जहाँ कोई एक राज्य (पक्षकार) किसी युद्ध स्थिति को मान्य न करें तब भी सम्मेलन के नियम सम्मेलन पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य पक्षकारों पर उस स्थिति में भी लागू होते हैं जब किसी राज्य में कोई सशस्त्र संघर्ष चल रहा हो और जिसे अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र का युद्ध न कहा जा सके। इस स्थिति के बारे में यह प्राविधित है कि सम्मेलन के अनुच्छेद में प्राविधित कतिपय न्यूनतम प्रावधानों को लागू किया जाना चाहिए तथा उनका अनुपालन भी किया जाना चाहिए।

युद्ध बंदियों के विषय में 1949 के जेनेवा सम्मेलन द्वारा निर्धारित नियमों के दो महत्वपूर्ण हिस्से हैं जो क्रमशः युद्धबंदी किसे बनाया जा सकता है तथा युद्ध बंदियों के साथ व्यवहार किया जाय इन प्रश्नों का निर्धारण करते हैं।

अनुच्छेद - 4 में युद्ध बंदी किसे बनाया जा सकता है। इस श्रेणी में आने वाले लोगों की गणना कराई गई हैं जो निम्नवत हैं-

1. किसी संघर्ष में पक्षकार राज्यों की सेना के सदस्य तथा नागरिक सेना और स्वयंसेवक दल के लोग।

2. संगठित प्रतिरोध आन्दोलन चलाने वाले वे सब लोग जो ऐसे चिह्न धारण करते हों जिन्हें दूर से ही पहचाना जा सके, जिनका नेतृत्व करने वाला व्यक्ति अपने अधीनस्थों के कार्यों हेतु उत्तरदायित्व वहन करता हो, जो शस्त्रों को खुलेआम धारण करते हों तथा जो अपने क्रिया, कलापों को युद्ध के नियमों तथा परम्पराओं के अनुरूप चलाते हों।

3. सशस्त्र सेना के ऐसे सदस्य जो किसी ऐसी सरकार या सत्ता के प्रति निष्ठा रखते हों जिसे कि ऐसे सैनिकों को बंदी बनाने वाली सरकार मान्य न करती हो।

4. वे सारे लोग जो सेना के सदस्य न होते हुए भी सेना के साथ चलते हैं जैसे कि सेना के नागरिक सदस्य, वायुयान चालक दल के सदस्य युद्ध संवाददाता सेना के रसद पहुँचाने वाले लोग या वे लोग जो सेना

की सलामती से संबंधित हों पर ऐसे सभी व्यक्तियों के पास सेना का अधिकार पत्र होना चाहिए जिससे कि इनकी ऐसी पहचान होती है।

5. व्यापारिक जहाजों पर कार्य करने वाले लोग (मास्टर, पाटलय, ऐपरैन्टिस) तथा नागरिक वायुयान चालक दल के सदस्य, यदि इन सबको अन्तर्राष्ट्रीय कानून के किसी अन्य प्रावधान के तहत युद्ध बंदियों के बेहतर बर्ताव नहीं दिया जा सकता।

6. किसी राज्य क्षेत्र जिस पर अभी अधिकार नहीं जमाया गया हो के वे सब निवासी जो शत्रु के खिलाफ अकस्मात हथियार उठा लेते हैं ताकि उसके आक्रमण का प्रतिरोध कर सकें।

युद्ध बंदियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, यह इस सम्मेलन की चर्चा का प्रमुख विषय था और इस पक्ष को बहुत विस्तार से तथा मानवतावादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इसके बारे में इस सम्मेलन ने विस्तृत प्रावधान किये हैं। ज्ञातव्य है कि 1948 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा को अंगीकार कर लिया गया था। स्वाभाविक है कि युद्ध बंदियों के मानवाधिकारों को ध्यान में रखकर उनके साथ व्यवहार के नियम इस सम्मेलन द्वारा निर्धारित किये गये थे। कुछ प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं:

1. सभी युद्ध बंदियों के साथ सदैव मानवीय बर्ताव किया जाना चाहिए। (अनुच्छेद 13) इसके साथ ही बन्दी बनाने वाला राज्य कोई ऐसा कार्य नहीं करेगा जो युद्धबंदियों की मृत्यु का कारण बने अथवा जिससे उनके स्वास्थय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। इन कार्यों को सम्मेलन का उल्लंघन समझा जायेगा।

2. युद्धबंदियों को न तो कोई शारीरिक क्षति पहुँचायी जा सकती है। न ही उनके शरीर के किसी चिकित्सकीय परीक्षण की वस्तु बनाया जा सकता है, उनके स्वास्थ्य के प्रतिकूल कोई कार्य करने की मनाही की गई है।

3. युद्ध बंदियों का समुचित संरक्षण किया जाय विशेषकर जनता द्वारा अपमान या जनता के कातूहल से बचाया जाय।

4. प्रतिकार स्वरूप कोई भी कार्यवाही प्रतिबंधित है।

5. सभी परिस्थितियों में युद्धबंदी अपने व्यक्तित्व तथा वैयक्तिक सम्मान की सुरक्षा के प्राप्त होंगे।

6. युद्ध बंदियों को वही नागरिक स्तर प्राप्त होगा जो कि उनके पकड़े जाने से पूर्व का था बंदी बनाने वाला राज्य को अपने क्षेत्र या इसके बाहर इनको प्रदत्त (इस सम्मेलन द्वारा) अधिकारियों को प्रतिबंधित करने की शक्ति प्राप्त न होगी सिर्फ बंदी बनाये रखने की आवश्यकता को छोड़कर।

7. बंदी बनाने वाले राज्य का दायित्व है कि वह युद्धबंदियों की सलामती तथा स्वास्थ्य हेतु समस्त व्ययों का वहन करेगा।

8. सभी युद्धबंदियों को बिना किसी राष्ट्रीयता, जाति धर्म, राजनीतिक मतों रंग आदि के आधार पर भेदभाव के समान समझा जायेगा हाँ उनकी आयु, स्वास्थ की स्थिति या व्यावसायिक योग्यता के आधार पर ऐसा हो सकता है।

9. युद्ध बंदियों से सूचना करने के उद्देश्य से उनके ऊपर कोई शारीरिक या मानसिक जोर जबरदस्ती वर्जित है। उनको न तो धमकाया जाय या न ही कोई अपमान किया जाय।

10. युद्ध बंदियों को उनके पास मौजूद हथियारों घोड़ों या सैन्य दस्तावेजों को छोड़कर उनके व्यक्तिगत संरक्षण संबंधी वस्तुओं से वंचित नहीं किया जा सकता है।

11. युद्ध बंदियों को बंदी बनाये जाने के बाद यथाशीघ्र सुरक्षित स्थलों पर रखा जाना चाहिए जो युद्ध क्षेत्र से दूर हों तथा जहाँ उनकी जान या स्वास्थ को कोई खतरा न हो।

12. युद्ध बंदी कभी भी बिना पहचान पत्र के नहीं रहेंगे। बंदी बनाने वाले

राज्य को यह सुनिश्चित करना होगा कि जिन बंदियों के पास ऐसे पहचान पत्र न हों, उन्हें ये उपलब्ध कराये।

13. युद्ध बंदियों के पास रखा रुपया पैसा उनसे लिया जा सकता है। पर इसकी रसीद उन्हें दी जानी चाहिए।

14. युद्ध बंदियों के अपने धार्मिक कृत्य करने की सुविधा दी जायेगी।

15. युद्ध बंदियों से उनकी शारीरिक शक्ति व स्वास्थ्य की स्थिति के अनुरूप कार्य लेने को व्यवस्था है परन्तु किसी बंदी को कार्य करने हेतु लाभ नहीं किया जा सकता युद्ध बंदियों से असैनिक निर्माण कार्यों हेतु सहायता ली जा सकती है पर उन्हें जोखिम के कार्यों हेतु प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

8 अगस्त 1977 को कूटनीतिक सम्मेलन द्वारा सशस्त्र संघर्ष में अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय विधि की प्रयुक्ति के विकास के पुष्टीकरण हेतु स्वीकार किये गये प्रोटोकोल (Diplimatic ceonference on Reaiaffirmation and development of internaional Humanitarian Law Applicable in Armed conflict) द्वारा भी युद्ध बन्दियों के संबंध में अनेक प्रावधान किये गये हैं। जाहिर हैं कि विगत वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अधिक मानवीय बनाने की दिशा में प्रयास हुए हैं। अतः वे सारे विषय जो व्यक्ति से संबंधित हैं उसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मानवीय चेहरा स्पष्ट दिखाई पड़ना चाहिए और युद्धबंदी संबंधी नियम इसका समुचित उदाहरण हैं।

युद्ध बंदियों की मुक्ति : युद्ध बन्दी काल की समाप्ति कई प्रकार से हो सकती है जो निम्नांकित हैं :

(i) **स्वदेश भेजना**-अत्यधिक बीमार या घायल युद्धबंदियों को स्वदेश भेजा जा सकता है, यह युद्धरत राज्यों के मध्य समझ बूझ समझौते या ऐसे राज्यों के एक पक्षीय निर्णय द्वारा किया जा सकता है।

(ii) **युद्धकाल में तटस्थ देशों में भेज देना** -कुछ ऐसे युद्ध बन्दी हो सकते हैं जिनके बंदी कैम्पों में रखे जाने से उनके स्वास्थ्य के लिए

खतरा उत्पन्न होने की संभावना होती है। अतः इन्हें स्वास्थ्य लाभ हेतु किसी तटस्थ राज्य में भेज दिया जाता है, स्वस्थ हो जाने पर इनकी वापसी युद्ध ग्रस्त राज्यों के मध्य संधि वार्ता के आधार पर की जा सकती है।

(iii) **पलायन**-युद्धबन्दी पलायन मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं,

(iv) **मृत्यु** -बंदी कैम्प में मृत्यु हो जाने की तत्काल सूचना देना आवश्यक है, मृत्यु का कारण जान लेने के बाद युद्धबंदी के धर्मानुसार उसकी अन्त्येष्टि की व्यवस्था करनी होती है। मौत के कारणों के शंकायुक्त होने पर इसकी जाँच पड़ताल की जाती है तथा इस विषय में उचित कानूनी कार्यवाही की जाती है।

16. यदि काम करते समय युद्धबंदी चोटिल हो जाते हैं तो उन्हें इसकी क्षतिपूर्ति की जायेगी। उन्हें काम के मध्य विश्राम तथा सप्ताह में एक दिन का अवकाश दिया जायेगा।

17. युद्ध बंदियों को बंदी कैम्प परिसर में मुक्त विचरण की सुविधा प्रदान की जायेगी। उनके प्रकार निश्चित सीमा के बाहर न जाने की पाबंदी लगाई जा सकती है। पर उन्हें बंद नजरबंदी में नहीं रखा जा सकता सिवाय उनके स्वास्थ्य की आश्यकता होने की स्थिति थे।

18. सैनिक अधिकारी युद्ध बंदी तथा गैर अधिकारी श्रेणी के सैनिक अपने रैंक के अनुरूप बर्ताव के अधिकारी होंगे।

19. युद्ध बन्दी बनाने वाले राज्य को इन युद्ध बंदियों को मासिक वेतन भत्ता देय होगा यह मासिक वेतन उनके अपने वेतन की राशि के अनुपात में होगा।

20. युद्ध बन्दी कैम्प में पहुँचने के एक सप्ताह के भीतर उन्हें अपने परिवार को पत्र लिखने की सुविधा दी जायेगी ये प्रतिमाह दो लिफाफे या चार पोस्टकार्ड प्रति व्यक्ति की दर से भेज सकते हैं। उन्हें सब प्रकार की सूचना तथा वस्तु पाने का अधिकार होगा। उनके पार्सलों का निरीक्षण

किया जा सकता है। युद्ध बंदियों के पत्रों व पार्सलों पर डाक टिकट तथा डाक दरें नहीं लगतीं।

21. युद्ध बंदी अपने कष्टों के बारे में शिकायतें कर सकते हैं। अनुशासन भंग करने पर उन्हें सैनिक न्यायालय के द्वारा दंड दिया जा सकता है। उन्हें शारीरिक दंड नहीं दिया जा सकता पर आर्थिक दंड (मासिक वेतन की आधी राशि तक) तथा (कारावास (एक महीने) की सजा हो सकती है।

उपरोक्त सारे प्रावधानों से यह स्पष्ट है कि इन्हें बनाने के पीछे एक मात्र उद्देश्य यह था कि युद्ध बंदियों के साथ अच्छा तथा मानवीय आचरण किया जाय। यह अब अंतर्राष्ट्रीय कानून का सामान्य नियम बन चुका है कि युद्ध बन्दियों के साथ मानवीय आचरण किया जाना चाहिए। युद्ध बन्दियों का भी यह कर्त्तव्य है कि जब उन्हें युद्धबन्दी बनकर ऐसे कैम्पों में ले आया जाय तो उनसे उनके बारे में पूछी जा रही सूचनाओं जैसे उम्र, नाम, रेजीमेन्ट आदि की सत्य जानकारी देनी चाहिए इसके अभाव में शायद वे इन सुविधाओं से वंचित किये जा सकते हैं।

(v) युद्ध की समाप्ति पर युद्ध बन्दियों के साथ व्यवहार - इस संबंध में युद्ध बन्दियों के साथ व्यवहार के बारे में जेनेवा अभिसमय का नियम यह है कि इन्हें अपनी बहुमूल्य वस्तुओं तथा व्यक्तिक सामान के साथ स्वदेश लौटा दिया जाता है। उनके द्वारा बन्दीकाल की अवधि में उपार्जित धन भी देना होता है।

युद्ध बन्दी कौन नहीं - युद्धबन्दी संबंधी नियमों में इनको स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है। युद्धकाल में बहुत से अन्य लोग जिन्हें परस्पर युद्धरत राज्य पकड़ लेते हैं को यह स्थापित करना होता है कि वे वास्तव में युद्ध बंदी की श्रेणी में आते हैं। तब ही उन्हें युद्ध बन्दियों को प्राप्त सुविधाऐं हासिल होती हैं। **राबर्ट फिलिमोर** ने निम्नलिखित श्रेणी के लोगों को युद्धबन्दी नहीं माना हैः

1. लोगों के ऐसे दल जो किसी राजा या सेनापति के आदेशों के बिना

लूटमार करते हो और युद्धकाल में पकड़ लिए जायें।

2. वे सारे लोग जिन्होंने शत्रु सेना का परित्याग कर दिया हो।

3. गुप्तचर यदि सैनिक भी हों तो उन्हें युद्धबन्दी नहीं माना जाता।

जेनेवा सम्मेलन में युद्ध बन्दियों के बारे में विस्तृत नियम बनाये गये तो भी कतिपय ऐसे बिन्दु में जिनका जिक्र नहीं किया गया था। संभवतः ऐसी परिस्थितियों की कल्पना ही नहीं की जा सकी थी। निम्न हो उदाहरण महत्वूर्ण हैं:

पहला कोरिया युद्ध की समाप्ति (1953) पर चीन ने यह मांगा पेश की कि जेनेवा सम्मेलन के आधार पर युद्ध की समाप्ति पर उत्तरी कोरिया के सभी युद्ध बंदियों को उनके देश भेज दिया जाय इसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का मत था कि उत्तरी कोरिया ने जिन सैनिकों को जबरदस्ती युद्ध में भेजा था वे स्वदेश लौटने को तैयार नहीं हैं। यदि ऐसा किया गया तो उनके साथ स्वदेश लौटने पर बुरा व्यवहार होगा। अतः उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध स्वदेश नहीं भेजा जाना चाहिए। भारत ने संयुक्त राष्ट्र में यह प्रस्ताव रखा कि युद्ध बंदियों की वापसी तो जेनेवा सम्मेलन के अनुरूप हो पर स्वदेश वापसी युद्ध बंदी की इच्छानुसार तय हों। युद्ध विराम हो जाने पर युद्ध बंदियों को एक तटस्थ आयोग को सौप दिया गया तथा इस आयोग ने यद्ध बंदियों से पूछताछ करने के उपरान्त स्वदेश जाने की इच्छा रखने वाले युद्ध बंदियों को वापस स्वदेश भेद दिया।

दूसरा उदाहरण 1971 के भारत पाक युद्ध से संबंधित हैं। 3 दिसंबर को आरंभ हुआ पर संघर्ष 14 दिन चला। 8 दिसंबर को भारत के थल सेनाध्यक्ष जनरल मानेकशा ने तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तान (जो अपने स्वतंत्र राज्य बांगला देश की घोषणा कर चुका था) ये पाकिस्तानी सेना के अधिकारियों को चेतावनी दी कि उन्हें आत्म समर्पण कर देना चाहिए क्योंकि उनकी सेना को चारों ओर से घेर लिया गया है तथा उनके इससे निकलने की कोई संभावना नहीं है। आत्म समर्पण कर लेने की दशा में उनका साथ जेनेवा सम्मेलन के अनुसार युद्धबंदी बनाकर व्यवहार किया जायेगा। 16 दिसंबर

1971 को पाकिस्तानी सेना ने भारतीय सेना तथा बांगलादेश मुक्ति वाहिनी के समक्ष आत्म समर्पण किया इसके साथ ही युद्ध की समाप्ति हो गई आत्म समर्पण करने वाले करीब 9300 पाकिस्तानी सैनिक भारत लाये गये तथा इन्हें युद्ध बन्दी शिविरों में रखा गया तथा जेनेवा सम्मेलन के अनुसार इनके साथ आचरण किया गया यद्यपि यदा कदा पाकिस्तान द्वारा इनके साथ दुर्व्यवहार किये जाने के आरोप भी लगाये गये जो प्रायः निराधार ही थे। इनकी वापसी का प्रश्न तब जटिल हो गया जब बांगला देश ने यह प्रश्न उठाया कि इन सैनिकों ने संयुक्त रूप से भारतीय सेना तथा बांगलादेश मुक्ति वाहिनी के समक्ष आत्म समर्पण किया है तथा इन सैनिकों द्वारा बांगला देश में जो अपराध किये थे उसके लिए इन पर युद्ध अपराधियों की तरह मुकदमा चलाया जायेगा, अतः बांगला देश सौंप दिया जाय। जेनेवा सम्मेलन के नियम इस बारे में कौन थे। इसका समाधान भारत पाकिस्तान तथा बांगलादेश ही कर सकते हैं। अंततः 1972 में भारत पाकिस्तान के बीच शिमला समझौते के बाद इनको पाकिस्तान को लौटा दिया गया।

इनके अतिरिक्त युद्ध बंन्दियों के प्रश्न प्रायः जहाँ कहीं भी ऐसे मामले हैं सदैव ही उठाये जाते रहे हैं। पर सभी पक्षों के द्वारा यह बात कही जाती है कि जेनेवा सम्मेलन के अनुसार ही इनके साथ व्यवहार किया जाय अथवा ऐसे व्यवहार में जेनेवा अभिसमयों की अवहेलना की जा रही है। स्वाभाविक है जेनेवा अभिसमयों को सार्वभौम रूप से इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अंग स्वीकार किया जाता है।

अधिग्रहण न्यायालय (Prize Courts)

अधिग्रहण न्यायालय जिन्हें अंग्रेजी भाषा में Prize Courts कहा जाता है इसलिए अस्तित्व में आये कि समुद्री युद्ध के दौरान शत्रु या तटस्थ राज्यों की जो सम्पत्ति, जिसमें जहाज, सैनिक सामग्री आदि सभी चल-अचल सम्पत्ति सम्मिलित है को prize (पुरूस्कार) समझा जाता था, परन्तु खुले समुद्र में इन वस्तुओं को पकड़ लेने मात्र से इन पर पकड़ने वाले राज्य का स्वामित्व स्थापित नहीं हो जाता। इसके लिए आवश्यक होता है कि इन्हें न्यायालयों के

सम्मुख प्रस्तुत किया जाय और जिन न्यायालयों के सम्मुख इन्हें प्रस्तुत किया जाता है उन्हें प्राइज न्यायालय या अधिग्रहण न्यायालय कहा जाता है। ये न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नहीं होते हैं। बल्कि इस उद्देश्य से ही निर्मित विशिष्ट राज्य न्यायालय होते हैं और इन न्यायालयों का कार्य युद्ध के दौरान समुद्र में पकड़ी गई सम्पत्ति के स्वामित्व का निर्धारण तथा उसके वैधिक दावों को निर्धारित करना होता है। फेनविक के अनुसार 'इस बात का निर्णय करना कि युद्धग्रस्त राज्यों ने शत्रु अथवा तटस्थ राज्यों की जो सम्पत्ति (चल या अचल) हथियायी है यह कार्य वैधानिक है। अथवा नहीं अथवा उस सम्पत्ति को जब्त किया जाना चाहिए अथवा नहीं, युद्ध ग्रस्त राज्य द्वारा स्थापित अधिग्रहण न्यायालय का कार्य है', लारेंस के अनुसार ''अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय न्यायालय होते हैं, इन्हें युद्धग्रस्त राज्यों द्वारा अपने क्षेत्र में अथवा अपने मित्र राज्यों के क्षेत्र में इसलिए स्थापित किया जाता है कि वे अपने युद्ध पोतों का क्रूजरों द्वारा युद्ध में पकड़े हुए माल की वैधता निश्चित करें, मित्र राज्यों में ऐसा-न्यायालय स्थापित करने से पूर्व उनकी स्वीकृति लेना आवश्यक है।'' ओस्बोर्न के अनुसार अधिग्रहण न्यायालय ऐसे न्यायालय हैं जो विशेष रूप से इस उद्देश्य से स्थापित किये जाते हैं कि वे युद्ध के दौरान समुद्र में छीने या पकड़े या कब्जा कर लिए माल के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार निर्णय करेंगे।''

अधिकरण न्यायालय की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए लारेंस के माना है कि 'यदि शत्रु की संपत्ति जो कब्जा करने योग्य है समुद्र में छीन ली जाती है तो उसके स्वामी का अधिकार उस पर से समाप्त हो जाता है। कभी-कभी इस बात का पता लगा पाना कठिन होता है कि माल का असली स्वामी कौन हैं? इस बात का निर्णय विशेषकर तथा जरूरी हो जाता है जब वह माल किसी तटस्थ राज्य का हो। स्पष्ट है कि अधिग्रहण न्यायालय की आवश्यकता संक्षेप में निम्न कारणों से होती है:

(1) समुद्री युद्ध में अधिग्रहीत सम्पत्ति के स्वत्व का निर्धारण करने हेतु।

(2) समुद्री युद्ध में अधिग्रहण की वैधता निर्धारण हेतु।

(3) तटस्थ राज्यों के अधिकारों की रक्षा हेतु।

अधिग्रहण न्यायालयों का उद्‌भव मध्य युग में पाश्चात्य देशों की विशेष परिस्थितियों के कारण हुआ। रोमन साम्राज्य के पतन के कारण जन्मी शक्ति शून्यता का परिणाम यह हुआ कि खुले समुद्रों में समुद्री डकैती करने वाले जहाज घूमने लगे और समुद्री व्यापार के लिए एक बड़ी समस्या उत्पन्न हो गई। 13वीं शताब्दी में जल दस्युओं को पकड़ने हेतु यूरोपीय व्यापारिक जहाजी बेड़ों को अधिकार पत्र दिये जाने लगे, इनके द्वारा पकड़ा गया माल अधिकार पत्र देने वाले राज्य को सौंप दिया जाता था। एक एडमिरैलिटी बोर्ड का भी प्राविधान था जो कि पकड़े गये माल तथा जहाजी बेड़े पर निमंत्रण रखता था। यह बोर्ड पकड़े गये माल के स्वामी का पता लगाकर यह माल उसको सौंपने का कार्य सम्पन्न करता था। 1589 के इग्लैण्ड में आर्डर-इन-काउन्सिल द्वारा यह व्यवस्था की गई कि समुद्र में पकड़ा गया माल नौ सेना के उच्च-न्यायालय में पेश किया जाय तथा न्यायालय माल के स्वामी का पता लगाये, इस न्यायालय को प्राइज कोर्ट का नाम दिया गया। वर्तमान समय में अधिकांश देशों ने अधिग्रहण न्यायालय स्थापित कर रखे हैं।

पिट काबेट ने अधिग्रहण न्यायालय के कार्यों को सूचीबद्ध कर निम्नवत् दर्शाया हैं :

1. अक्षेत्रीय (खुले-समुद्र) में पकड़े जाने वाले माल के मामलों की जाँच करना।
2. शत्रु राज्य के माल को पकड़े जाने पर उसे कानून तौर पर शत्रु राज्य का माल सिद्ध करना तथा उस पर निर्णय देना।
3. अधिग्रहण के गैर कानूनी होने की दशा में इसके वापस किये जाने तथा उसकी क्षतिपूर्ति के विषय में निर्णय करना।
4. लूट तथा अव्यवस्था से सभी देशों के माल का सुरक्षा प्रदान करना।

समुद्री युद्ध के दौरान युद्धपोतों तथा नौसेनाओं द्वारा पकड़े सब प्रकार के माल तथा जहाज अधिग्रहण न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हैं।

अतः इन्हें अधिग्रहण न्यायालय के निर्णयार्थ सौंप दिया जाता है। पेरिस की घोषणा (1856) के आधार पर विनिषिद्ध न होने तथा तटस्थ राज्य का होने की दशा में ऐसे माल को तटस्थ राज्य को सौंप दिया जाता है। जहाज के बारे में तटस्थ न्यायालय का निर्णय अन्तिम होता है तथा उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती।

अधिग्रहण न्यायालय के कर्त्तव्य राष्ट्रीय कानून निर्धारित करता है। पर इन-न्यायालयों के न्यायाधीशों का दायित्व व जिम्मेवारियाँ जटिल होती हैं उन्हें एक ही साथ राष्ट्रहित तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित का खयाल रखना होता है। मारिया नामक जहाज के मामले में लार्ड स्टोवेल ने कहा था "मेरा कर्त्तव्य किसी विशेष राष्ट्रीय हित के प्रयोजनों को पूरा करने वाले सामाजिक तथा परिवर्तनशील सम्मतियां देना नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय विधि - द्वारा तटस्थ तथा युद्धग्रस्त सभी देशों को बिना किसी पक्षपात के निष्पक्ष न्याय प्रदान करना है"। रिकवरी नामक जहाज के मामले में न्यायमूर्ति लार्ड स्टोवेल ने कहा था "यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्रेट-ब्रिटेन के राजा की सत्ता में यहाँ बैठने वाला न्यायालय राष्ट्र के कानून का न्यायालय है। यह अन्य देशों से वैसा ही संबंध रखता है जैसा कि अपने देश से विदेशियों को यह अधिकार है कि वे हमसे माँग कर कि यह हमारे राष्ट्रीय विधिशास्त्र से ग्रहण किये सिद्धान्तों के अनुरूप राष्ट्रों के कानून के अनुसार निर्णय करें"।

अधिग्रहण न्यायालय की प्रकृति का प्रश्न भी जान लेना चाहिए। इस संबंध में ओपेनहाइम तथा लारेंस ने स्पष्ट अभिमत दिया है कि ये न्यायालय राष्ट्रीय न्यायालय हैं भले ही इनके निर्णयों का आधार अन्तर्राष्ट्रीय कानून होता है। यद्यपि लार्ड स्टोवेल ने Recovery वाले मामले में यह कहा था कि "इस बात को ध्यान में ध्यान में रखा जाना चाहिए कि यह एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है। यह-न्यायालय ब्रिटेन के राजा ने स्थापित किया है, परन्तु इस पर अन्य राष्ट्रों का भी उतना ही अधिकार हैं जितना कि हमारा इस न्यायालय द्वारा अपने निर्णयों में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का प्रयोग होता है"। अधिग्रहण न्यायालय युद्धरत राज्यों द्वारा अपने क्षेत्र अथवा अपने मित्र रा् के क्षेत्र में (इसमें जल क्षेत्र भी शामिल है अर्थात् जल क्षेत्र पर स्थित किसी युद्ध

पोत में भी इनकी स्थापना की जा सकती है, परन्तु किसी तटस्थ राज्य में इन्हें स्थापित नहीं किया जा सकता। ऐसा निर्णय अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय भी 1794 में दे चुका है।

अधिग्रहण न्यायालय यद्यपि राष्ट्रीय न्यायालय होते हैं परन्तु समुद्र में छीनी या जब्त की गई सम्पत्ति के बारे में वे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से विचार करते हैं। फाक्स नामक जहाज के मामले में जब यह विवाद उठा कि यदि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा पारित कानून या आर्डर-इन-काउन्सिल के किसी कानून तथा राष्ट्रों के कानून तथा राष्ट्रों के कानून के मध्य कोई विरोध हो तो कौन सा कानून लागू होना चाहिए? न्यायाधीश **लार्ड स्टोवेल** ने कहा कि 'इस न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह अन्य देशों के प्रजाजनों तथा सरकारों के सम्बन्ध के विषय में राष्ट्रो के कानूनों का प्रयोग करें। अतः राष्ट्रों के कानूनों के प्रयोग करने की बाध्यता है पर इसके साथ ही ऐसे आर्डर-इन-काउन्सिल के कानूनों को लागू करने की भी बाध्यता है जो राष्ट्रों के कानून के विरोध में न हो, क्योंकि ऐसे आदेशों के बारे में कल्पना की जाती है कि वे राष्ट्रों के कानून के सिद्धान्त के अनुकूल होंगे।

जमोरा के मामले में लार्ड पार्कर ने कहा था कि 'अधिग्रहण न्यायालय का पहला कर्त्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ठीक से व्याख्या करना तथा उसे कार्यान्वित करना है। ये न्यायालय संसद के कानूनों से नियंत्रित है पर सपरिषद सम्राट के ऐसे कानून से बंधा नहीं है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के विरोधी हैं।'

उपरोक्त दो तरह के मतों से एक भ्रान्ति उत्पन्न होती है, ओपेनहीम लिखेत हैं कि 'ये न्यायालय राष्ट्रीय कानूनों को ही लागू करते हैं, ये राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून होते हैं जिन कानूनों को राष्ट्रीय कानूनों का अंग मान लिया गया है''.

लारेंस भी मामते हैं कि राष्ट्रीय कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित होता है।

वस्तुतः युद्ध छिड़ जाने पर अधिकांश राज्य सरकारें अधिग्रहण नियमावली बना लेती हैं तथा प्रायः में अन्यर्राष्ट्रीय कानून के अनुकूल होती हैं। अधिग्रहण

न्यायालयों को इनका पालन करना ही होता है। यह तो स्पष्ट है कि प्रत्येक राष्ट्रीय न्यायालय के लिए कानूनों को मानना बाध्यकारी है। ओपेनहीम ने ब्रिटेन के संदर्भ में कहा भी है कि राष्ट्रीय न्यायालयों को संसदीय विधि लागू करने की बाध्यता है। ब्रिटिश परम्परा भी यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के परम्परागत नियम यदि वे संसदीय विधि के प्रतिकूल नहीं हैं तो राष्ट्रीय न्यायालय उन्हें लागू करते हैं। पुनःश्च ब्रिटेन में 1864 में अधिग्रहण कानून को संहिताबद्ध कर दिया गया था। अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा भी 1862 के एक निर्णय में यह माना कि अधिग्रहण न्यायालय अपने संप्रभु के निर्देशाधीन हैं।

1971 के भारत-पाक युद्ध के उपरान्त स्थापित भातीय अधिग्रहण न्यायालय ने भी यह स्वीकार किया था कि इस न्यायालय की सत्ता तथा क्षेत्राधिकार का श्रोत राष्ट्रीय कानून है परन्तु इसके द्वारा लागू की जाने वाली विधि अन्तर्राष्ट्रीय विधि है। यह अभिमत सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

कदाचित अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वानों द्वारा इस बात को भी उजागर किया है कि निवर्तमान परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालयों को बनाने की आवश्यकता है **लारेंस** ने सि बात को जोर देकर कहा है कि अधिग्रहण न्यायालय राष्ट्रीय नहीं होने चाहिए, राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय स्थापित करके युद्धगत राष्ट्र स्वयं न्यायाधीश बन जाते हैं, वे यह भी मानते हैं कि भले ही न्यायाधीश निर्भीक व निष्पक्ष होते हैं परन्तु युद्ध की परिस्थिति उनकी निष्पक्षता को प्रभावित कर सकती है, हेग सम्मेलन में ब्रिटेन तथा जर्मनी ने भी अंतर्राष्ट्रीय अधिग्रहण न्यायालय को स्थापित किये जाने का सुझाव दिया था, बारहवें हेग सम्मेलन में तो बाकायदा एक प्रस्ताव भी इस आशय से पारित किया गया था परन्तु इस प्रस्ताव की पुष्टि इस आधार पर नहीं हो सकी कि अभी समुद्री युद्ध संबंधी नियमों का पर्याप्त संग्रह नहीं है। ओपेनहैम का तो सुधाव यह है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ही अधिग्रहण न्यायालय तथा इसके कानूनों के अनुसार कार्य कर सकता है, यदि विभिन्न पक्षकार इसको अग्रिम रूप में मान्य करने की स्वीकृति दे दें तथा अपने मामलों को इसके समक्ष प्रस्तुत करें।'

संबंधित प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. युद्ध बंदियों के साथ बर्ताव के संबंध में वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत सर्वाधिक संदर्भ निम्नलिखित में से किसका लिया जाता है?

   (a) हेग सम्मेलन 1907

   (b) जेनेवा सम्मेलन 1929

   (c) जेनेवा सम्मेलन 1949

   (d) उपरोक्त कोई नहीं।

2. 'युद्ध बंदियों के साथ सदैव मानवीय बर्ताव किया जाना चाहिए यह प्रावधान जेनेवा सम्मेलन 1949 के किस अनुच्छेद में किया गया है?

   (a) अनुच्छेद 11 (b) अनुच्छेद 13

   (c) अनुच्छेज 15 (d) अनुच्छेद 16

3. अधिग्रहण न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नहीं है बल्कि राष्ट्रीय कानून द्वारा स्थापित राष्ट्रीय न्यायालय हैं।

   (a) सत्य है

   (b) असत्य है।

उत्तर - 1 (c) 2. (b) 3. (a)

लघु उत्तरीय प्रस्न -

(1) युद्ध बंदियों को परिभाषित करें।

(2) अधिग्रहण न्यायालय से क्या आशय है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

(1) युद्ध बंदियों के संबंध में जेनेवा सम्मेलन द्वारा स्वीकार किए गए

नियमों की विवेचना कीजिए।

(2) अधिग्रहण न्यायालय क्या होते हैं, इन क्षेत्राधिकार की विवेचना करें।

संदर्भ ग्रन्थ

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. J.C. Starke : Inroduction to International Law.

2 Oppenheim : International Law vol.II

3. S. K. Kapoor : International Law

4. हरिमोहन जैन : अन्तर्राष्ट्रीय विधि

5. एस0 के0 कपूर : अन्तर्राष्ट्रीय कानून

6. बी0 एल0 फाड़िया : अन्तर्राष्ट्रीय कानून

खण्ड

5

तटस्थता विधि

इकाई-1 5

तटस्थता तथा तटस्थ राज्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्य

इकाई-2 22

निरीक्षण और तलाशी का अधिकार संकटाधिकार, नाकाबंदी विनिषिद्ध

इकाई-3 44

संयुक्त राष्ट्र-चार्टर के अन्तर्गत तटस्थता

परामर्श-समिति

प्रो0 नागेश्वर राव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	वरिष्ठ परामर्शदाता - कार्यक्रम संयोजक
श्री एम0 एल0 कनौजिया	कुलसचिव - सचिव

परिमापक

प्रो0 बी0 के0 तिवारी	राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सम्पादक

प्रो0 एस0 एम0 सईद	अवकाश प्राप्त प्रो0 लखनऊ विश्वविद्यालय

लेखक

प्रो0 जी0 के0 चन्दानी	लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खण्ड-5 : खण्ड परिचय - ''तटस्थता विधि''

इस खण्ड में तटस्थता की विधि के सम्बन्ध में उन नियमों का अध्ययन किया जाएगा जो युद्ध के समय युद्धमान देशों तथा अन्य देशों के बीच लागू होते हैं। साथ ही साथ युद्ध के समय युयद्धमान देश एक दूसरे के प्रति जो आर्थिक उपाय अपनाते हैं जिससे दूसरे युद्धमान देश - एक दूसरे के प्रति जो आर्थिक से कमजोर कर पराजित किया जा सके, उन पर भी चर्चा की जाएगी। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस खण्ड को निम्न तीन इकाइयों में विभाजित किया गया है।

प्रथम इकाई में तटस्थता का अर्थ तथा विकास एवं तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्तव्यो का अध्ययन किया जाएगा।

द्वितीय इकाई में युद्धमान देशों द्वारा प्रवेश और तलाशी का अधिकार एवं संकटाधिकार के बारे में चर्चा की जाएगी। साथ ही साथ एक युद्धमान देश द्वारा दूसरे युद्धमान देश के प्रति अपनाये गये आर्थिक उपाय जिनमें नाकाबन्दी विनिशिद्धमाल आता है, का अध्ययन किया जाएगा।

तृतीय इकाई में संयुक्तराष्ट्र की स्थापना के बाद उसके चार्टर के अन्तर्गत किये गये उपबन्धों की दृष्टि से तटस्थता की अवधारणा किस प्रकार प्रभावित हुई है इसका अध्ययन किया जायेगा। साथ ही साथ विश्वशान्ति को बनाये रखने में अन्तर्राष्ट्रीय विधि किस प्रकार प्रभावी है, इसकी विस्तृत चर्चा की जाएगी।

सैद्धान्तिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि का जन्म राज्यों के पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए हुआ था और विभिन्न राज्यों में रहने वाले व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से उसकी परिधि में नहीं आते, लेकिन समय गुजरने के साथ ही अब अन्तर्राष्ट्रीय विधि की पहुँच राज्यों तक सीमित न रह कर व्यक्तियों तक हो गई है। इस बिन्दु पर विधिवेत्ताओं ने अलग-अलग ढंग से अपना मत व्यक्ति किया है। इकाई 3 में, विभिन्न दृष्टिकोणों के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय कौन है- राज्य या व्यक्ति अथवा यह दोनों ही, इस बिन्दु पर चर्चा की जाएगी।

इकाई -1 : तटस्थता तथा तटस्थ राज्यों के अधिकार एवं कर्तव्य

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 तटस्थता का अर्थ

1.3 सशस्त्र संघर्षों में तटस्थता

1.4 तटस्थता का विकास

1.5 तटस्थता का युक्ति संगत आधार

1.6 तटस्थता तथ तटस्थीकरण में अन्तर

1.7 तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्तव्य

1.8 सारांश

1.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1.10 सम्बन्धित प्रश्न

1.11 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत 'तटस्थता' के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपः

- तटस्थता का अर्थ, विकास तथा उसके आधार का विवेचन कर सकेंगे।
- तटस्थ राज्यों के अधिकारों और कर्तव्यों पर टिप्पणी कर सकेंगे,

1.1 प्रस्तावना

तटस्थता के दो पहलू हैं एक प्राचलित अर्थ और दूसरा

तकनीकी अर्थ। प्रचलित अर्थ में युद्धमान राज्यों के साथ तटस्थ देश युद्ध नहीं करता, न ही उनके संघर्ष में भाग लेता है। तकनीकी अर्थ में तटस्थता तटस्थ राज्य द्वारा अपनाये गये निष्पक्षता के रूख के अलावा भी एक प्रकार की विशेष प्रकृतिकी विधिक हैसियत इंगित करता है। जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि में विविध प्रकार के अधिकार, कर्तव्य- विशेषाधिकार आते हैं जिनको युद्धमान राज्य तथा तटस्थ राज्य मान्यता देते हैं। इस प्रकार तटस्थता के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं -

(1) तटस्थता युद्ध के समय तीसरे राज्यों द्वारा अपनाई गयी - निष्पक्षता की प्रवृत्ति है, तटस्थ राज्य युद्ध में भाग नहीं लेते। तटस्थ राष्ट्र इसकी तुरन्त घोषणा करते हैं और घोषणा के साथ तटस्थता की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है।

(2) तटस्थ राज्य द्वारा अपनायी गई तटस्थता की प्रकृति को युद्धरत राज्यों द्वारा मान्यता दी जाती है।

(3) तटस्थता तटस्थ राज्यों तथा युद्धरत राज्यों के बीच कुछ अधिकारों व कर्तव्यों का सृजन करती है, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधि में पूर्णरूप से मान्यता दी गई है। यह स्थिति युद्ध के दौरान कायम रहती है। और युद्ध के समापन पर भी समाप्त हो जाती है।

1.2 तटस्थता (Neutrality) का अर्थ

तटस्थता शब्द लेटिन शब्द- न्यूटर (Neuter) से लिया गया है जिसका अर्थ होता है कोई भी नहीं (Neither)। तटस्थता राज्य के ऐसे हैसियत (Status) को कहते जो युद्धरत देशों में से किसी का भी पक्ष नहीं लेते। तटस्थ देश दोनों युद्ध में संलग्न देशों से अलग रहते हैं। वे युद्ध में भाग नहीं लेते ।

ओपेनहाइम के अनुसार तटस्थता तीसरे राज्यों द्वारा युद्धमान

राज्यों के प्रति अपनाये गये और युद्धमान राज्यों द्वारा मान्य निष्पक्षता की प्रवृत्ति है जो निष्पक्ष राज्यों तथा युद्धमान राज्यों के बीच अधिकारों तथा कर्तव्यों का सृजन करती है।

स्टार्क के अनुसार तटस्थता के दो पहलू हैं एक प्रचलित अर्थ और दूसरा तकनीकी अर्थ। प्रचलित अर्थ में युद्धमान राज्यों के साथ तटस्थ देश युद्ध नहीं करता, न ही उनके संघर्ष में भाग लेता है। तकनीकी अर्थ में तटस्थता तटस्थ राज्य द्वारा अपनाये गये निष्पक्षता के रूप के अलावा भी एक प्रकार की विशेष विधिक हैसियत इंगित करता है।जिसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि में विविध प्रकार के अधिकार, कर्तव्य, विशेषाधिकार आते हैं जिनको युद्धमान राज्य तथा तटस्थ राज्य मान्यता देते हैं। इस प्रकार तटस्थता के तीन महत्वपूर्ण तत्व शामिल हैं -

(1) तटस्थता युद्ध के समय तीसरे राज्यों द्वारा अपनाई गयी निष्पक्षता की प्रवृत्ति है, तटस्थ राज्य युद्ध में भाग नहीं लेतें। तटस्थ राष्ट्र इसकी तुरन्त घोषणा करते हैं। और घोषणा के साथ तटस्थता की स्थिति प्रारम्भ हो जाती है। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्व ययुयद्ध में सितम्बर 1939 में युद्ध के प्रारम्भ के तत्काल बाद प्रायः सभी तटस्थ राज्यों ने तुरन्त अपनी तटस्थता की घोषणा की और इसकी सूचना युद्धरत देशों को भी दे दी थी।

(2) तटस्थ राज्य द्वारा अपनाई गयी तटस्थता की प्रकृति (Attitude) को युद्धरत राज्यों द्वारा मान्यता दी जाती है।

(3) तटस्थता तटस्थ राज्यों तथा युद्धरत राज्यों के बीच कुछ अधिकारों व कर्तव्यों का सृजन करती है, जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधि में पूर्ण रूप से मान्यता दी गई है। यह स्थिति युद्ध के दौरान कायम रहती है और युद्ध के समापन पर भी समाप्त हो जाती है।

1.3 सशस्त्र संघर्षों में तटस्थता (Neutrality in armed con flicts)

साधारणतः तटस्थता की अवधारणा का सम्बन्ध युद्ध की स्थिति से हैं जो युद्धमान राज्यों और तीसरे राज्यों के बीच उत्पन्न हैसियत को निर्दिष्ट करती है।। यदि युद्ध होता है तो राज्य तटस्थता को अपना सकते हैं परन्तु अब संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत युद्ध विधिक नहीं है। फिर भी यह देखा गया है कि सशस्त्र संघर्ष किये जाते हैं भले ही यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के के अर्थ में युद्ध नहीं कहलाते। युद्ध के अधिकांश नियम अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र संघर्षों पर भी लागू किये जाते हैं भले ही अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में जो सशस्त्र संघर्षों पर लागू होती है, तटस्था के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्राविधान लागू नहीं किया गया है। यह दृष्टिकोण उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि हेग अभिसमय में यह उपधारणा की गई थी कि जब कोई सशस्त्र संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। तब राज्य अपने आप या तो युद्धमान राज्य हो जाते हैं या तटस्थ राज्य । ऐसा देखा गया है कि 1950 से सशस्त्र संघर्ष भले ही युद्ध की श्रेणी में नहीं आते, किये गये हैं जिनमें कोरिया, वियतनाम, स्वेज, इण्डो-चाइना इण्डो-पाक, इरान-इराक, अरब-इसराइल, तथा ईराक पर एंग्लों अमेरिकन हमला, इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

इन संघर्षों में भी अन्य राज्यों ने तटस्थता की घोषणा और उनकी प्रस्थिति युद्धरत पक्षकारों द्वारा किया गया है। इन संघर्षों में युद्ध के नियम लागू किए गये है। तटस्थता की मुख्य उद्देश्य है कि युद्धमान देशों और तटस्थ देशों को अलग रखा जाए जिससे उनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और वाणिज्य चलता रहे। अतः सशस्त्र संघर्षों में भी तटस्थता को लागू किया गया ।इस प्रकार की तटस्थता को स्टार्क ने अर्ध तटस्थता कहना उपयुक्त

समझा है।

1.4 तटस्थता का विकास (Development of Neutrality)

तटस्थता की अवधारणा प्राचीन है। परन्तु इसके सिद्धान्त स्वस्थापित नहीं थे। मध्यकाल में राज्यों द्वारा द्विपक्षीय संधियां की गई थी जिनमें यह प्रावधान किया गया था कि संधि के पक्षकारों मे से कोई भी एक दूसरे के शत्रु को युद्ध के दौरान किसी प्रकार की सहायता नहीं देगा। तटस्थता की अवधारणा धीरे धीरे विकसित हुई और सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक तटस्थता को एक संस्था के रूप में मान्यता दी जाने लगी। परन्तु यह पाया गया कि तटस्थ राज्यों और युद्धरत राज्यों को एक दूसरे के प्रति कर्तव्यों का पालन नहीं किया जाता था। अट्ठारहवीं शताब्दी में बैंकर शोयक,(Bynker Shoek) वैटल (Vattel) ने तटस्थता के सिद्धान्त और व्यवहार को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि जो राज्य युद्ध से अलग रहते हैं उन्हें युद्धमान या युद्धरत राज्यों के प्रति निष्पक्षता की प्रवृत्ति रखनी होगी।

उन्नीसवीं शताब्दी में तटस्थता की अवधारणा में काफी विकास हुआ। सके कई कारण थे -

संयुक्त राज्य नैपोलियन युद्धों में 1793 से 1818 तक तटस्थ रहा।

संयुक्त राज्य की सरकार ने युद्धमान देशों के शस्त्रों और जलयानों को अपने राज्य क्षेत्र में आने नहीं दिया और अपने नागरिकों की भर्ती युद्धमान राज्यों की सेना मे होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

नैपोलियन युद्धों में लार्ड स्टावेल (Lord Stowell) ने ब्रिटिश प्राइम कोर्ट की अध्यक्षता की और विनिश्चयों में तटस्थ राज्यों के अधिकारों के बारे में विधि के नियम प्रतिपादित किये। स्विटजरलैंड तथा बेल्जियम ने अपने स्थायी तटस्थीकरण की घोषणा की,

यह प्रत्येक युद्ध में तटस्थ रहे और इस प्रकार तटस्थ राज्यों के अधिकारों एवं कर्तव्यों के नियमों का विकास हुआ। 1856 की पेरिस घोषणा में यह प्राविधान किया गया था कि शत्रु के यान पर लादे गये तटस्थ माल, जो युद्ध के लिए विनिषिद्ध माल नहीं हैं का विनियोजन नहीं किया जायेगा। अलाबामा क्लेम्स आर्बीट्रेशन 1872 में विवाचक निर्णयों में तटस्थ राज्यों के अधिकरों तथा कर्तव्यों को मान्यता दी गई ।

द्वितीय हेंग सम्मेलन 1907 में तटस्थता के रूढ़िगत नियमों का संहिताकरण किया गया। स्थल युद्ध तथा नौ सैनिक युद्धों में तटस्थ राज्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों के उपबन्ध कि गये । इसके बाद 1908 तथा 1909 में लंदन में आयोजित नौ सम्मेलन (Naval conference) में लंदन - घोषणा प्रस्तुत की गई। जिसमें कई नियम उपबन्धित किए गये। प्रथम महायुद्ध (1914-1918) जो कई देशों में फैल गया, तटस्थता के कई मान्य नियमों को लागू नहीं किया गया और बजाय तटस्थ राज्यों की निष्पक्षता को बनाये रखने के उन्हें संघर्ष में घसीटा गया। द्वितीय महायुद्ध (1939-1945) में तटस्थता की प्रास्थिति (Status) का सम्मान नहीं किया गया और एक के बाद दूसरा तटस्थ राज्य को युद्ध करने के लिये बाध्य किया गाय । यहाँ तक कि शक्तिशाली राज्य रूस और संयुंक्त राज्य पर भी बिना चेतावनी देकर आक्रमण किया गया। अतः तटस्थता के संस्था को बनाए रखना कठिन हो गया और तटस्थ राज्यों को संरक्षण देना संभव नहीं हो पाया। इन महायुद्धों का परिणाम यह रहा युद्धों को सीमित करने में अथवा हतोत्साहित करने में या अन्य राज्यों को युद्ध से अलग रहने में, तटस्थता का औचित्य निष्फल साबित हुआ।

तटस्थता के परिक्षेत्र को प्रतिबन्ध लगाने की विचारधारा की युद्धोपरान्त विकास से पुष्टि हुई है। उदाहरण के लिए क्षेत्रीय सुरक्षा संधियों में जैसे North Atlantic Security Pact, 1949 में

तटस्थता का पक्षकार राज्यों द्वारा युद्ध के दौरान परित्याग किया गया है। यदि संधि के पक्षकार राज्य पर आक्रमण किया जाता है तो संधि के अन्य पक्षकार राज्य उसकी सहायता करेंगे न कि तटस्थ रहेंगे अतः इस संधि के फलस्वरूप कोई राज्य जो उसका पक्षकार है तटस्थ नहीं रह सकता, यहाँ तक कि संयुक्त राज्य जो पिछले युद्धों में एक प्रभावशाली तटस्थ राज्य था वह भी इस संधि का पक्षकार है।

1.2 तटस्थता की युक्ति संगत आधार (Rational Basis of Neutrality)

तटस्थता को निम्नलिखित आधार पर उचित बताया गया है -

(1) इससे युद्ध सीमित हो जाता है।

(2) इससे युद्ध हतोत्साहित होता है।

(3) इसे तीसरे राज्य युद्ध से अलग रह सकते हैं।

(4) यह अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को नियंत्रित करता है।

परन्तु द्वितीय महायुद्ध का अनुभव यही रहा कि जहाँ तक उपर्युक्त (1) और (2) का प्रश्न है कई तटस्थ राज्य जैसे नार्वे, डेनमार्क, हार्वे, व बेल्जियम युद्ध में घसीटे गये क्योंकि जर्मन की सेनायें शक्तिशाली थी और उनके सामने वे टिक न पाये। इसका परिणाम यह रहा कि योरोप में जर्मनी की शक्ति में वृद्धि हुई और इटली भी जर्मनी के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हुआ। उधर जापान को भी जर्मनी का साथ देना पड़ा।

इससे स्पष्ट है कि तटस्थता के कारण न युद्ध सीमित रहे, न ही हतोत्साहित रहे। जहाँ तक बिन्दु (3) का प्रश्न है संयुक्त राज्य ओर रूस जो द्वितीय महा-युद्ध में तटस्थता को बनाए रखे रहना चाहते थे उन पर जर्मनी को जापान के हमलों के कारा युद्ध

में उतरना पड़ा ।

बिन्दु (4) के सम्बन्ध में राष्ट्र संघ (लीग आफ नेशन्स) का अनुभव 1920 से 1940 तक यह दर्शाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के बनाये रखने के लिए तटस्थता की संस्था की कोई सार्थकता नहीं है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत भी सदस्य राज्यों को तटस्थता रहने का आत्यंतिक (Aabsolute) अधिकार नहीं है । अतः स्टार्क के अनुसार वर्तमान तटस्थता की स्थिति सशर्त या सापेक्ष तटस्थता है।

1.6 तटस्थता तथा तटस्थीकरण में अन्तर (Difference between Neutrality and Neutralisation)

तटस्थता उन देशों की निष्पक्षता का दृष्टिकोण तथा विधिक स्थिति होती है जो युद्ध में भाग नहीं लेते। निष्पक्षता के एक दृष्टिकोण को मान्यता युद्धमान देश देते हैं और इस कारण तटस्थ देश तथा युद्धमान देश के कुछ अधिकार तथा कर्तव्य उत्पन्न होते है। । तटस्थता एक अस्थायी स्थिति है जो तटथ देशों और युद्धमान देशों के बीच बनी रहती है। तटस्थ देश जब चाहे अपनी तटस्थता का अन्त कर सकेते हैं उदाहरण के लिए अमरीका प्रथम विश्व युद्ध में प्रारम्भ में तटस्थ रहा परन्तु 1917 में उसने अपनी तटस्थता को अन्त कर दिया और युद्ध में भाग लिया। इसके विपरीत तटस्थी कारण किसी देश की तटस्थता की स्थायी स्थिति है जिसे किस अन्तर्राष्ट्रीय समझौते या संधि द्वारा प्रदान की जाती हैं कोई देश स्थायी रूप से तटस्थ रह सकता है यदि अन्य देशों द्वारा किसी संधि के माध्यम से उसे तटस्थ कर दिया जाता है । उदाहरण के लिए स्विटजरलैण्ड एक तटस्थीकृत (Neutralized) देश है।

प्रोफेसर स्वार्जन वर्जर (Schwarzan Berger) ने तटस्थता और तटस्थीकरण के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है -

अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा सम्बन्धी नियमों के अनुसार तटस्थ देश स्वतंत्र रहते हैं और अपनी तटस्थता की स्थिति का त्याग करके युद्ध में भाग ले सकते हैं।

परन्तु तटस्थीकृत देश ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें संधि द्वारा स्थायी तटस्थता प्रदान की गई है। वे अपनी तटस्थता को संधि पक्षकारों की स्वीकृति प्राप्त किये बिना छोड़ नहीं सकता। स्विटजरलैण्ड एक आदर्श तटस्थीकृत राज्य रहा है। इसने अपनी तटस्थीकरण की नीति का यहाँ तक पालन किया है कि संयुक्त राज्य का वह सदस्य नहीं बना क्योंकि ऐसा बनने से संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्देश देने पर किसी राज्य के विरूद्ध बल का प्रयोग करने के लिए बाध्य हो जाता है। परन्तु अब वह 10 सितम्बर ,2002 से संयुक्त राष्ट्र का सदस्य बन गया है।

स्टार्क ने तटस्थीकरण तथा तटस्थता के अन्तर को इस प्रकार बताया है। तटस्थता उस राज्य की एक स्वैच्छिक नीति है। जो राज्यों के मध्य युद्ध के समय अपनी तटस्थता की घोषणा करता है, तथा वह अस्थायी होती है। तटस्थीकरण एक स्थाई प्रास्थिति व सम्बन्धित शक्तियों के करार द्वारा प्रदान की जाती है और उनकी सहमति के बिना इसका त्याग नहीं कर सकता।

तटस्थता और तटस्थीकरण, तटस्थवाद और निर्गुटता (Neutralism and Non-alignment) से बिल्कुल भिन्न है। तटस्थता एक निष्पक्षता का दृष्टिकोण तथा विधिक स्थिति है। इसके विपरीत तटस्थवाद का प्रयोग केवल राजनैतिक दृष्टिकोण के लिए किया जाता है। तटस्थता आवश्यक रूप से युद्ध में भाग न लेने से सम्बन्धित है जबकि तटस्थवाद शीतयुद्ध (Cold war) में भाग न लेने से सम्बन्धित है और युद्ध तथा शान्ति दोनो से सम्बन्धित है। तटस्थतावाद या निर्गुटता का विधि में कोई महत्व नहीं है। इससे कोई अधिकार या उत्तरदायित्व उत्पन्न नहीं होते हैं। उदाहरण के

लिये भारत तटस्थवाद अथवा निर्गुटता की नीति को अपनाता है। वर्तमानकाल में निर्गुटवाद राज्यों का एक अलग गुट बना है।

1.7 तटस्थ राज्यों के अधिकार और कर्तव्य (Rights and Duties of Neutral States)

तटस्थता की प्रास्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों द्वारा तटस्थ राज्यों के कुछ अधिकार और कर्तव्य प्रदान किये गये हैं। ये अधिकार और कर्तव्य तटस्थ राज्यों तथा युद्धरत देशों के बीच सहसम्बन्धी है। अन्य शब्दों में तटस्थ राज्य के कर्तव्य युद्धरत देश के अधिकार होंगे और तटस्थ देशों के अधिकार युद्धरत देशों के कर्तव्य होंगे।

तटस्थ देशों के निम्नलिखित कर्तव्य हैं :-

(1) प्रविरत रहना (Abstention) - तटस्थ राज्य से युद्धरत राज्यों के प्रति तटस्थता को स्वीकार की अपेक्षा की जाती है। इन्हें किसी भी युद्धरत राज्य को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई सहायता नहीं देंगे। उसका कर्तव्य है कि युद्धरत राज्यों के साथ किसी सक्रिय या निष्क्रय सहयोग से प्रविरत रहना है अतः यह अपेक्षा की जाती है कि तटस्थ राज्य किसी भी युद्धरत राज्य को शस्त्र या गोला बारूद नहीं बेचेगा, न ही कोई जलयान देगा। युद्धरत राज्यों के सैनिकों को ईधन देने से प्रविरत रहने की अपेक्षा की जाती है। केवल सीमित ईधन देने का नियम है। यदि अपनी समीपस्थ बन्दरगाह पर पहुँचने के लिए ईधन की आवश्यकता पड़ती है । तटस्थ राज्य किसी भी युद्धरत राज्य को अपने स्थल या समुद्र द्वारा सार्वजनिक यान के यातायात के उपयोग की अनुमति नहीं देगा।

(2) निवारण (Prevention) - तटस्थ राज्य का कर्तव्य है कि

वह अपने राज्य क्षेत्र में युद्धरत राज्य के प्रति शत्रुतापूर्ण कार्यवाही को रोकेगा। उसे अपने राज्य क्षेत्र में युद्धरत राज्यों को सहायता देने की तैयारी को रोकना है वह अपने राज्य क्षेत्र में युद्धरत राज्यों की गतिविधियों को नहीं होने देगा जैसे- सैनिकों की भर्ती या युद्धरत राज्यों के बलों के प्रशिक्षण आदि। पुनः तटस्थ राज्य का कर्तव्य है कि अपने राज्य क्षेत्र पर सेनाओं के मार्ग को निरोध करें न ही युद्ध सामग्री भेजे। अपने राज्य क्षेत्र से किसी वायुयान को रोकने का कर्तव्य है जो शत्रुतापूर्ण कार्यवाही अथवा सैन्य प्रकृति की सेवाओं को करने के लिए आशायित है।

(3) मौन सहमति (Acquiescence)- तटस्थ राज्यों के मौन सहमति (उपमत) का कर्तव्य उन मामलों में है जो युद्धरत राज्य द्वारा वैध अधिकारों के प्रयोग द्वारा किये जाते हैं। उदाहरण के लिए युद्धरत राज्यों को प्रवेश, निरीक्षण तथा तलाशी (Visit, Inspection and search) का अधिकार है। इन अधिकारों के प्रयोग में यदि युद्धरत राज्यों को कोई नुकसान भी हो जाता है तो उन्हें सहमति देनी चाहिए। पुनः युद्धरत राज्य तटस्थ राज्यों के व्यापारिक कार्यों के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही करता है तो उसके लिए अपनी सहमति देनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि तटस्थ राज्य का कोई जलयान विनिषिद्ध माल (Contrabanned) किसी एक युद्धरत राज्य को ले जाता है तो दूसरा युद्धरत राज्य उसे पकड़ सकता है और अधिग्रहण कर सकता है। तथा नौ न्यायालय (Prize Court) में उसके विरूद्ध मुकदमा चला सकता है। तटस्थराज्य का यह कर्तव्य है कि यदि उसकी कार्यवाही द्वारा युद्धरत राज्य को क्षति पहुँचती है तो उसका प्रतिकर पीड़ित राज्य को प्रदान करे।

अलबामा (Arbitration) के निर्णय से स्पष्ट होता है कि यदि तटस्थ राज्य अपने कर्तव्यों का उल्लंधन करते हैं तो वे युद्धमान राज्यों को प्रतिकर अदा करने के लिए दायी हैं।

तटस्थ राज्यों के अधिकार (Rights of Neutral States) - तटस्थ राज्यों के अधिकार वे हैं जो उनके प्रति युद्धमान देशों के कर्तव्य होते हैं इनकी भी उपरोक्त तीन शीर्षकों में चर्चा की गई है।

(1) प्रविरत रहना (Abstention) - तटस्थ राज्यों का यह अधिकार है कि उनके राज्य क्षेत्र के युद्धमान देश किसी प्रकार का युद्ध से सम्बन्धित कार्य न करें। उनके राज्य क्षेत्र की अनतिक्रमणीयता (Inviolability) है। अतः युद्धमान देश तटस्थ राज्यों के संप्रभुता का सम्मान करने के लिए बाध्य है। उनके राज्य क्षेत्र में अथवा राज्य क्षेत्रीय समुद्र भाग में शत्रुतापूर्ण कार्य न करें।

(2) निवारण (Prevention) - तटस्थ राज्य का यह अधिकार है कि युद्धरत राज्य, तटस्थ देश के राजदूत, नागरिक आदि के साथ बुरा व्यवहार न करें। तटस्थ राज्य को इस बात के लिये यह देखने का अधिकार है कि युद्धरत राज्य क्षेत्र में निवास करने वाले नागरिकों के साथ कोई दुर्व्यवहार तो नहीं किया जा रहा है अथवा उनकी सम्पत्ति का अधिग्रहण अथवा उसे नष्ट तो नहीं किया जा रहा है।

(3) मूक सहमति (Acquiescence) - तटस्थ राज्यों के यह अधिकार है कि वे युद्धमान देश के सदस्यों को अपने यहाँ आश्रय प्रदान कर दें, हालांकि उन्हें निशस्त्र किया जायेगा और आवश्यक सतर्कता के अधीन रखा जायेगा। तटस्थ राज्य युद्धरत राज्य के सम्बन्धित नष्ट जलयान के घायल या बीमार व्यक्तियों को भी आश्रय प्रदान कर सकता है।

इस आश्रय को शत्रुतापूर्ण कार्य न मानना युद्धरत राज्य का कर्तव्य है और उसे मूक सहमति दे देनी चाहिये।

यदि तटस्थ राज्यों के अधिकार का उल्लंघन होता है, जैसे युद्धरत राज्य की सेना तटस्थ राज्य के राज्यक्षेत्र का अतिक्रमण करती है तो यह उसके संप्रभुता के प्रति एक दोषपूर्ण कार्य माना जाएगा और वह क्षतिपूर्ण देने के लिए बाध्य होगा।

तटस्थ राज्य को युद्धरत राज्यों के अतिरिक्त अन्य राज्यों के साथ व्यापार करने की स्वतंत्रता है और युद्धरत राज्यों को इस व्यापार करने के तटस्थ राज्य के अधिकार को नहीं रोका जा सकता ।

जहाँ तक तटस्थ राज्य का कर्तव्य है कि वह अपनी तटस्थता का उल्लंघन न करें, परन्तु यदि किसी शक्तिशाली राज्य द्वारा उनकी तटस्थता का उल्लंघन किया जाता है और वह उसे रोकने में समर्थ नहीं है तो इसके लिए यह क्षतिग्रस्त युद्धरत देश के प्रति कर्तव्य को पालन करने के लिए दायी न होगा।

यह भी हो सकता है कि तटस्थ राज्य कमजोर होने के कारण किसी युद्धमान शक्तिशाली राज्य को अपने राज्य में युद्ध सम्बन्धी कार्यवाही करने से रोक न पाये। ऐसी दशा में दूसरा युद्धरत राज्य हस्तक्षेप कर सकता है और इस प्रकार की युद्ध सम्बन्धी कार्यवाही के लिए तटस्थ देश के राज्य क्षेत्र को प्रयोग होने से रोक सकता है।

युद्धपोतों (Warships) को तटस्थ देश के राज्य क्षेत्रीय जल में निर्दोश मार्ग का (Innocent Passage) अधिकार है, और वे कुछ पर्याप्त कारणों से बन्दरगाह पर रूक भी सकते हैं। उदाहरण मौसम की खराबी या अति आवश्यक मरम्मत आदि के लिए। परन्तु युद्धरत देशों का इस अधिकार का दुरूपयोग नहीं करना चाहिए।

तटस्थता के सम्बन्ध में ईरान ईराक युद्ध (1980-1989)

ने एक इतिहास कायम किया जिसका कोई पूर्व में उदाहरण नहीं था। यह खाड़ी के देश को तेल की आपूर्ति करते हैं अतः खाड़ी में निरन्तर टैंकर्स का आना जाना बना रहता है। युद्ध के दौरान इन युद्धरत राज्यों ने न केवल पानी के अन्दर बारूद रखा बल्कि व्यापारिक जलयानों ने और तटस्थ राज्यों के जलयानों को भी क्षति पहुँचाई गयी। इनके व्यवहार से पूर्ण खाड़ी एक युद्ध क्षेत्र बन गया और तटस्थ राज्यों के नौचालन में व्यवधान आया। इन युद्धमान देशों का यह दायित्व था कि तटस्थ देशों के जलयानों को आवश्यक शांतिपूर्ण मार्ग प्रदान करें अतः संयुक्त राज्य, यू.के. तथा अन्य तटस्थ राज्यों ने अपने अधिकारों का प्रयोग किया और इस क्षेत्र में प्रवेश और यातायात बनाए रखा यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही भी की और बारूद के हटाने की कार्यवाही की।

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि तटस्थता के अन्तर्गत तटस्थ राज्य द्वारा युद्धमान राज्य के प्रति सहानुभूति रखना वर्जित नहीं है । उदाहरण के लिए यदि तटस्थ राज्य के नागरिक युद्धमान देश के पीड़ित नागरिकों को कुछ उपहार, चिकित्सा आदि भेजते हैं तो इस कार्यवाही को तटस्थता का उल्लंघन नहीं माना जायेगा। परन्तु तटस्थ राज्य का यह कर्तव्य है कि अपने नागरिकों को युद्धमान देशों के लिए हथियार बारूद आदि न भेजें, इसके लिए उसे आवश्यक नियंत्रण करना होगा।

1.8 सारांश

तटस्थता तीसरे राज्यों द्वारा युद्धमान राज्यों के प्रति अपनाये गये निष्पक्षता की प्रवृत्ति है।जो निष्पक्ष राज्यों तथा युद्धमान राज्यों के बीच अधिकारों और कर्तव्यों का सृजन करती है। इस प्रवृत्ति की मान्यता युद्धरत राज्य देते है।

तटस्थता की अवधारणा प्राचीन है परन्तु अट्ठारहवीं शताब्दी में वैकर शोयक ने तटस्थता को सही स्वरूप प्रदान करते हुए

स्पष्ट किया कि तटस्थ राज्यों को युद्धमान देशों के प्रति निष्पक्षता की प्रवृत्ति रखनी होगी। उन्नीसवीं शताब्दी में तटस्थता की अवधारणा में काफी विकास हुआ। तृतीय हेग सम्मेलन में तटस्थता के रूढ़िगत नियमों का संहिताकरण किया गया।

तटस्थता के युक्तसंगत आधार पर इसे उचित बताया गया है कि इससे युद्ध सीमित हो जाता है। तथा युद्ध हतोत्साहित होती है। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के अनुभव ने इन दोनों आधारों को गलत साबित किया । न चाहते हुए भी तटस्थ देशों को युद्ध में उतरना पड़ा।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत अब सदस्य राज्यों को तटस्थता का पात्यतिक अधिकार नहीं है। अतः वर्तमान तटस्थता की स्थिति सशर्त या साक्षेय तटस्थता है।

तटस्थता की प्रास्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों द्वारा तटस्थ राज्यों तथा युद्धमान के बीच कुछ सह-सम्बन्धी अधिकार एवं कर्तव्य हैं । अन्य शब्दों में तटस्थ राज्यों के कर्तव्य मुख्यतः देश के अधिकार होते हैं और तटस्थ देशों के अधिकार युद्धरत देशों के कर्तव्य है। इन्हें तीनों वर्गों में बांटा गया है। (1) प्रविरत रहना (2) निवारण तथा (3) यौन सहमति।

1.9 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

1. J.G. Starke - "Introduction to International Law."

2.. Oppenheim - International Law" Vol. I.

3. Harris - "Cases and Materials on International Law."

4. Brownlie - "Principles of Public International Law."

5. K.C. Joshi - "International Law and Human Rights.".

6. डा. एच. ओ. अग्रवाल - ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि''।

1.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. तटस्थता की परिभाषा कीजिए तथा उसके विकास पर टिप्पणी लिखिए ।
2. तटस्थता, तटस्थीकरण तथा निर्गुटता को स्पष्ट कीजिए तथा इनमें अन्तर बताइये।
3. तटस्थ राज्यों के अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्याख्या कीजिए।
4. युद्धरत राज्यों के तटस्थ देशों के प्रति क्या अधिकार एवं कर्तव्य हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. तटस्थीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. निर्गुटता की उपयोगिता बताइये।
3. निष्पक्षता की प्रवृत्ति का अर्थ बताइये।
4. तटस्थता का युक्तिसंगत आधार स्पष्ट कीजिए।
5. तटस्थतावाद क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "तटस्थता तीसरे राज्यों द्वारा यद्धमान राज्यों के प्रति अपनाये गये और युद्धमान राज्यों द्वारा मान्य निष्पक्षता की प्रवृत्ति है जो निष्पक्ष राज्यों तथा युद्धमान राज्यों के बीच अधिकारों तथा कर्तव्यों का सृजन करती है"-

   यह परिभाषा दी गई है -

   (अ) ओपेनहाइम द्वारा (ब) स्टार्क द्वारा

   (स) फेनविक द्वारा (द) ब्राउण्डी द्वारा

2. नैपोलियन युद्धों में संयुक्त राज्य अमरीका -

   (अ) तटस्थ था (ब) तटस्थ नहीं था

   (स) आंशिक रूप से तटस्थ था (द) इनमें से कोई

नहीं।

3. स्विटजरलैण्ड -

(अ) तटस्थ देश है (ब) तटस्थीकृत देश है।

(स) निर्गुट देश है। (द) इनमें से कोई नहीं

4. तटस्थ राज्य का निवारण के अन्तर्गत कर्तव्य होता है कि -

(अ) युद्धरत राज्य कोई सहायता न दे ।

(ब) अपने राज्य क्षेत्र में युद्धरत राज्य को कोई कार्यवाही करने से रोकना।

(स) युद्धरत राज्य को वैध कार्य के लिए मौन सहमति न देना

(द) इनमें से कोई नहीं।

5. तटस्थता के अन्तर्गत तटस्थ राज्य द्वारा युद्धरत राज्य के प्रति सहानुभूति का रूख रक्खा है -

(अ) वर्जित है। (ब) वर्जित नहीं है।

(स) कुछ मामलों में वर्जित है। (द) इनमे से कोई नहीं।

3.14 प्रश्नोत्तर

1. (अ)
2. (अ)
3. (ब)
4. (ब)
5. (ब)

इकाई -2 : निरीक्षण और तलाशी का अधिकार, संकटाधिकार, नाकाबन्दी, विनिषिद्ध

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 अतटस्थ सेवा परिचय

2.3 निरीक्षण तथा तलाशी का अधिकार

2.4 संकटाधिकार

2.5 नाकाबन्दी तथा उसके विभिन्न आयाम

2.6 विनिषिद्ध माल

2.7 विनिषिद्ध माल के प्रकार

2.8 सतत् यात्रा का सिद्धान्त

2.9 विनिषिद्ध माल के वहन का परिणाम

2.10 सारांश

2.11 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

2.12 सम्बन्धित प्रश्न

2.13 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

जब तटस्थ राज्य एक युद्धरत देश के प्रति पक्षता का कार्य करता है जिससे दूसरे युद्धरत राज्य को क्षति पहुँचती है तो ऐसे अतटस्थ सेवा के विरूद्ध युद्धरत राज्य को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों के अन्तर्गत निरीक्षण तथा तलाशी के अधिकार की इस इकाई में चर्चा की जाएगी। इसका अध्ययन करने के पश्चात आपः

- संकटाधिकार के विभिन्न पक्षों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- नाकाबंदी का अर्थ, उसके आवश्यक तत्व, नाकाबंदी की विधि तथा उसके प्रभाव आदि का विवेचन कर सकेंगे,
- विनिर्दिष्ट माल के विविध आयामों का परीक्षण कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

युद्ध के दौरान तटस्थ राज्यों से निष्पक्षता की प्रवृत्ति को अपनाने की बजाय जब तटस्थ राज्य ऐसे कार्य करते हैं जिससे एक राज्य के प्रति पक्षता का कार्य करते हैं और दूसरे युद्धरत राज्य को क्षति पहुँचती है तो ऐसे कार्य को अतटस्थ सेवा कहा जाता है। ये कार्य तटस्थ राज्य द्वारा जलयानों के माध्यम से या वायुयानों द्वारा किये जा सकते हैं। तटस्थ राज के प्राइवेट व्यक्तियो द्वारा किसी युद्धमान राज्य के लिए जलयान या वायुयान सैनिक, वैज्ञानिक या अन्य पत्राचार ले जाना अतटस्थ सेवा है।

2.2 अतटस्थ सेवा परिचय

प्रो. जूलियस स्टोन के अनुसार अतटस्थ सेवा से तात्पर्य किसी तटस्थ जहाज के स्वामियों या प्रभारी व्यक्तियों की ओर से किसी कार्यवाही या आचरण से है जिसके द्वारा जलयान (या वायुयान) को उन प्रयोजनों या उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया गया है जो एक राज्य के युद्धरत हित में वृद्धि कर सकता है और विरोधी के उसी हित को क्षति पहुँचाता है। अतटस्थ सेवा केवल विनिषिद्ध माल ले जाने या नाकाबन्दी भंग करने से अधिक व्यापक है। यह न केवल जलयानों परन्तु वायुयानों से भी सम्बन्धित है। इसमें व्यक्तियों को रोकना और वस्तुओं को हटाना

भी आता है। इसमें जहाजों का अधिग्रहण तथा प्राइज कोर्ट के समक्ष से जाना भी सम्मिलित है। ओपेनहीम के अनुसार अतटस्थ सेवा, तटस्थ जलयानों या वायुयानों द्वारा कुछ व्यक्तियों को ले जाने तथा शत्रु के लिए प्रेषण को शामिल करता है। लंदन घोषणा 1909 में अतटस्थ सेवा के सम्बन्ध के प्राविधान किया गया था कि अतटस्थ सेवा न केवल तटस्थ जलयान द्वारा शत्रु के लिए व्यक्तियों को ले जाने को शामिल करता है बल्कि उसके हित के लिए प्रेषित किये जाने या युद्ध में या अन्य कई कार्यों में सीधे भाग लेने को भी शामिल करता है। इस घोषणा द्वारा अतटस्थ सेवा के लिए नियम बनाए गये थे परन्तु अनुसमर्थन न प्राप्त हो सकने के कारण लागू नहीं किये जा सके। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़िगत नियम तथा राज्यों के व्यवहार पर अतटस्थ सेवा के नियम आधारित हैं ऐसी सेवा करने वाले तटस्थ देश के जलयानों अथवा वायुयानों में प्रवेश और तलाशी लेने का अधिकार भी है।

2.3 निरीक्षण तथा तलाशी का अधिकार

स्टार्क के अनुसार प्रवेश तथा तलाशी लेने का अधिकार विनिषिद्ध तथा नाकाबन्दी के उल्लंघन संबंधित हैं युद्धरत राज्य को तटस्थ राज्य के वाणिज्यिक पोत में प्रवेश करने और तलाशी लेने का अधिकार है।

यह अधिकार इस कारण दिया गया है कि यह निश्चित किया जा सके कि वे शत्रु के लिए अतटस्थ सेवा करने के लिए जलयात्रा कर रहे हैं अथवा नहीं। इस अधिकार का प्रयोग युद्धरत राज्यों के युद्धपोतों या सैनिक जलयानों द्वारा किया जा सकता है। यह अधिकार केवल युद्ध के दौरान ही किया जा

सकता है। इस अधिकार के प्रयोग में सावधानी बरतनी चाहिए। जिससे कि तटस्थ राज्यों को हर सुविधा हो। परन्तु यदि संन्देह हो तो ऐसे जहाजों के निरीक्षण और तलाशी के लिए बन्दरगाह पर लाया जा सकता है। और आवश्यकता पड़ने पर प्राइज कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है।इन अधिकार का प्रयोग खुले समुद्र में किया जा सकता है। इससे यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि जहाज का अधिग्रहण वैध है अथवा नहीं। यह एक मान्य नियम है कि अधिग्रहीत जहाज हो न डुबोया जा सकता है न जलाया जा सकता है।

निरीक्षण तथा तलाशी से सम्बन्धित मारिया वाद में यह निर्णय दिया कि प्रत्येक युद्धरत देश को खुले समुद्र में तटस्थ जलयान का निरीक्षण करने का अधिकार है और तलाशी लेकर यह मालूम किया जा सकता है कि अतटस्थ प्रकृति की कार्यवाही तो नहीं कर रहा है।

इस अधिकार का प्रयोग सावधानी से किया जाना चाहिए और शिष्टिता का व्यवहार सम्बन्धित व्यक्तियों के साथकरना चाहिए। यदि निरीक्षण तथा तलाशी से यह सिद्ध हो जाता है कि जहाज अवैध कार्यों में प्रयोग किया जाता है तो उसमें सामान को जब्त किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि उसको पहले प्राइज कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत किया जाए।

2.4 संकटाधिकार

संकटाधिकार का तात्पर्य उस अधिकार से है जिनके अन्तर्गत वह तटस्थ देशों के जहाजों का सामान जो कि उनके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत होता है, उपयोग के लिए ले सकते हैं। बशर्ते कि ऐसे जहाज स्वेच्छा से आये हों तथा युद्ध में उनके

प्रयोग की अत्यन्त आवश्यकता हो तथा उनके लिए पूर्ण प्रतिकर दिया जाय।

संकटाधिकार का प्रयोग युद्धरत राज्य आवश्यकता के समय कर सकता है। वह तटस्थ राज्य की सम्पत्ति यदि वह उसके राज्य क्षेत्र में या खुले समुद्र में पायी जाती है, का प्रयोग कर सकता है।

ओपेन हाइम के अनुसार, "संकटाधिकार, आवश्यकता के मामले में, आक्रमण तथा आत्मरक्षा के उद्देश्य के लिए युद्धरत राजय का अपने राज्यक्षेत्र मे या शत्रु के राज्य क्षेत्र में या खुले समुद्र में तटस्थ राज्य की सम्पत्ति को नष्ट करने या उसे प्रयोग करने का अधिकार है। (Right of Angary is a right of beligerents to destroy or use, in case of necessity for the purpose of offence and defense neutral property on a territory or on every territory, or on the open area) परन्तु युद्धरत देश को यह अधिकार नहीं है कि वे तटस्थ देश के व्यक्तियों को सेवायें अर्पित करने के लिए बाध्य करें। आधुनिक अधिकार केवल सम्पत्ति तक ही सीमित होता है। सभी प्रकार की तटस्थ सम्पत्ति जैसे - जहाज, अस्त्र, बारूद अथवा यातायात के अन्य साधन संकटाधिकार के अन्तर्गत ली जा सकती है। परन्तु यह आवश्यक है कि ऐसे सम्पत्ति सैनिक लक्ष्यों तथा कार्यों के लिए आवश्यक हो।

यह सामान्य नियम है कि संकटाधिकार के लिए ली गई सम्पत्ति का उचित प्रतिकर दिया जाय। यह अधिकार इस सिद्धान्त पर आधारित है कि राज्य का सर्वोच्च हित विधि पर अधिभावी होता है इस अधिकार के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं -

1. संकटाधिकार का प्रयोग सैनिक लक्ष्यों के लिए किया

जाए।

2. युद्धमान देशों को अधिकार होता है जब सम्पत्ति उनकी अधिकारिता के अधीन पायी जाए।

3. इस सम्पत्ति में जलयान या यातायात के अन्य साधन शस्त्र, गोला बारूद, खाद्य पदार्थ शामिल है जिसे युद्धरत राज्य द्वारा पकड़ा जा सकता है। प्रयोग किया जा सकता है या नष्ट किया जा सकता है। परन्तु वह तटस्थ राज्य के व्यक्ति को सेवा प्रदान करने के लिए विवश नहीं कर सकता है।

4. ऐसा सामान या जहाज स्वेच्छा से वहाँ आये हों

5. यह सामान युद्ध के लिए उपयोगी हो।

6. ऐसे जहाज तथा वस्तुओं की युद्ध के लिए अत्यधिक आवश्यकता हो या आपत्तिजनक आवश्यकता हो।

7. ऐसे जहाज तथा वस्तुओं के लिए युद्धमान देशों को पूर्ण प्रतिकर देना आवश्यक है। राज्य के अभ्यास से यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियम बन गया है कि पूर्ण प्रतिकर की अदायगी की जाय। ओपेनहाइम के अनुसार- "प्रत्येक मामले में तटस्थ राज्य की पूर्ण रूप से क्षतिपूर्ति की जानी चाहिए। प्रतिकर मूल्यांकन का ढंग तथा अदायगी का समय प्रत्येक मामले में भिन्न होता है।

संकटाधिकार के अधिकार से सम्बन्धित प्रमुख वाद जमोरा है। इसमें प्रीवी काउंसिल ने यह निर्णय दिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार युद्धमान देश उन सम्पत्तियों को जो प्राइज कोर्ट के समक्ष निर्णयाधीन है अधिग्रहण कर सकता है। परन्तु उसकी कुछ परिसीमाएं हैं जो इस प्रकार हैं -

(1) वस्तुओं तथा जहाज का अधिग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक हो।

(2) न्यायालय के परीक्षण में कोई वास्तविक प्रश्न होना चाहिए।

(3) प्राइज कोर्ट को निर्धारित करना होगा कि वाद की परिस्थितियों को देखते हुए अधिकार का उचित प्रयोग हुआ है या नहीं।

जमोरावाद के तथ्य - जमोरा स्वीडन का एक जहाज था जो न्यूयार्क से स्टाक होम जा रहा था। स्वीडन एक तटस्थ राज्य है। इस जहाज में तांबा तथा अनाज लदा हुआ था। 1915 में एक ब्रिटिश जहाज ने इसे मार्ग में रोक कर ब्रिटिश बन्दरगाह पर चलने को विवश किया। ब्रिटिश अधिकारियों का यह दावा था कि तांबा युद्ध की विनिषिद्ध सामग्री है। अतः इसे जब्त किया जाए। मामला प्राइज कोर्ट में ले जाया गया परन्तु इस बीच ब्रिटिश अधिकारियों ने तांबे को जब्त करने का आदेश दिया। जमोरा जहाज के स्वामियों ने इस आदेश के विरूद्ध आपत्ति की परन्तु एडमिरल टी कोर्ट ने सरकारी आदेश को वैध घोषित किया। इस आदेश के विरूद्ध एक जहाज के स्वामियों ने प्रीवी काउंसिल में अपील कर दी। प्रीवी काउसिंल में लार्ड पारकर ने एडमिरलटी कोर्ट के निर्णय को रद्द कर दिया और यह निर्णय दिया कि प्राइज कोर्ट यद्धपि राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत स्थापित होता है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्त के आधार पर अपने निर्णय देता है। प्राइज न्यायालय को प्राइज के रूप में पकड़ी गयी सामग्री या जहाज को स्वामी के हित में सुरक्षित रखना चाहिए। युद्धरत देश इस संकटाधिकार के अन्तर्गत माल को प्राइजकोर्ट के निर्णय के पूर्व तभी जब्त कर सकता है। जब

उसकी आवश्यकता राज्य की रक्षा, युद्ध के संचालन तथा राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो परन्तु ऐसे अधिकार का प्रयोग न्यायालय के समक्ष आवेदन पत्र देकर ही किया जा सकता है

प्रीवी काउंसिल के अनुसार प्राइज कोर्ट में निर्णय के पूर्व सरकार माल को जब्त कर सकती है परन्तु प्रतिबन्ध यह है कि पहले प्राइज न्यायालय के समक्ष आवेदन पत्र देकर उसकी अनुमति प्राप्त कर ली जाए। प्रस्तुत वाद में ब्रिटिश सरकार ने इन प्रतिबन्धों का पालन नहीं किया था अतः प्रीवी काउंसिल ने निचले न्यायालय के निर्णय को रद्द कर दिया और अपना निर्णय जहाज के स्वामियों के पक्ष में रखा।

2.5 नाकाबन्दी तथा उसके विभिन्न आयाम

युद्ध का उद्देश्य शत्रु राज्य पर विजय प्राप्त करना है। इस हेतु सभी प्रकार के उपायों का प्रयोग किया जाता है कि शत्रु देश कमजोर हो जाय और उस पर विजय प्राप्त कर ली जाय। इनमें से एक उपाय यह भी है कि शत्रु राज्य को आर्थिक रूप से कमजोर कर दिया जाय ताकि वह युद्ध प्रभावी रूप से न कर पाये। ऐसे आर्थिक उपायों में नाकाबन्दी और विनिषिद्ध माल मुख्य है। ये दोनों उपाय प्रथम और द्वितीय महायुद्ध में अपनाये गये थे। ओपेन हाइम के अनुसार "नाकाबन्दी का अर्थ है कि किसी युद्धरत देश द्वारा शत्रु देश के समुद्री किनारों या उसके किसी हिस्से पर सभी राष्ट्रो के जलयान या वायुयान के प्रवेश या निकासी या रोक लगा देना है। (A Blockade occurs when a belligerent bars access to the every coast or part of it for the purpose of preventing ingrass or egress of vessels or aircrafts of all nations).

नाकाबन्दी युद्ध के दौरान लागू की जाती है। पेरिस घोषणा 1856 के अनुसार नाकाबन्दी प्रभावशाली होनी चाहिए। और इसके लिए आवश्यकतानुसार शक्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। ओपेनहाइम ने यह स्पष्ट किया है कि नाकाबन्दी सभी राष्ट्रों के हवाई जहाज तथा समुद्री जहाजों के आने तथा जाने को रोकने के उद्देश्य से की जाती है। यह शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी से भिन्न है। शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का एक ढंग है और वह शांति के समय प्रयोग की जाती है। युद्ध के दौरान नाकाबन्दी दूसरे युद्धरत देश के समुद्री किनारों या उसके किसी भाग को सभी राष्ट्रों के जलयानों या वायुयानों को आने जाने पर रोक लगा देना है। शान्ति नाके बंदी में केवल एक विवादग्रस्त देश, दूसरे विवादी देश के समुद्री किनारों पर या उसके किसी भाग पर नाकाबन्दी करके केवल उसी देश के जलयानों और वायुयानों को आने जाने पर रोक लगा देता है। तटस्थ देशों के राज्यों के जलयानों या वायुयानों पर रोक नहीं लगाई जाती है।

नाकाबंदी की आवश्यक तत्व -

(1) नाकाबन्दी युद्धपोतों द्वारा की जाती है, यह युद्ध की कार्यवाही है और इसे युद्ध के दौरान किया जाता है।

(2) इसे शत्रु का सम्पूर्ण समुद्र तट या किसी भाग में लागू किया जाता है।

(3) नाकाबन्दी को सभी राष्ट्रों के जलयानों पर लागू किया जाता है। तटस्थ राज्यों के जलयान भी नाकाबन्दी के अधीन आते हैं। लन्दन घोषणा में यह प्राविधान किया गया था कि नाकाबन्दी को निष्पक्ष रूप से सभी राष्ट्रों के जलयानों के लिए लागू किया जाना चाहिए।

(4) नाकाबन्दी का उद्देश्य जलयानों के प्रवेश तथा निकासी को रोकना होता है। कभी कभी केवल प्रवेश को या केवल निकासी को रोका जा सकता है। ऐसे मामलों में नाकाबन्दी को आन्तरिक नाकाबन्दी या बाह्य नाकाबन्दी कहा जाता है । उदाहरण के लिए आन्तरिक नाकाबंदी शत्रु राज्य के, अन्य देशों के लिए खाद्यान्न की आपूर्ति को रोकने के लिए लागू किया जाता है।

नाकाबन्दी की विधि - नाकाबन्दी के सम्बन्ध में नियम लंदन घोषणा में दिये गये थे। यद्यपि इनका अनुसमर्थन राज्यों द्वारा औपचारिक रूप से नहीं किया गया परन्तु सामान्यतः इन नियमों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि में स्वीकार किया गया है।

(1) नाकाबन्दी का प्रभावी होना (Effectiveness of Blockade)-

नाकाबन्दी को बाध्यकारी होने के लिए प्रभावी होना चाहिए। पेरिस घोषणा 1856 में भी कहा गया था कि नाकाबन्दी तभी आबद्धकर होती है जब वह प्रभावशाली हो। लन्दन घोषणा में भी यह प्राविधान किया गया था कि नाकाबन्दी को प्रभावी होना चाहिए।

प्रभावी शब्द का अर्थ है कि इतनी शक्ति का प्रयोग किया जाए जो शत्रु देश के समुद्र तट में - जलयानों के प्रवेश करने या निकलने में रोकने के लिए उचित हो। नाकाबन्दी प्रभावशाली तभी मानी जाएगी जब कि जहाजों की संख्या इतनी हो ऐसी स्थिति में हो कि जहाजों का आना जाना खतरनाक हो। शक्ति समुचित होनी चाहिये। नाकाबन्दी कागजी न हो। अर्थात प्रत्येक जलयान के प्रवेश या निकासी को रोकने में सैनिकों की पर्याप्त संख्या में तैनाती के साथ बन्दरगाह या समुद्रतट की नाकाबन्दी

की जाए। उदाहरण के लिए 17वीं व 18वीं शताब्दी में ऐसे उदाहरण हैं जिसमें कागजी नाकाबन्दी की गई थी क्योंकि नाकाबन्दी हेतु घोषित समुद्रतट की लम्बाई इतनी अधिक थी कि नाकाबन्दी का प्रभावी प्रवर्तन नहीं किया जा सकता था।

(2) नाकाबन्दी की घोषणा तथा अधिसूचना -

अन्तर्राष्ट्रीय विधि में यह नियम है कि नाकाबन्दी भी उचित घोषणा व अधिसूचना होनी चाहिए। इसमें यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि नाकाबन्दी कब से प्रारम्भ होगी और कितनी सीमा में होगी। लंदन घोषणा (1909) में भी इस हेतु प्राविधान किए गये थे। घोषणा में नाकाबन्दी की प्रारम्भ की तिथि, प्रभावित सीमा तथा निकासी के लिए स्वीकृत अनुग्रह दिवसों (Days of Grace) का उल्लेख किया जाना चाहिए। यह इस कारण कि तटस्थ राज्य के जलयानों को इतना समय दिया जाए कि जिस शत्रु राज्य पर नाकाबन्दी की जा रही है वहाँ से वे बाहर निकल सकें। यह भी आवश्यक है कि नाकाबन्दी की अधिसूचना तुरन्त सभी तटस्थ राज्यो को दे दी जाए ताकि उन्हें कोई असुविधा न हो।

यह भी आवश्यक है कि नाकाबन्दी निरन्तर रहनी चाहिए और तटस्थ राज्यों के जहाजों के साथ भेदभाव का बर्ताव न किया जाये। सभी राज्यों के जहाजों या जलयानों को भेदभाव के बिना रोका जाना चाहिए।

नाकाबन्दी का अतिक्रमण (Breach of Blockade) - नाकाबन्दी का अतिक्रमण का अर्थ है कि नाकाबन्दी के बावजूद जलयान द्वारा नाकाबन्दी की सीमा का उल्लंघन किया जाए। यह तब होता है कि जब जलयान नाकाबन्दी को जानते हुए निषिद्ध मार्ग द्वारा नाकाबन्दी किए गये बन्दरगाह से उसमें प्रवेश करते हैं या उससे निकलते हैं या ऐसा करने का प्रयास करते हैं।

नाकाबन्दी का भंग एक अपराधिक कार्य है। हालांकि नाकाबन्दी का अतिक्रमण उस परिस्थिति में नहीं माना जाएगा यदि उल्लंघन करने वाले राज्य को उसका ज्ञान न हो। नाकाबन्दी को भंग करने वाले जलयान को पकड़ा जा सकता है और उसके माल का अधिग्रहण किया जा सकता है। जलयान के कर्मचारियों को निरूद्ध किया जा सकता है। परन्तु नाकाबन्दी को भंग करने वाले जहाज को प्राइज न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा।

यह आवश्यक है कि कोई राज्य नाकाबन्दी के उल्लंघन के लिए तभी दोषी होगा जब उसे नाकाबन्दी की पूर्व सूचना हो।

अमरीका तथा ब्रिटेन के व्यवहार के अनुसार नाकाबन्दी को तभी स्थापित माना जाता है जब उसकी स्थानीय तथा राजनैतिक सूचना दी जाए। फ्रांस के व्यवहार के अनुसार नाकाबन्दी का उल्लंघन तभी हो सकता है जब जहाज को नाकाबन्दी के क्षेत्र में आने से पहले से चेतावनी दे दी जाए।

नाकाबन्दी की समाप्ति (End of Blockade) - नाकाबन्दी निम्नलिखित तरीकों से समाप्त हो जाती है -

(1) युद्ध की समाप्ति पर नाकाबन्दी समाप्त हो जाती हैं ।

(2) जब नाकाबन्दी को स्थापित करने वाला देश उसे स्वयं समाप्त कर दे।

(3) जब शत्रु राज्य नाकाबन्दी करने वाले बेड़े को हटा लेता है।

(4) जब नाकाबन्दी का लगातार उल्लंघन होता और वह प्रभावशाली नहीं रहता तो नाकाबन्दी का अन्त माना जाता है।

(5) जब नाकाबन्दी करने वाला राज्य युद्ध में पराजित हो जाता है या वह शत्रु राज्य पर विजय प्राप्त कर लेता है जिसके समुद्र

तट पर नाकाबन्दी की गई हो।

सुदूरवर्ती नाकाबन्दी (Long distance Blockade)- इस प्रकार की नाकाबन्दी का प्रारम्भ प्रथम महायुद्ध के दौरान हुआ। यद्यपि परम्परागत तथा रूढ़िगत नाकाबन्दी को लागू किया गया था। परन्तु यह ज्यादा प्रभावी नहीं रह पायी थी। 1915 में ब्रिटेन ने उत्तरी सागर में विस्फोटक क्षेत्र घोषित कर दिया। और उसमें विस्फोटक सुरंगे बिछा दी इससे जर्मनी ने ब्रिटिश द्वीप के चौतरफा सागर खण्ड को युद्ध क्षेत्र घोषित किया था। और यह घोषणा की थी कि जो भी जलयान इसमें प्रवेश करेगा उसे नष्ट कर दिया जायेगा। और ऐसी ही घोषणा ग्रेट ब्रिटेन ने की थी। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा लागू की गई नाकाबन्दी प्रभावी नही थी। न ही वह नाकाबन्दी के नियमों के अनुरूप थी, ब्रिटिश सरकार ने इस सुदूरवर्ती नाकाबन्दी को नई परिस्थितियों में न्यायोचित ठहराया। अमरीका तथा अन्य तटस्थ देशों के दबाव के कारण सुदूरवर्ती नाकाबन्दी समाप्त कर दी गयी थी।परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध में पुनः ग्रेट ब्रिटेन द्वारा जर्मनी के विरूद्ध लागू की गई।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक काल में समुद्री युद्ध की परिवर्तित दशाओं के परिणाम स्वरूप पहले के नियम उपयुक्त नहीं हैं शत्रु को आर्थिक रूप से अलग करना नाकाबंदी के सिद्धान्त का नया विकास है। सुदूर नाकाबन्दी को आधुनिक काल में परिवर्तित संदर्भ में देखा जाना चाहिए तथा इसे परम्परागत विधि का उल्लंघन नहीं माना जाना चाहिए।

2.6 "विनिषिद्ध माल" (Contraband)

युद्ध का उद्देश्य शत्रु राज्य को पराजित करना होता है और इस हेतु सभी प्रकार के उपाय किये जाते हैं। विनिषिद्ध भी एक

आर्थिक उपाय है जिसके अर्न्तगत युद्धरत राज्यों द्वारा शत्रु राज्य में ऐसे माल के परिवहन को विनिषिद्ध घोषित कर दिया जाता है। जो शत्रु राज्य के पास पहुंचने पर उनकी सहायता पहुँचायेंगे। ऐसे को विनिषिद्ध कहा जाता है। ओपेनहाइम के अनुसार विनिषिद्ध ऐसे माल को कहा जाता है जिसे किसी युद्धरत राज्य द्वारा शत्रु राज में ले जाये जाने से इस आधार पर रोका जाता है। क्योंकि वे इसे और अधिक शक्ति से युद्ध करने में समर्थ बनाते हैं। प्रो. स्वार्जन बर्जर ने विनिषिद्ध का अर्थ उन वस्तुओं के लिए कहा है जिनका शत्रु देश को पहुँचाना वर्जित कर दिया गया हो। स्टार्क ने भी विनिषिद्ध ऐसी वस्तुओं के लिए कहा है जिन्हें युद्धमान देश आपत्तिजनक समझते हैं क्योंकि इनसे शत्रु को लड़ने में सहायता मिलती है।

विनिषिद्ध माल के सम्बन्ध में कुछ नियम पेरिस घोषणा 1856 में प्रतिपादित किये गये थे जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियम बन चुके हैं। युद्ध के दौरान युद्धरत देश विनिषिद्ध वस्तुओं को पकड़ सकते हैं चाहे वह माल तटस्थ देशों का हो अथवा शत्रु देश का हो। यह नियम इस बात पर आधारित है क्योंकि युद्ध के दौरान ऐसा करना आत्मरक्षा के हित में है। यह माल यदि शत्रु राज्य के पास पहुँचता है तो उनको शक्तिशाली बना देगा।

विनिषिद्ध माल के दो पहलू हैं माल के प्रकार तथा उसका गन्तव्य स्थान।

2.7 "विनिषिद्ध माल" के प्रकार (Kinds of Contra band goods)

लन्दन घोषणा 1909 में विनिषिद्ध माल के तीन प्रकार बताये थे -

पूर्ण विनिषिद्ध माल (Absolute-Contraband), सशर्त विनिषिद्ध माल (Conditional Contraband) तथा अविनिशिद्ध माल या मुक्त माल (Free Articles).

पूर्ण विनिषिद्ध माल ऐसा मल है जो केवल युद्ध के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसके अन्तर्गत शस्त्र, गोला, बारूद आदि आते हैं जो युद्ध से सम्बन्धित हैं। इन वस्तुओं में सैनिक सामान के लिए नौसैनिक समान तथा किसी प्रकार की अन्य वस्तुओं उदाहरण के लिए मिलट्री पोशाकें, मिलट्री कैम्प के उपकरण, मशीनें जो बारूद बनाने के काम में आती हैं यह सामान विनिषिद्ध ही माना जाता है और बिना घोषणा के इसे पकड़ा जा सकता है और अधिग्रहीत किया जा सकता है।

कुछ ऐसा माल जो होता है जिसका प्रयोग युद्ध के दौरान और शांति के समय किया जा सकता है। यह सामान युद्ध में और शान्तिपूर्ण प्रयोजनो के लिए प्रयुक्त किये जाने के लिए सक्षम है। इसे सशर्त विनिषिद्ध माल कहते हैं। इन वस्तुओं में खाद्य पदार्थ, ईधन रेलपथ, गाड़ियाँ, कोयला आदि आता है। इस माल को भी शत्रु राज्य या शत्रु सेना के पास जाने से मार्ग में रोक सकते हैं और पकड़ने वाला राज्य अधिग्रहीत माल को अधिग्रहित कर सकता है।

उपरोक्त दो श्रेणियों के अतिरिक्त एक तीसरी माल की श्रेणी भी आती है जिसका उपयोग युद्ध में नहीं किया जा सकता है। यह स्वतंत्र माल है इसे अविनिषिद्ध माल भी कहा जाता है या मुक्त वस्तु कहा जाता है। उदाहरण के लिए- साबुन, रंग, फैंसी माल, चीनी मिट्टी के कप-प्लेट आदि।

उपरोक्त वर्गीकरण यद्यपि लंदन घोषणा द्वारा किया गया था इस घोषणा का राज्यों द्वारा अनुसमर्थन नहीं किया गया था।

अतः राज्य इनसे बाध्य नहीं है । इस सम्बन्ध में राज्यों के बीच कोई सामान्य करार भी नहीं है कि कौन सा सामान इस वर्ग में आता हैं। यहाँ तक कि विधि शास्त्री तथा नौ न्यायालय के न्यायाधीश भी एक मत नहीं है। कि कौन सामान किस वर्ग में शामिल किया जा सकता है।

राज्यों के व्यवहार में भी एकरूपता का अभाव है और विसंगतियां हैं। दोनों महायुद्धों में ऐसे माल जो 19वीं शताब्दी में अवनिषिद्ध माल की श्रेंणी में आता था। उसे युद्धरत देशें ने पूर्ण विनिषिद्ध माल अथवा सशर्त माल भी श्रेणी में रखा जाता है। इन महायुद्धों में महान विधि वेत्ताओं के मतों तथा लार्ड स्टोवैल एवं अन्य प्राइज न्यायालयों के निर्णयों को कोई महत्व नहीं दिया गया और युद्धरत देश अपनी नीतियों जो युद्ध के समीचीन थी, उसके आधार पर सभ प्रकार के वस्तुओं व पदार्थों को विनिषिद्ध माल घोषित किया। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा दोनों महायुद्धों में विनिषिद्ध माल की लम्बी सूचियाँ बनाई जो इस बात को प्रमाणित करता है कि पुराने व्यवहार को नहीं माना गया। युग, के नये उपकरण तथा युद्ध सामग्री को ध्यान में रखते हुये कोई भी ऐसी वस्तु नहीं थी जो युद्ध में काम न आ सके। युद्धरत देशों में आत्म रक्षा के आधार पर अपनी ऐसी विस्तृत माल की सूचियां विनिषिद्ध में बनाई जो सिद्ध करती है कि पुराने पूर्व के नियम और व्यवहार की उपेक्षा की गई।

विनिषिद्ध माल का गन्तव्य स्थान - यह आवश्यक है कि विनिषिद्ध माल को पकड़ने से पहले उसका शत्रुपूर्ण गन्तव्य स्थान हो। शत्रुपूर्ण गन्तव्य तब माना जाएगा जब माल को शत्रु के बन्दरगाहों या उसके सशस्त्र बलों को भेजा जा रहा हो या वह तटस्थ राज्य के बन्दरगाह के लिए भेजा जा रहा हो परन्तु उसे

बाद में शत्रु राज्य के बन्दरगाह पर भेजा जाए।

2.8 सतत यात्रा का सिद्धान्त (The Doctrine of Continuous Voyage)

विनिषिद्ध माल के गन्तव्य स्थान से सम्बन्धित सतत यात्रा का सिद्धान्त लार्ड स्टोवैन द्वारा प्रतिपादित किया गया था। सामान्यतः माल को तब विनिषिद्ध माल माना जाता है जब वह शत्रु राज्य को भेजा जाता है।पकड़े जाने से बचने के लिए जलयानों पर विनिषिद्ध माल का गन्तव्य स्थान तटस्थ राज्य दिखाया जाता था परन्तु बाद में उसे शत्रु राज्य को भेज दिया जाता था। इसलिए यह नियम प्रतिपादित किया गया कि भले ही माल का गन्तव्य स्थान तटस्थ राज्य हो किन्तु अन्तिम या अव्यक्त गन्तव्य स्थान यदि शत्रु राज्य है तो उसे भी विनिषिद्ध माल माना जा सकता है। और उसे पकड़ा जा सकता है। ऐसे मामलों में विनिषिद्ध माल की दो यात्रायें होती थी। पहली एक तटस्थ राज्य के बन्दरगाह से दूसरे तटस्थ राज्य के बन्दरगाह तक और दूसरी-तटस्थ राज्य के बन्दरगाह से शत्रु - राज्य के बन्दरगाह या राज्य क्षेत्र तक। इन दोनों यात्राओं को एक ही यात्रा माना गया और सतत यात्रा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। स्टार्क के अनुसार सतत यात्रा उस जोखिम को शामिल करती है जिसके विनिषिद्ध माल को तटस्थ राज्य के बन्दरगाह तक ले जाया जाता है। और बाद में शत्रु के गन्तव्य स्थान तक ले जाया जाता है। चूँकि दोनों यात्राओं का प्रयोजन माल को शत्रु राज्य तक पहुँचाना है, ऐसी स्थिति में सतत यात्रा के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी समय चाहे वह पहली यात्रा कर रहा हो अथवा दूसरी यात्रा कर रहा हो पकड़ा जा सकता है।

सतत यात्रा के सिद्धान्त को ब्रिटिश कोर्ट ने कई मामलों में लागू किया और दि किम 1915, बाद में न्यायालय ने विनिश्चिय किया कि सतत यात्रा का सिद्धान्त राष्ट्रों की विधि का एक भाग बन चुका है। इस निर्णय में यह भी कहा गया कि विधिक निर्णयों में मान्य सिद्धान्तों तथा समुद्री युद्ध में आधुनिक राज्यों के व्यवहारों ने इस सिद्धान्त को मान्यता दी है। ब्रिटिश कोर्ट ने इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या की और यह कहा कि विनिषिद्ध माल को पहली यात्रा के दौरान जो तटस्थ राज्य को गन्तव्य बनाती है और उससे यह स्पष्ट है कि माल का अन्तिम गन्तव्य शत्रु राज्य है पकड़ा जा सकता है और अधिग्रहीत किया जा सकता है। सतत यात्रा के सिद्धान्त को दूसरे शत्रु राज्य के न्यायालय ने भी स्वीकार किया।

माल के पकड़े जाने के कारण काफी असुविधा तो होती है, इस असुविधा से बचने के लिए प्रथम महायुद्ध में भी इस प्रथा को प्रयोग किया गया कि तटस्थ राज्यों के जलयानों को एक प्रमाण पत्र जिसे नौ पत्र दिया जाता था जिसके कारण जलयानों को पकड़ने या तलाशी लेने से छूट मिल जाती थी। परन्तु यदि ऐसे तथ्य प्रतीत होते थे कि नौ पत्र के बावजूद जलयान में विनिषिद्ध माल है तो शत्रु राज्य को यह प्राधिकार था कि उसे पकड़ कर तलाशी ली जाए और यदि विनिषिद्ध माल पाया जाता है तो उसे अधिग्रहीत किया जा सकता है।

2.9 विनिषिद्ध माल के वहन का परिणाम (Consequences of Carriage of Contraband)

यदि उसे खुले समुद्र में या उसे युद्धरत राज्य क्षेत्रीय समुद्र में पकड़ा जाये, राज्य द्वारा पकड़ने पर अधिग्रहीत किया जा

सकता है। कुछ परिस्थितियों में विनिषिद्ध माल को ले जाने वाले जहाज को भी अधिग्रहीत किया जा सकता है। तटस्थ राज्य के राज्य क्षेत्रीय समुद्र में अभिग्रहण तटस्थता का उल्लंघन होता है यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विनिषिद्ध माल तथा जलयान को अभिग्रहण करने का युद्धरत राज्य का अधिकार अंतिम नहीं है, इससे उस देश द्वारा स्थापित प्राइज न्यायालय के समक्ष विचारण के बाद पुष्टि करने की आवश्यकता है। प्राइज कोर्ट पकड़ा गया माल तथा जलयान की वैधता की विधिकता को देखेगी और तभी उसे प्राइज माल मानकर उसको अधिग्रहीत करने का विनिश्चय करेगी। प्राइज कोर्ट अपने क्षेत्राधिकार को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के अनुसार प्रयोग करेगी। उसे यदि न्यायालय प्राइज मानती है तो पकड़ने वाले राज्य द्वारा अपनी राष्ट्र विधि के अनुसार निस्तारण किया जायेगा।

2.10 सारांश

जब तटस्थ राज्य किसी एक युद्धमान राज्य के पक्षता का कार्य करता है जिससे दूसरे युद्धमान राज्य को क्षति पहुँचती है तो ऐसे कार्य का अंतरस्थ सेवा कहते है।। इसमें दूसरे युद्धमान देश को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। इनमे तटस्थ देश के जलयानों तथा वायुयानों में प्रवेश और तलाशी लेने का अधिकार भी है। यह अधिकार इस कारण दिया गया है कि यह निश्चित किया जा सके कि वे शत्रु के लिये अतटस्थ सेवा करने के लिए जलयात्रा कर रहे हैं अथवा नहीं । इस अधिकार का प्रयोग युद्ध के दौरान युद्धरत राज्य के युद्धपोतों या सैनिक जलयानों द्वारा किया जा सकता है।

संकटाधिकार के अन्तर्गत युद्धरत देश तटस्थ देशों के

जहाजों व सम्पत्ति जो कि उनके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत होता है, उपयोग के लिये ले सकते हैं। यह आवश्यक है कि जहाज स्वेच्छा से आये हों तथा युद्ध में उनके प्रयोग की अत्यन्त आवश्यकता हो तथा उनके लिये पूर्ण प्रतिकर दिया जाय। इस अधिकार में तटस्थ देश के व्यक्तियों को सेवाएं अर्पित करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

युद्ध की उद्देश्य की पूर्ति हेतु शत्रु राज्य को आर्थिक रूप से कमजोर किया जा सकता है ताकि वह युद्ध प्रभावी रूप से न कर पाये। ऐसे आर्थिक उपायों में नाकाबंदी तथा विनिषिद्ध माल मुख्य हैं। नाकाबंदी में युद्धरत देश द्वारा शत्रु देश के समुद्री किनारों या उसके किसी हिस्से पर सभी राष्ट्रो के जलयान या वायुयान के प्रवेश या निकासी पर रोक लगायी जाती है। इसका उद्देश्य यह है कि शत्रु राज्य की आपूर्ति को बाधित किया जा सके ताकि वह आर्थिक रूप से कमजोर हो जाय।

विनिषिद्ध भी एक आर्थिक उपाय है जिसके द्वारा युद्ध राज्यों द्वारा शत्रु राज्य में ऐसे माल के परिवहन को विनिषिद्ध कर दिया जाता है जो शत्रु राज्य में ऐसे माल के परिवहन को विनिषिद्ध कर दिया जाता है जो शत्रु राज्य के पास पहुँचने पर उनकी सहायता पहुंचायेगा। युद्ध के दौरान युद्धरत देश विनिष्द्धि वस्तुओं को पकड़ सकते हैं । चाहे वह माल शत्रु देश का हो या तटस्थ देश का। विनिषिद्ध माल यदि खुले समुद्र में या युद्धरत राज्य क्षेत्रीय समुद्र में पकड़ता हो तो उसे अधिग्रहीत किया जा सकता है। परन्तु विनिषिद्ध माल पकड़ने के बाद वह राज्य अपने देश में स्थापित प्राइज कोर्ट के समक्ष विचारण हेतु रखेगा। प्राइज कोर्ट उस माल की वैधता को देखकर ही उसको अधिग्रहीत

करने का विनिश्चय करती है।

2.11 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

1. J.G. Starke - "Introduction to International Law."
2. Oppenheim - International Law" Vol. I.
3. Harris - "Cases and Materials on International Law."
4. Brownlie - "Principles of Public International Law."
5. K.C. Joshi - "International Law and Human Rights.".
6. डा. एच. ओ. अग्रवाल - "अन्तर्राष्ट्रीय विधि"।

2.12 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रवेश तथा तलाशी लेने का अधिकार के बारे में व्याख्या कीजिए।
2. संकटाधिकार से क्या समझते हैं? इसके क्या आवश्यक तत्व हैं?
3. नाकाबन्दी से क्या समझते हैं? इसके क्या आवश्यक तत्व हैं?
4. विनिषिद्ध किसे कहते हैं। सतत यात्रा का सिद्धान्त क्या है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विनिषिद्ध माल के वहन का परिणाम बताइये।
2. नाकाबन्दी का अंग क्या है?
3. जमारोवाद के बारे में बताइये।
4. नाकाबन्दी का समापन किस प्रकार होता है?
5. सुदूरवर्ती नाकाबन्दी क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. नाकाबन्दी के लिए कौन सी शर्त आवश्यक नहीं है -

   (अ) इसकी घोषणा (ब) समय और स्थान की सूचना

   (स) इसमें भेदभाव करना (द) इसका प्रभावीकरण

2. तटस्थ राज्य का क्या विधिक कर्तव्य नहीं है?

   (अ) परिवर्तन (ब) निवारण

   (स) क्षतिपूर्ति (द) सुलह का प्रयास

3. जमोरावाद सम्बन्धित है -

   (अ) संकटाधिकार से (ब) उत्तराधिकार

   (स) प्रत्यर्पण (द) इनमें से कोई नहीं

4. प्राइज न्यायालय है -

   (अ) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय। (ब) राष्ट्रीय न्यायालय

   (स) क्षेत्रीय न्यायालय (द) प्राचीन न्यायालय

5. युद्ध के दौरान की गई नाकेबन्दी में -

   (अ) सभी देशों के जहाजों को आने जाने से रोका जाता है। (ब) केवल शत्रु देश के जहाजों को आने जाने से रोका जाता है।

   (स) केवल कुछ ही देशों के जहाजों को आने जाने से रोका जाता है। (द) इनमे से कोई नहीं।

2.14 प्रश्नोत्तर

1. (स)
2. (द)
3. (अ)
4. (ब)
5. (अ)

इकाई -3 संयुक्त राष्ट्र-चार्टर के अन्तर्गत तटस्थता

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 संयुक्त राष्ट्र-चार्टर के अन्तर्गत तटस्थता

3.3 संयुक्त राष्ट्र और विश्व शान्ति

3.4 सशस्त्र बल के प्रयोग को शामिल बरने वाले उपाय

3.5 संयुक्त राष्ट्र की महासभा की भूमिका

3.6 महासचिव की भूमिका

3.7 शान्ति के लिए कार्यसूची

3.8 निवारक कूटनीति

3.9 शान्ति कायम रखना

3.10 उत्तर संघर्ष शान्ति निर्माण

3.11 सारांश

3.12 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

3.13 सम्बन्धित प्रश्न

3.14 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के पश्चात तटस्थता की अवधारणा के बारे में चर्चा की गयी है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के पूर्व तटस्थता की स्थिति तथा चार्टर में किये गये प्रावधानों पर टिप्पणी कर सकेंगे।

- संयुक्त राष्ट्र की महासभा तथा सुरक्षा परिषद द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा हेतु की गयी कार्यवाही के विशिष्ट मामलों का उल्लेख कर सकेंगे,
- उस संदर्भ में सदस्यों द्वारा अपनायी गयी तटस्थता की नीति का विवरण कर सकेंगे, तथा
- महासचिव की इस संबंध में भूमिका, निवारक कूटनीति तथा उत्तर संघर्ष शान्ति निर्माण का विवेचन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

संयुक्त राष्ट्र से पूर्व राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई थी। राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा ने तटस्थता को काफी प्रभावित किया था। तटस्थता की अवधारणा प्रभावित हुई। तटस्थता युद्ध से सम्बन्धित है और राष्ट्रसंघ में दो प्रकार के युद्ध का उल्लेख किया गया था। पहला राष्टसंघ की संविदा के प्राविधानों के उल्लंघन किये बिना किया गया जो युद्ध जो निषिद्ध नहीं था और दूसरा प्रसंविदा इस संविदा के उल्लंघन में किया गया युद्ध जो निषिद्ध था । पहले प्रकार के युद्ध के लिए राष्टसंघ का कोई भी सदस्य अपनी समस्या को युद्ध द्वारा निपटाने के पूर्व उसे न्यायिक निर्णय, विवाचन, मध्यस्थम अथवा परिषद की जाँच द्वारा निपटायेगा। यदि इन ढंगों द्वारा समस्या का हल नहीं होता तो वह तीन माह तक युयद्ध नहीं करेगा। यदि तीन माह की प्रतीक्षा करने के बाद भी समस्या हल नहीं होती तो वे युद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार प्रसंविदा के प्राविधानों के अनुपालन करते हुए युद्ध के अधिकार का सदस्य राज्य प्रयोग कर सकते थे। इस दशा में तीसरे राज्य युद्ध से अपने को अलग रख सकते थे और तटस्थता को परम्परागत तरीके से बनाए रखते थे। लेकिन इसी प्रकार के युद्ध

ने तटस्थता को प्रभावित किया। यह युद्ध प्रसंविदा की बाध्यताओं के उल्लंघन में किये जाते थे और इन्हें अवैध माना जाता था। यदि ऐसा युद्ध किया जाता था तो उसे राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के अनु. 16 के अनुसार राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों के विरूद्ध की गई युद्ध की कार्यवाही मानी जाती थी। ऐसे मामले में राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों का यह उत्तरदायित्व हो जाता था कि व राष्ट्रसंघ की सहायता करें और उनसे आक्रमण से पीड़ित राज्य को सहायता देने की अपेक्षा की जाती थी। इस प्रकार तीसरे देश तटस्थ नहीं रह सकते थे। फैन्विक (Fenwick) के अनुसार राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा ने तटस्थता की पुरानी विधि का अन्त कर दिया।

ओपनहाइम के अनुसार इस प्रसंविदा द्वारा तटस्थता की विधि को पूर्णतया समाप्त नहीं किया है।ओपेनहाइम का मत उचित प्रतीत होता है क्योंकि उन मामलों में भी जहाँ प्रसंविदा के प्राविधानों के उल्लंघन में युद्ध होता था तो कुछ राज्यों द्वारा तटस्थता अपनाई जा सकती थी जैसे गैर सदस्यों द्वारा । उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य और बाद में जापान , जर्मनी तथा इटली गैर सदस्य थे। राज्यों के व्यवहार से भी यह देखने में आया कि राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद जो युद्ध हुए थे, उनमें भी राज्यों द्वारा तटस्थता की प्रवृत्ति को अपनाया था।

ब्राण्ड कैलोग समझौता 1928 के अधीन तटस्थता की स्थिति (Neutrality under the Briand Kellogg Pact 1928) - इसके अन्तर्गत राज्य पक्षकारों ने यह संकल्प किया था कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए युद्ध नहीं करेंगे तथा युद्ध का प्रयोग राष्ट्रीय नीति के रूप में त्याग देंगे। यद्यपि इस संधि में कोई तटस्थता के सम्बन्ध में प्रगट प्राविधान नहीं था क्योंकि तटस्थता युद्ध से सम्बन्धित प्रस्थिति है अतः यह सोचा गया कि समझौते

का परिणाम तटस्थता की संस्था को भी प्रभावित करेगा। बाद में देखने में यह आया कि यह समझौता युद्ध को निषिद्ध नहीं कर सका। द्वितीय विश्व युद्ध में कई राज्यों के साथ संयुक्त राज्य ने भी तटस्थता की घोषणा की थी। जर्मनी ने तटस्थ राज्यों के अधिकारों का उल्लंघन किया। परन्तु इसके बावजूद तटस्थता की अवधारणा का परित्याग नहीं किया गया था। स्विटजरलैण्ड, स्वीडन तथा स्पेन ने अपनी तटस्थता को बनाए रखा।

3.2 संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत तटस्थता

संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण के बाद, चार्टर ने तटस्थता की पुरानी विधि को बदल ही दिया। केलसन के अनुसार तटस्थ देश की निष्पक्षता के नियमों का चार्टर द्वारा अन्त हो गया है। यह उल्लेखनीय है कि चार्टर में युद्ध की अवधारणा का परित्याग कर दिया गया है। और "युद्ध" शब्द का प्रयोग इसके प्राविधानों में नहीं किया गया है। केवल सशस्त्र संघर्ष का प्रयोग किया गया है। तटस्थता युद्ध की अवधारणा से सम्बन्धित है।

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में अनु. 2(5) में प्रावधान किया गया है कि सभी सदस्य संयुक्तराष्ट्र को चार्टर के अनुसार कार्यवाही करने में सभी प्रकार की सहायता देंगे और ऐसे राज्य को सहायता नहीं देंगे जिसके विरूद्ध कार्रवाई की जा रही है।अतः सुरक्षा परिषद के द्वारा यदि चार्टर के अनुच्छेद 41, 42 और 43 के अन्तर्गत सामूहिक कार्रवाई की जाती है। तो अन्य सदस्यों का एक विधिक दायित्व है कि ऐसी कार्रवाई में सहायता दें। कोई सदस्य सुरक्षा परिघद के द्वारा सामूहिक कार्रवाई के निर्णय के अन्तर्गत की गई कार्रवाई का विरोध नहीं कर सकता कि वह तटस्थता की नीति का पालन करना चाहता है क्योंकि अनु. 25 के अनुसार संयुक्तराष्ट्र के वे सुरक्षा परिषद के विनिश्चयों को

स्वीकार करने और उनका पालन करने के लिए सहमत हैं । इससे स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक रूप से संयुक्त राष्ट्र का कोई सदस्य सुरक्षापरिषद द्वारा की गई। कार्रवाई में तटस्थ नहीं रह सकता। इन्हीं प्राविधानों के आधार पर कई विधि शास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया है कि चार्टर ने तटस्थता की विधि का अन्त कर दिया है। परन्तु कुछ विधि शास्त्रियों ने यह भी कहा है कि ऐसी भी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें सदस्य तटस्थ रह सकते हैं। जब सुरक्षा परिषद किसी ऐसे राज्य के विरूद्ध मतभेद के कारण निर्णय नहीं ले पाती उस दशा में अन्य सदस्य तटस्थ रह सकते हैं। ओपेनहाइम ने ठीक ही कहा है कि चार्टर ने तटस्थता की विधि को अत्यधिक प्रभावित किया है। परन्तु इसे पूर्णतः समाप्त नहीं किया है। स्टार्क ने भी यह मत है कि तटस्थता की विधि का चार्टर द्वारा पूर्णतया अन्त नहीं हुआ है। जब सुरक्षा परिषद किसी देश के विरूद्ध सामूहिक कार्रवाई करती है तो यह आवश्यक नहीं कि वह सभी सदस्यों से सहायता के लिए कहे। अतः स्टार्क के अनुसार वर्तमान तटस्थता की विधि को सशर्त या साक्षेप तटस्थता (qualified Neutrality) कह सकते हैं। क्योंकि ऐसे राज्य युद्धरत देशों की सहायता नहीं करेंगे परन्तु उन सदस्य राज्यों की सहायता करेंगे जो सुरक्षा परिषद के आदेश पर सामूहिक कार्रवाई कर रहे हैं। स्टार्क के मौलिक शब्दों में "States are bound not to assist the belligerant states against which enforcement measures are directed, and must also assist the member states actually taking the measures."

उन मामलों में भी जहाँ भले ही सुरक्षा परिषद यह समझती है कि कोई देश शान्ति का उल्लंघन कर रहा है अथवा उसने आक्रमण कर दिया है परन्तु स्थायी सदस्य द्वारा निषेधाधिकार

(Veto Power) के कारण उसके विरूद्ध कोई कार्रवाई नहीं की जा सकती तो ऐसी परिस्थिति में भी संयुक्त राष्ट्र के सदस्य अपनी तटस्थता बनाये रख सकते हैं। अतः एक राज्य चार्टर बनने के बाद भी निम्नलिखित परिस्थितियों में तटस्थ रह सकता है।

(1) जब सुरक्षा परिषद यह निर्णय न ले सके स्थायी सदस्यों के निषेधाधिकार की शक्ति के प्रयोग के कारण सशस्त्र संघर्ष से शान्ति के प्रति खतरा हो गया है या शान्ति भंग हो गयी है या यह एक आक्रामक कार्रवाई है तो अन्य राज्य तटस्थता की प्रवृत्ति अपना सकते हैं।

(2) चार्टर के अनुच्छेद 51 के अनुसार जब तक सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखने का उपाय नहीं कर लेती। राज्यों को यदि उसके प्रति सशस्त्र आक्रमण किया गया है, आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग में बल प्रयोग करने का अधिकार है । यदि सुरक्षा परिषद स्थायी सदस्यों द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण परिषद कोई उपाय करने में असफल रहती है तो ऐसे संघर्ष में अन्य राज्य तटस्थता की प्रवृत्ति अपना सकते हैं।

(3) जब सुरक्षा परिषद दोषी देश के विरूद्ध चार्टर के अनुच्छेद 42 के विरूद्ध कार्रवाई करने का विनिश्चय करती है तो ऐसे मामले में सुरक्षा परिषद को अनु. 48(1) के अधीन यह निश्चित करना होता है कि कार्रवाई संयुक्त राष्ट्र के सभी राज्यों द्वारा या उनमें से कुछ राज्यों द्वारा की जायेगी। जब सुरक्षा परिषद द्वारा की जाने वाली कार्रवाई में किसी राज्य से भाग लेने की अपेक्षा नहीं की जाती तो वह सशस्त्र संघर्ष से अलग रह सकता है।

3.3 'संयुक्त राष्ट्र और विश्वशान्ति'

सुरक्षा परिषद की भूमिका - संयुक्तराष्ट्र की स्थापना 24 अक्टूबर 1945 को की गई थी जिसका मुख्य उद्देश्य था कि विश्व शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखा जाय। यह कार्य सुरक्षा परिषद को मुख्यतः दिया गया था। चार्टर के अनुच्छेद 24 के प्राविधान किया गया कि यह सुनिश्चित करने के लिए कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा तत्परता और प्रभावपूर्वक कार्यवाही की जाए, उनके सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाये रखने की प्राथमिक जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद को सौपते हैं। अनुच्छेद 25 में यह कहा गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य इस चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद के विनिश्चयों को स्वीकार करने और उसे पालन करने के लिए सहमत हैं। यह कार्य उनके द्वारा दो प्रकार से निभाना था। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण साधनों द्वारा और दूसरा निवारक और प्रवर्तन कार्रवाई द्वारा।

(1)शांतिपूर्ण साधनों द्वारा (By Peaceful means) - चार्टर का अध्याय 6 (अनुच्छेद 33-38) सुरक्षा परिषद द्वारा शांतिपूर्ण तरीकों से विवादों का निपटारा करने के प्राविधान करता है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को खतरा होने की संभावना है। अनुच्छेद 33 में इस प्रकार के विवादों हेतु सुरक्षा परिषद पक्षकारों से अपेक्षा करती है कि वे वार्ता, जॉच मध्यस्थता,सुलह माध्यस्थम, न्यायिक निपटारे क्षेत्रीय अभिकरणों या व्यवस्थाओं अथवा अपनी इच्छानुसार अन्य शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा तय करने का प्रयास करेंगे। अनुच्छेद 34 के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद किसी ऐसे विवाद का या किसी ऐसी स्थिति का जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह हो सकता है। या कोई विवाद उत्पन्न हो सकता है यह अवधारित

करने के लिए अन्वेषण कर सकती है कि क्या विवाद या स्थिति के बने रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को खतरा पहुँच सकता है। अनुच्छेद 35 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र का कोई संदर्भ या गैर सदस्य किसी भी ऐसे विवाद को सुरक्षा परिषद या महासभा के समक्ष ला सकता है। अनुच्छेद 99 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र का महासचिव भी किसी इस प्रकार के मामले पर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित कर सकता है। सुरक्षा परिषद अनुच्छेद 36 के अन्तर्गत विपक्षी पक्षों को विवाद के निपटारा हेतु समुचित प्रक्रिया या पद्धति की सिफारिश कर सकती है। सुरक्षा परिषद यह भी सिफारिश कर सकती है। कि विधिक विवाद पक्षकारों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को निर्दिष्ट करने चाहिये।

यदि किसी विवाद का निपटारा अनुच्छेद 33 में बताये गये शान्तिपूर्ण ढंग से करने में पक्षकार असफल रहते हैं तो इस विवाद का निपटारा करने के लिए सुरक्षा परिषद को भेजेंगे (अनुच्छेद 37) तथा सुरक्षा परिषद निपटारे के लिए किसी विशिष्ट उपाय या ढंग करने की सिफारिश कर सकती है। सुरक्षा परिषद ने इन का प्रयोग किया है। चड (Chad) ने लीबिया (Libya) के विरूद्ध सुरक्षा परिषद ने 1983 में शिकायत की थी तो सुरक्षा परिषद ने दोनों राज्यों से संयुक्त राष्ट्र तथा अफ्रीकी एकता संगठन (Organisation of African Unity)के चार्टर के आधार पर बिना विलम्ब के तथा शांतिपूर्ण ढंग अपने मतभेदों का निपटारा करने के लिए कहा। उसी प्रकार सुरक्षा परिषद ने 1982 में फाकलैण्ड द्वीप (Falk Land Islands) के अर्जेन्टाइना द्वारा अधिग्रहण के मामले में अर्जेन्टाइना तथा युनाइटेड किंगडम के बल प्रयोग या उसके धमकी देने से प्रवरति रहने के लिए कहा

था।

अनुच्छेद 34 में सुरक्षा परिषद को यह अन्वेषण करने का अधिकार है कि क्या कोई विवाद या स्थिति के बने रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का अस्तित्व खतरे में पड़ने की सम्भावना है । यह कार्य सुरक्षा परिषद ने भारत-पाक के बारे में तथ्यों का अन्वेषण करने हेतु 1948 में भारत पाकिस्तान स्वतंत्र आयोग का गठन करके किया था।

यदि विवाद के सभी पक्षकार सुरक्षा परिषद से अनुरोध करते हैं तो सुरक्षा परिषद विवाद के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए पक्षकारों को सिफारिश कर सकती है।। (अनुच्छेद 38) । कार्फू चैनेल वाद (Corfu Channel Case) में सुरक्षा परिषद ने यूनाइटेड किंगडम तथा अलबानिया से विवाद को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपने की सिफारिश की थी।

(2)प्रवर्तन कार्यवाही द्वारा (By Enforcement Action) - सुरक्षा परिषद का अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य चार्टर के अध्याय 7 (अनुच्छेद 39-51) के अन्तर्गत दिये गये हैं। ये निवारक (Preventive) और प्रवर्तन (Enforcement action) के बारे में हैं।

चार्टर के अनुच्छेद 39 में यह प्राविधान कि सुरक्षा परिषद प्रथम यह विनिश्चय करती है कि क्या किसी विवाद के कारण शांति के लिए संकट शांति भंग या आक्रामक कार्य विद्यमान है और यदि वह इस निश्चिय पर पहुँचती है तो वह इस बात का निर्धारण करेगी कि अंतर्राष्ट्रीय शांति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए या उसे पुनः स्थापित करने के लिए अनुच्छेद 41 और 42 के अनुसार कौन से उपाय किये जायें । यद्यपि शांति के लिये खतरा 'शांति यंग' या 'आक्रामक कार्यवाही (Threat

to the peace breach of peace or act of aggression) के विफल होने के विषय में निर्णय करने की विधिक बाध्यता है परन्तु कभी कभी इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है। आक्रामक कार्यवाही की परिभाषा करके संयुक्त राष्ट्र की विशेष समिति द्वारा महासभा के 1974 में प्रस्तुत की थी जिसे महासभा द्वारा 14 दिसम्बर 1974 को स्वीकार कर लिया। इस परिभाषा के अनुसार किसी राज्य द्वारा दूसरे अन्य राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता, क्षेत्रीय अखंण्डता या राजनैतिक स्वतंत्रता के विरूद्ध चार्टर से किसी भी प्रकार असंगत रूप से सशक्त शक्ति का प्रयोग 'आक्रामक कार्यवाही होगी। राज्य शब्द में वे भी राज्य शामिल होगे जिन्हें मान्यता नहीं मिली है अथवा जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं इस परिभाषा में उन कार्यों का उल्लेख किया गया है तो आक्रामक कार्रवाई के अन्तर्गत आते हैं। वास्तव में महत्वपूर्ण बात तो यह है किस प्रकार संयुक्त राष्ट्र दूसरे राज्य के विरूद्ध अतिक्रमण करने से रोक सकेगा तथा दोषी राज्य को दंडित कर सकेगा। शान्ति के लिये खतरा या शान्ति भंग होती है या नहीं इसका निर्णय सुरक्षा परिषद करती हैं। यह गैर प्रक्रिया (Non procedural) विषय है, इस लिए इसका निर्धारण स्थायी सदस्यों के सहमति मतों को सम्मिलित करके नौ सदस्यों के मतों द्वारा किया जाता है।यहाँ पर निषेधाधिकार के प्रयोग का अधिकार स्थायी सदस्यों को मिलता है। अतः सुरक्षा परिषद गम्भीर मामलों में भी यह इन्कार कर सकती है कि शान्ति के लिए खतरा है या शान्ति भंग हुई है।शीत युद्ध समाप्त होने के बाद परिषद ने कई मामलों में राज्यों के विरूद्ध कार्रवाई की है कि शांति के लिये खतरा है या शान्ति भंग हुई है।

चार्टर के अनुच्छेद 40 में प्राविधान किया गया है कि अनुच्छेद 41 या 42 के अधीन कार्य करने के पहले सुरक्षा

परिषद स्थिति को गम्भीरता को रोकने हेतु अनन्तिम उपाय (Provisional Measures) अपना सकती है। इन उपायों को अनुच्छेद 40 में सूचीबद्ध नहीं किया गया है किन्तु इनमें युद्ध रोकना (Cease fire), अधिग्रहीत राज्य क्षेत्र से सेना की वापसी, अन्तरिम सीमा रेखा का निर्धारण, असैनिक क्षेत्र की स्थापना, मध्यवर्ती क्षेत्र (buffer zone) हो सकते हैं। उदाहरण के लिये ईरान ईराक संघर्ष में 1987 के सुरक्षा परिषद ने युद्धबंदी भूमि पर, समुद्र में और वायुमंडल के सभी संघर्षों को समाप्त करने आदि के लिए कहा था। इन अन्तरिम उपायों का अनुसरण न करने पर शान्ति भंग माना जा सकता है।

चार्टर का अनु. 41 प्राविधान करता है कि सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों को दोषी देश के विरूद्ध ऐसे उपायों के लिए कह सकती है जिसमें बल का प्रयोग शामिल न हो। इन उपायों में आर्थिक संबंधों और रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और संचार के अन्य साधनों को पूर्ण या आंशिक रूप से बंद किये जाने तथा राजनैतिक सम्बन्ध का विच्छेद करना सम्मिलित हैं। शीत युद्ध के पूर्व ऐसे उपाय दक्षिण अफ्रीका की स्थिति के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद ने 1977 में रंग भेद (apartheid) के कारण शस्त्र प्रतिबंध अधिरोपित किया था। 1966 में दक्षिण रोडेशिया के एक पक्षीय स्वतंत्रता की घोषणा के कारण आर्थिक अनुशास्ति अधिरोपित की थी। विवाद कई उत्पन्न हुए थे परन्तु निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में निर्णय लेने में असमर्थ रहीं। पूर्व और पश्चिम के मध्य शीश्त युद्ध के कारण सुरक्षा परिषद अपने उत्तराधिकारियों को पूर्ण करने में तथा चार्टर द्वारा दी गई शक्तियों को प्राप्त करने में असफल रही। बावेट (Bowett) ने अपनी

पुस्तक International Organization 1965 में टिप्पणी की थी कि सुरक्षा परिषद की असफलता चार्टर के प्राविधानों में किसी संवैधानिक दोष के कारण न होकर अधिकतर सदस्यों के दृष्टिकोण के कारण है।

परन्तु शीतयुद्ध के समाप्त होने के बाद परिषद ने सक्रिय भूमिका अदा की है। इसका मुख्य कारण सोवियत संघ का विघटन है जिसमें परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका एक मात्र महाशक्ति बन गया है । अतः अनु. 41 के अन्तर्गत विभिन्न मामलों में सुरक्षा परिषद द्वारा सशस्टत्र बल के प्रयोग के बिना कई उपाय किये हैं -

(1) ईराक के कुवैत पर आक्रमण के बाद 1990 में सुरक्षा परिषद ने ईराक के विरूद्ध आज्ञापरक (Mandatory) आर्थिक अनुशास्ति (Economic Sanction) अधिरोपित की।

(2) लीबिया द्वारा किये गये बम विस्फोट के कारण विमानों के विनाश और फलस्वरूप कई व्यक्तियों की मृत्यु के कारण सुरक्षा परिषद ने 1992 में लीबिया के विरूद्ध कई प्रतिबन्ध लागू किये जिसमें लीबिया को शस्त्र और कई प्रकार के सामानों को प्राप्त करने से रोका गया। उस देश से हवाई यातायात को भी प्रशिक्षित किया गया था।

(3) यूगोस्लाविया में आंतरिक अव्यवस्था के कारण कोरिया, स्लोवेनिया और मैक्सीडोनिया, यूगोस्लाविया से अलग हो गये और स्वतंत्र राज्य बन गये। इस कारण संघर्ष प्रारम्भ हो गया और सुरक्षा परिषद ने 1992 में युद्धबन्दी करने का संकल्प पारित किया। बाद में स्थिति बिगड़ जाने के कारण 1993 में आर्थिक प्रतिबंध भी लगाए गये। इसके द्वारा यूगोस्लाविया को वस्तुओं और उत्पादों के भेजने पर

पालन करने में असफल रहा तो सुरक्षा परिषद ने सभी राज्यों से यह कहा कि सूडान में पंजीकृत सभी वायुयानों को अपने राज्य क्षेत्र में उड़ान भरने या आने या अपने राजय क्षेत्रों के ऊपर उड़ने की आज्ञा न दें।

3.4 सशस्त्र बल के प्रयोग को शामिल करने वाले उपाय (Measures involving use of Armed Forces)

चार्टर के अनु 42 में यह प्राविधान किया गया है कि यदि सुरक्षा परिषद यह समझती है कि संयुक्तराष्ट्र चार्टर के अनु. 41 में उल्लिखित उपाय पर्याप्त नहीं हैं या वे अपर्याप्त साबित हो गये हैं तो वह वायु , समुद्र या स्थल सेनाओं के माध्यम से ऐसी कार्यवाही कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने या पुर्नस्थापित करने के लिए आवश्यक है। ऐसी कार्रवाई के अन्तर्गत सदस्य राज्यों द्वारा बल प्रदर्शन, नाकाबन्दी और अन्य कार्य किये जा सकते हैं।

अपचारी राज्य के विरूद्ध तत्काल तथा प्रभावी कार्रवाई को सुनिश्चित करने के लिए अनु. 43 में यह उपबन्ध किया गया है कि सुरक्षा परिषद के निर्देश पर संभी सदस्य विशेष करार (special agreement) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को बनाए रखने के प्रयोजन के लिए आवश्यक सशस्त्र बल सहायता और सुविधाएं जिनमें मार्ग अधिकार भी सम्मिलित है, उपलब्ध करायेंगे। यह करार सुरक्षा परिषद और सदस्यों के बीच किए जाएंगे और हस्ताक्षर करने वाले राज्यों की अपनी अपनी संवैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार उनका अनुसमर्थन हो जाने पर लागू होंगे। दुर्भाग्यवश अब तक ऐसा कोई करार नहीं किया जा सका है । अतः समय पर सुरक्षा परिषद के मागे जाने पर सदस्य राज्यों

द्वारा सशस्त्र बल उपलब्ध कराए गये हैं । चार्टर के अनु. 46 में प्राविधान किया गया है कि सशस्त्र बलों को काम में लेने की योजनाएं सुरक्षा परिषद द्वारा सैन्य कर्मचारी समिति (military staff committee) के सहयोग से बनाई जाएगी, अनु. 47 में प्राविधान किया गया है कि सैन्य कर्मचारी समिति में सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य या उनके प्रतिनिधि होंगे।

इन प्रावधानों के अनुसरण में इस समिति का गठन अवश्य हुआ परन्तु सुरक्षा परिषद के सदस्यों के मध्य मतभेदों के कारण यह समिति निष्क्रिय सी रही। 1950 में कोरिया के मामले में, 1990 में खाड़ी समस्या में तथा 1992 में सोमालिया 1994 में रवांडा तथा हैती में सामूहिक कार्यवाही की है। कोरिया मामले में 27 जून 1950 को सुरक्षा परिषद ने यह सिफारिश की थी कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य गणतंत्र को ऐसी सहायता दे जो सशस्त्र आक्रमण को रोकने तथा उस क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को पुनः स्थापित करने के लिए आवश्यक हो। संयुक्त राज्य ने कोरिया सरकार की सेनाओं को सहायता और समर्थन देने के लिए वायु तथा सामूहिक बलों का आदेश दे दिया। बाद में थल सेना को भी भेजा। कोरिया के समुद्रतट में नाकेंबंदी भी की थी। इसी प्रकार खाड़ी संकट में भी सुरक्षा परिषद ने सदस्य राज्यों को अधिकृत किया था कि वे कुवैत के वापस होने के लिए जो आक्रमणकारी राज्य था उसके विरूद्ध सशस्त्र बल प्रयोग किया जाए। इन दोनों मामलों में सुरक्षा परिषद ने स्वयं कार्यवाही करने का निर्णय नहीं लिया था क्योंकि वह सदस्य राज्यों के साथ विशेष करार नहीं कर सकी थी। जिसके लिए चार्टर के अनु. 43 के अधीन यह आवश्यक था। कोरिया के मामले में संयुक्त राज्य के अधीन एकीकृत कमान (Unified command)

भेजी थी । इस कार्यक्रम में भाग लेने वाले सैनिक बलों ने अपने राष्ट्र के ध्वज के साथ संयुक्तराष्ट्र के ध्वज का भी प्रयोग किया था। बाद में इस कमान का नाम संयुक्त राष्ट्र कमान (U.N. Command) कर दिया गया। इस कमान का गठन संयुक्त राष्ट्र के व्यक्तिगत प्रयासों से किया गया था। उ. कोरिया के आक्रमण को रोकने के लिए सुरक्षा परिषद से अनुमति प्राप्त करने के बाद संयुक्त राज्य के नेतृत्व में सदस्यों द्वारा ऐच्छिक कार्रवाई की गई थी। यह सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर थी न कि उसके निर्णय पर। इसी प्रकार खाड़ी संकट में भी ईराक से अपने बलों को वापस बुलाने हेतु सुरक्षा परिषद ने बहुराष्ट्रीय बल द्वारा कार्रवाई करने के लिए 28 राज्यों से कहा था। यह 1991 में किया गया था इस कार्रवाई का नेतृत्व भी संयुक्त राज्य द्वारा किया गया था। इन सैन्य बलों में संयुक्त राज्य का काफी अनुपात था। यह जरूर है इस कार्रवाई के लिए अमरीका ने ही पहल की थी और कुवैत की स्वतंत्रता और प्रभुसम्पन्नता को 27 फरवरी 1991 को पुनः स्थापित कराया गया। और उसके बाद बहुराष्ट्रीय बलों को आक्रामक युद्ध कार्रवाई को निलम्बित कर दिया गया। ईराक ने भी सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष को 1994 में पत्र भेजकर यह स्वीकार किया था कि वह कुवैत की प्रभुत्व सम्पन्नता, राज्य क्षेत्रीय अखंडता तथा राजनैतिक स्वतंत्रता की मान्यता की संपुष्टि करता है।

सोवियत संघ के विघटन के कारण अमेरिका एक मात्र महाशक्ति बन गया। यही कारण था कि इराक के विरूद्ध सुरक्षा परिषद ने प्रभावी भूमिका अदा की। सुरक्षा परिषद ने अमेरिका के नेतृत्व में तथा उनके सहयोगी देशों की सेना को ईराक के विरूद्ध ययुययद्ध करने का अधिकार दे दिया। यद्धपि रूस के ईराक

के साथ अच्छे सम्बन्ध थे परन्तु उन्होंने निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं किया। अमरीका ने एक मात्र महाशक्ति होने के कारण आधुनिक काल में, सुरक्षा परिषद की कोई स्वीकृति न होने के बावजूद ईराक पर 2003 में सशस्त्र बल का प्रयोग किया और वहाँ की सद्दाम हुसैन की सरकार को हटा दिया। उन्होने अपनी सैनिक कार्रवाई को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया कि ईराक में महाविनास वाले शस्त्रों (W.M.D.) के अड्डे है। विश्वशांति को बनाये रखने के लिए इन अड्डों को समाप्त करना आवश्यक है। इस कार्रवाई में उनके मित्र देशों यू.के., जापान, फ्रांस, इटली आदि ने साथ दिया। सद्दाम हुसैन तथा उनके साथियों को गिरफ़्तार करके मुकदमा मानवता के विरूद्ध अपराधों के लिए मुकदमा चलाया गया और उसको मृत्युदण्ड सुनाया गया है। इस विचारण को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मानकों के विरूद्ध कहा गया है। यह एक गम्भीर विषय है कि संयुक्त राज्य ने सुरक्षा परिषद के बिना सहमति के कार्यवाही की है। यह प्रश्न सूचक है कि सुरक्षा परिषद क्या वास्तव में प्रभावी है। इससे स्पष्ट होता है कि पूरी घटना में सुरक्षा परिषद निष्कर्ष रही है।

3.5 संयुक्त राष्ट्र की महासभा की भूमिका

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाए रखने का प्रमुख उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद को दिया गया था परन्तु यह भी पूर्व अनुमान था कि स्थायी सदस्यों को दिये गये निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद कार्रवाई करने में असफल रह सकती है। अतः महासभा को भी चार्टर के अनुच्छेद 10 के अन्तर्गत यह अधिकार दिया गया था कि वह किसी भी विषय या प्रश्न पर सदस्य राज्यों को या सुरक्षा परिषद को या दोनों से

सिफारिश कर सकेगी। अनुच्छेद 11(1) के अन्तर्गत महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए सहकार्य के साधारण सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है और इन सम्ब : में सदस्यों को या सुरक्षा परिषद को या दोनों को सिफारिश कर सकती है। इसी अनुच्छेद परिच्छेद 2 में यह भी कहा गया है कि महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने से सम्बन्धित, ऐसे सभी प्रश्नों पर विचार विमर्श कर सकेगी जो किसी राज्य द्वारा या सुरक्षा परिषद द्वारा या गैर सदस्य द्वारा उनके समक्ष लाये जाए। महासभा सुरक्षा परिषद का ध्यान ऐसी परिस्थितियों की ओर आकर्षित कर सकती है। जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को संकट में पड़ने की सम्भावना हो। हालांकि महासभा द्वारा चार्टर में कोई ऐसा प्राविधान नहीं किया गया था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के बनाए रखने के लिए सामूहिक कार्य करेगी लेकिन महाशक्तियों की विचारधाराओं तथा नीतियों के अन्तरर्गत सुरक्षा परिषद को अपने प्रमुख उत्तरदायित्व को निभाने में असमर्थ रहने पर महासभा ने यह कार्य किया है।

स्थायी सदस्यों द्वारा प्रयोग किए गये निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद अपने प्रमुख कार्य को प्रभावी ढंग से नहीं कर पाई । इस कारण महासभा ने 3 नवम्बर 1950 को शांति के लिए संगठित होने का संकल्प (Uniting for Peace Resolution) पारित किया । इस संकल्प में प्रावधान किया गया कि यदि सुरक्षा परिषद अपने स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति की कमी के कारण शान्ति बनाये रखने में अपने प्राथमिक उत्तरदायित्व का प्रयोग करने में विफल हो जाती है तो महामना उन मामलों में जिनमें उसे प्रतीत होता है कि वह शांति को धमकी, शांति का उल्लंघन या आक्रमण की कार्रवाई है तो वह सामूहिक उपायों के लिए सदस्यों को सिफारिश करने के लिए तत्काल मामले पर

विचारण करेगी। इसमें दोषी देश के खिलाफ सशस्त्र बल का प्रयोग करना भी शामिल होगा। यदि महासभा सत्र में न हो तो सुरक्षा परिषद या संयुक्तराष्ट्र के सदस्यों के बहुमत द्वारा आपात कालीन विशेष सत्र आहूत किये जाने वाले अनुरोध के चौबीस घंटे के भीतर ऐसा सत्र बुलाया जा सकता है।

इसी संकल्प में 14 सदस्यों की शांति पर्यवेक्षण आयोग (Peace observation Commission) का गठन किया गया जिसमें सुरक्षा परिषद के पाँच स्थायी सदस्य भी शामिल थे। आयोग का कार्य उन क्षेत्रों में परिस्थिति का पर्यवेक्षण करने का कार्य और उस पर रिपोर्ट देना था जहाँ शांति को खतरा है। इसके अलावा इसी संकल्प में 14 सदस्यों को सामूहिक उपाय समिति (Collective Measures Committee) की स्थापना की जो ऐसे तरीकों पर रिपोर्ट देगी जिन्हें कायम रखने के लिए सामूहिक रूप से उपयोग किया जा सकता था।

शांति के लिए संगठित होने के प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा ने नवम्बर 1956 में स्वेज नहर विवाद जो इजराइल, इजिप्ट, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के बीच में था, उसमें युद्ध स्थगित करवाने में सफलता प्राप्त की। स्वेज क्षेत्र में शांति की स्थिति गारंटी करने के लिए संयुक्तराष्ट्र आपातकालीन बल (U.N. Emergency force) बनाया गया और अंततः वहाँ शान्ति और व्यवस्था पुनःस्थापित की गई। इसी प्रकार कांगों में शांति व्यवस्था बनाने के लिए महासभा ने इसी प्रस्ताव के अन्तर्गत 19 सितम्बर 1960 में महासचिव को प्राधिकृत किया। इसके 4 नवम्बर 1982 को भी इसी प्रस्ताव के अन्तर्गत फोर्कलैण्ड द्वीप में प्रभुसत्ता के विवाद को शांतिपूर्ण ढंग से निपटाने हेतु यू.के. और अर्जेण्टाइना को वार्ता द्वारा विवाद समाप्त करने के लिए निर्दिष्ट किया। यह

अलग बात है कि यू.के. ने इस प्रस्ताव को नहीं माना।

अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के क्षेत्र में महासभा को महत्वपूर्ण अधिकार एवं शक्तियां प्राप्त होने का परिणाम यह हुआ कि अन्ततः यह शक्तियों संयुक्ताष्ट्र के महासचिव को प्राप्त हो गई। क्योंकि महासभा को प्रदत्त अधिकारों व शक्तियों का प्रयोग व्यवहार में वही करता है। अतः विश्वशांति के सम्बन्ध में जो मुख्य केन्द्र सुरक्षा परिषद में था वह महासभा में आ गया और महासभा से महासचिव के पास पहुँच गया।

3.6 महासचिव की भूमिका

संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता में वृद्धि, शीतयुद्ध की समाप्ति नये सदस्यों द्वारा गुटनिरपेक्षता की नीति (Non Alignment Policy) के कारण संयुक्त राष्ट्र की कार्यप्रणाली में नई दिशायें देखने में आयी।

31 जनवरी 1992 में सुरक्षा परिषद का शिखर सम्मेलन (Security Council Summit) आयोजित किया गया जिसका मुख्य विषय था अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने में सुरक्षा परिषद का उत्तरदायित्व । इस सम्मेलन में महासचिव से यह कहा गया कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को सुदृढ़ करने के लिए सुझाव दे। महासचिव बुतरस घाली ने शांति के लिए कार्य सूची (Agenda for Peace) नामक एक विशेष रिपोर्ट 23 जुलाई 1992 को प्रस्तुत की।

3.7 शांति के लिए कार्यसूची (Agenda for Peace)

महासचिव द्वारा प्रस्तुत की गयी जिसमें महासचिव बुतरस घाली ने कहा कि शीत युद्ध की समाप्ति के बाद बड़े और छोटे राज्यो मे यह विश्वास विकसित हुआ है कि संयुक्त राष्ट्र के महा

उद्देश्यों , जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखना है, में संयुक्त राष्ट्र संघ संक्षम है और इसकी भूमिका में वृद्धि करना है। अपनी रिपोर्ट में महासचिव ने निवारक कूटनीति (Preventive Diplomacy),शांति स्थापित करना (Peace making) शांति बनाये रखना (Peace keeping) तथा उत्तर संघर्ष शांति निर्माण (Post Conflict Peace Building) के लिए संस्तुतियाँ की। महासचिव की रिपोर्ट पर महासभा तथा सुरक्षा परिषद में विचार विमर्श किया गया। 30 सितम्बर 2005 को महासभा ने सुरक्षा परिषद की सहमति से शान्ति निर्माण आयोग का गठन किया है।

3.8 निवारक कूटनीति (Preventive Diplomacy)

सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाए रखने के लिए कार्रवाई तब करती है जब संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उन परिस्थितियों पर ऐसी निगरानी नहीं रखी जाती जिससे संघर्ष उत्पन्न करने के लिए सम्भावना बनती है। निवारक कूटनीति द्वारा स्थिति को बिगड़ने से बचाया जा सकता है। निवारक कूटनीति का तात्पर्य उस कार्रवाई से है जो पक्षकारों के बीच विवादों से उत्पन्न होने से रोकता है। विद्यमान विवादों को संघर्षों में बदलने से रोकता है और जब संघर्ष उत्पन्न हो जाता है तब उसके विस्तार को सीमित करता है। सुरक्षा परिषद ने महासचिव की इस बात का समर्थन किया कि कुछ मामलों में तथ्य मालूम करने के कार्य से विवाद निपटाने में सहायता मिल सकती है । ऐसी कार्रवाई विवाद के प्रारम्भिक चरण में प्रभावी होती है। महासभा ने तथा मालूम करने के मिशन के लगातार प्रयोग तथा उनके विशेषज्ञों के प्रयोग का समर्थ किया तथा निष्कर्ष पर आधारित प्रारम्भिक चेतावनी भी शामिल है। इसमें निवारक सेना की तैनाती भी की

जा सकती है। अतः यदि विवादों को बढ़ने से रोक देने के उपायों को प्रयोग में लाया जाए तो संघर्ष की स्थिति बचायी जा सकती है।

शांति बनाना (Peace Keeping) - एजेंडा में शांति बनाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित संस्तुतियां हैं -

(1) एक नयी कोटि की संयुक्त राष्ट्र सेनाएं "शांति प्रवर्तन इकाइयां" (Peace enforcement Units) बनायी जाएं यह वहाँ भेजी जाय जहाँ शान्ति कायम रखने की आवश्यकता हो।

(2) किसी विवाद की मध्यस्थता वार्ता या माध्यस्थम प्रयासों में महासभा पूर्ण रूप से भाग ले।

(3) मतभेदों में शांतिपूर्ण न्याय हेतु अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय पर अधिक भरोसा किया ।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की गारण्टी देने वाले के रूप में, संयुक्त राष्ट्र की विश्वसनीयता बनाने के लिए राज्य सुरक्षा परिषद को स्थायी आधार पर सेनाएं उपलब्ध कराये।

3.9 शांति कायम रखना (Peace Keeping)

शांति कायम रखने के लिए यह संस्तुति की गई थी इस हेतु सैनिक सामग्री, उपकरण, कार्मिक (Personnel) आदि उपलब्ध रखा जाए। इसके लिए पचास मिलियन डालर का आरक्षित कोष स्थापित किया जाए। शांति कायम रखने वाले कर्मियों की बेहतर ट्रेनिंग दी जाए। उपकरणों का स्टाक स्थापित किया जाए। और वैकल्पिक रूप से सरकार कुछ उपकरण तैयार रखें जिसे आवश्यकता पड़ने पर संयुक्त राष्ट्र तुरन्त प्रयोग कर

सकें। सुरक्षा परिषद ने संयुक्त राष्ट्र शांति कायम रखने वाले सेनाओं पर आक्रमणों की निंदा की है।

ऐसी शांति कायम रखने वाली संयुक्त राष्ट्र की सेनाएं कई मामलों में भेजी गयी हैं उदाहरण के लिए U.N. Military observer group in India and Pakistan जनवरी 1949 में जम्मू एवं कश्मीर राज्य में युद्ध विराम में पर्यवेक्षण हेतु U.N. Peace Keeping force in Cyprus 1964 में 1974 में इजराइल एवं सीरिया के मध्य युद्ध विराम का पर्यवेक्षण करने के लिए अप्रैल 1991 में U.N. Iraq Kuwait observer mission, इस प्रकार की शांति कायम करने के लिए मिशन 1951 में अंगोला में, साल्वाडोर में 1992 में क्रोशिया में। 1993 में सोमालिया में 1993 में कम्बोडिया में, 1993 में युगेण्डा, खाण्डा में भेजे गये और इन्होंने सराहनीय कार्य किया है ये बल महासभा अथवा सुरक्षा परिषद द्वारा प्राधिकृत किये जाने पर भेजे गये हैं।

3.10 उत्तर संघर्ष शान्ति निर्माण (Post Conflict Peace Building)

जहाँ एक ओर निवारक कूटनीति संकट बनाने हेतु होती है वहाँ उत्तर संघर्ष, शान्ति निर्माण, संकट के दोबारा घटने से रोकने हेतु होता है। इस हेतु एजेन्डा में निम्नलिखित उपाय बताये।

(1) संकट के कारण शरणार्थियों को उनके देश लौटाया जाए तथा मानवीय अधिकारों को निपटाया जाए।

(2) ऐसी योजनाएं प्रारम्भ की जाए जिससे कि राज्य एक दूसरे के समीप आये।

(3) लड़ाई के क्षेत्र में बिछी हुई सुरंगों को हटाया जाये जिससे

कार्य कलाप किये जा सके।

महासचिव की उपरोक्त संस्तुओं पर सहमति प्रगट करते हुए सुरक्षा परिषद ने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के पश्चात, निर्माण कार्यों को करने हेतु जोड़ दिया। इससे पारस्परिक विश्वास में वृद्धि होती है और शांति के लिए आधार बनता है।

20 सितम्बर 1993 को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने भी महासचिव द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट शांति के लिए एजेंडा पारित किया।

यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त राष्ट्र द्वारा सुरक्षा परिषद के माध्यम से सामूहिक कार्यवाही करने पर वांछनीय सफलता प्राप्त नहीं हुई है, परन्तु निश्चय ही संयुक्त राष्ट्र शांति कायम करने वाली कार्यवाही (Peace Keeping Operation) ने सराहनीय उपलब्धि प्राप्त की है। अमरीका के महाशक्ति के रूप में उदय होने के फलस्वरूप, सुरक्षा परिषद ने सक्रिय रूप से भूमिका अदा करना प्रारम्भ किया है। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना पांच स्थायी सदस्यों की एकता तथा सहायता की परिकल्पना पर आधारित थी परन्तु यह यथार्थ में सम्भव न हो पाया। अब यह राष्ट्रों में सोच है कि सुरक्षा परिषद का विस्तार करके इसे अधिक प्रतिनिधितात्मक बनाया जाए। अभी इस बारे में सर्वसम्मति नहीं बनी है कि किन सदस्य राज्यों को स्थायी सदस्य बनाए जाय सुरक्षा परिषद की कुल सदस्यों की संख्या कितनी होनी चाहिए। कुछ वर्षों से यह चर्चा चल रही है कि ब्राजील, जर्मनी, जापान और भारत को सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बनाया जाए।

संयुक्त राज्य अमरीका तथा उनके मित्र राज्यों द्वारा मार्च 2003 में ईराक पर आक्रमण को कई विधि शास्त्रियों ने संयुक्तराष्ट्र का खुला उल्लंघन बताया। जस्टिस कृष्णा अय्यर ने

भी यह कहा कि यह घटना संयुक्त राष्ट्र विधिशास्त्र की लुप्त बिन्दु है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर किसी भी राज्य द्वारा एकतरफा का बल प्रयोग की स्वीकृत नहीं देता। बल प्रयोग की स्वीकृति के लिए सुरक्षा परिषद का सहमति होनी चाहिए। फिर भी संयुक्त राष्ट्र का बना रहना अति आवश्यक है क्योंकि विश्व के सामने अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शान्ति के अतिरिक्त अब नए अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियां आई हैं।आतंकवाद, गरीबी, एड्स, पर्यावरणक्षति, तथा अन्तर्राष्ट्रीय अपराध। ये अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के लिए अन्तर्राष्ट्रीय हलों की आवश्यकता है आज संयुक्त राष्ट्र के विकल्प में कोई भी संगठन नहीं है। जो इन समस्याओं से निपटे अतः मानवेता के लिए खतरों को निपटने के लिए केवल संयुक्त राष्ट्र ही एक मात्र विश्व संगठन हैं। महासचिव कोफी अन्नान ने अपनी रिपोर्ट In Larger freedom (U.N. Cronicle Aug. 2005) में ठीक ही कहा है हम आज उस विश्व में रह रहे हैं जहाँ कई चुनौतियाँ है, कई खतरे जो एक देश भले ही कितना भी शक्तिशाली हो निपट नहीं सकता। आवश्यकता इस बात की है कि हम एक जुट कर कार्य करें। जिससे इन खतरों को रोका जा सकता है। भले ही वह आतंकवाद या परमाणु शक्ति या पर्यावरण क्षति हो अथवा गरीबी हो। आज सभी राज्यों को संयुक्तराष्ट्र में तत्वाधान में मिलकर हर चुनौती को सामूहिक करना है।

3.11 सारांश

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से पूर्व राष्ट्र संघ की प्रसंविदा के प्रावधानों के अन्तर्गत सदस्य राज्य को युद्ध करने का अधिकार विशिष्ट मामलों में दिया गया था। इस दशा में तीसरे

राज्य युद्ध में अपने को अलग रख सकते थे और तटस्थता के परम्परागत तरीके से बनाये रखते थे। परन्तु संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के बाद चार्टर द्वारा तटस्थता की पुरानी विधि को बदल दिया है।चार्टर में युद्ध की अवधारणा का परित्याग कर दिया है। अब यदि चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद किसी सदस्य के विरूद्ध सामूहिक कार्यवाही करती है तो अन्य सदस्यों का यह विधिक दायित्व है कि ऐसी कार्यवाही में सहायता दें। ऐसी स्थिति में कोई सदस्य तटस्थ नहीं रह सकता। अतः कुछ विधिशास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया है कि चार्टर ने तटस्थता की विधि को समाप्त कर दिया है। परन्तु ओपेनहाइम तथा स्टार्क ने यह मत प्रकट किया है कि तटस्थता की विधि का चार्टर द्वारा पूर्णतया अन्त नहीं किया है। जब सुरक्षा परिषद किसी देश के विरूद्ध सामूहिक कार्यवाही करती है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह सभी देशों से सहायता के लिए कहे। अतः वर्तमान तटस्थता की विधि को सशर्त या साक्षेप तटस्थता कह सकते हैं। उन मामलों में भी जहाँ स्थायी सदस्य द्वारा निषेधाधिकार का प्रयोग किया गया है और सामूहिक कार्यवाही दोषी देश के खिलाफ नहीं की जा सकती सदस्य अपनी तटस्थता बनाये रख सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा विश्वशांति को बनाये रखने में काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। चार्टर के अन्तर्गत शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा और प्रवर्तन कार्यवाही कर कई मामलों को निपटाने का प्रयास किया है। जहाँ सुरक्षा परिषद निषेधाधिकार के कारण वांछित कार्यवाही करने में सफल नहीं हुयी है वहाँ महासभा द्वारा शांति के लिये संगठित होने के संकल्प के अधीन सामूहिक उपायों द्वारा कार्यवाही की है। महासचिव द्वारा अपनायी गयी निवारक कूटनीति से पक्षकारों के बीच विवादों को रोका गया है। उत्तर

संघर्ष, शान्ति निर्माण, संकट के दोबारा घटने से रोकने हेतु भी महासचिव का योगदान रहा है।

आज विश्व के सामने अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा एवं शान्ति के अतिरिक्त अब नई चुनौतियों आई हैं आतंकवाद, गरीबी, एड्स, पर्यावरण क्षति, अन्तर्राष्ट्रीय अपराध आदि जिनसे निपटने के लिये संयुक्त राष्ट्र के विकल्प में अन्य कोई संगठन नहीं है। अतः सभी राज्यों को संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में मिलकर इन चुनौतियों को सामूहिक प्रयास से सामना करना है।

3.12 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

1. J.G. Starke - "Introduction to International Law."
2.. Oppenheim - International Law" Vol. I.
3. Harris - "Cases and Materials on International Law."
4. Brownlie - "Principles of Public International Law."
5. K.C. Joshi - "International Law and Human Rights."
6. डा. एच. ओ. अग्रवाल - ''अन्तर्राष्ट्रीय विधि''।
7. Paras Diwan : Human Rights and the Law.

3.13 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. फैन्विक के अनुसार राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा ने तटस्थता की पुरानी विधि का अन्त कर दिया। तटस्थता की अवधारणा को देखते हुए स्पष्ट कीजिए।
2. संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत तटस्थता के सम्बन्ध में क्या परिवर्तन हुआ है? व्याख्या कीजिए।

3. विश्वशांति के संदर्भ में महासभा की क्या भूमिका रही है?
4. सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखने में कहां तक सफल रही है? टिप्पणी कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विश्वशांति के सन्दर्भ में महासचिव की भूमिका बताइये?
2. निवास कूटनीति क्या है?
3. ब्रयाण्ड कैलाग समझौता का क्या महत्व है?
4. मिलिट्री स्टाफ कमेटी के बारे में चर्चा कीजिए।
5. वीटो शक्ति के बारे में आपके क्या विचार हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. "शान्ति के लिए एक होने का संकल्प" पारित किया गया था -

   (अ) 1950 में (ब) 1945 में

   (स) 1948 में (द) 1971 में।
2. संयुक्त राष्ट्र के किस अध्याय में विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे के लिए प्रावधान किया गया है -

   (अ) 5 (ब) 6 (स) 7 (द) 10
3. पेरिस संधि पर किस वर्ष सहमति हुई है -

   (अ) 1928 (ब) 1939 (स) 1945

   (द) 1950
4. संयुक्त राष्ट्र चार्टर बनने के बाद -

   (अ) तटस्थता समाप्त हो गई है।

   (ब) तटस्थता हो सकती है।

   (स) तटस्थ रहना राष्ट्र के विवेक पर है।

(द) इनमें से कोई नहीं।

5. सुरक्षा परिषद द्वारा प्रवर्तन कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र के किस अध्याय में उपबन्धित है -

(अ) 6 (ब) 7 (स) 8 (द) 9

3.14 प्रश्नोत्तर

1. (अ) 2. (ब) 3. (अ)

4. (ब) 5. (ब)